भूमिका

(१)

ब्रह्मास्मीत्यादिवाक्यं त्वमसि तदिति वा वाक्यजातं प्रमाणं ।
तद्धनानेति वाक्यं कथयति जगतो ब्रह्मणोऽनन्यरूपम् ॥
एवं येऽज्ञानदोषादृषिमुनि वचने सर्वथा मुग्धाः ।
तेषां मोहापनोदे निगमपथयुतं ह्यार्य्यभाष्यं मदीयम् ॥

(२)

आत्मैवाभूद्यदा सर्वं, मिथ्यादृश्यप्रणाशतः ।
तत्केन कं विजानीयात्, केन को दृश्यते तदा ॥

(३)

तत्त्वमस्यादिभिर्वाक्यैर्ब्रह्माऽद्वैतं विवक्षितं ।
शाङ्करंमतमादाय प्रवदन्ति मनीषिणः ॥

(४)

केचिच्च युक्तिभिः प्राहुर्मिथ्यात्वं शुक्तिरूप्यंवत् ।
वेदोपनिषदां तत्वं मिथ्यात्वेन समञ्जसम् ॥

(५)

अर्थाभासं समाश्रित्य वाक्याभासं तथैव च ।
कथयन्ति हि ते सर्वे महामोह विमोहिताः ॥

(६)

एतेषां तत्वबोधाय विज्ञाय श्रौतमाशयं ।
छान्दोग्याद्यार्य्यभाष्यं तु मुनिनेदं विनिर्मितं ॥

दोहा

अस्ति भाति प्रिय सिन्धु में नाम रूप संसार ।
मरुमरीचिका सम नहीं याको करो विचार ॥

मायावादी "नेहनानास्तिकिञ्चन" बृहदा० ४ । ४ । १६ इस वाक्य पर निर्भर करके यह कथन करते हैं कि इस सम्पूर्ण संसार की तीनो कालों में सत्ता नहीं अर्थात् शशशृङ्गादिकों के समान इसका अत्यन्ताभाव है, सो ठीक नहीं, क्योंकि जिस पदार्थ का जहां अत्यन्ताभाव होता है वह पदार्थ वहां तीनो कालों में नहीं होता और वहां न होने से ही उसका अत्यन्ताभाव कहा जाता है, या यों कहो कि "अनादिरनन्तोऽभावोऽत्यन्ताभावः"=अनादि तथा अनन्त अभाव हो उसका नाम "अत्यन्ताभाव" है, यदि संसार का तीनो कालों में अत्यन्ताभाव होता तो इस प्रपञ्च की कदापि उपलब्धि न होती परन्तु होती है और इस उपलब्धि को मायावादी भी मानते हैं पर वह इस दोष का परिहार इस प्रकार करते हैं कि उक्त बृहदारण्यक वाक्य परमार्थरूप से जगत् का ब्रह्म में अभाव कथन करता है अर्थात् यह जगत् तीनो कालों में ब्रह्म के समान सद्रूप नहीं, और जो तीनो कालों में नाश को प्राप्त न हो उसको परमार्थ-रूप से सत् कहते हैं, सत् तथा त्रिकालाबाध्य यह दोनों एकार्थवाची शब्द हैं, यद्यपि वैदिकमत में प्रकृति भी नित्य कही जाती है, क्योंकि उसका भी नाश कभी नहीं होता केवल स्वरूप का परिवर्तन होजाता है तथापि उसको कूटस्थ नित्य नहीं कहसक्ते, कूटस्थ नित्य केवल चेतन ही होता है जड़ नहीं, इस प्रकार परिणामी नित्य तथा कूटस्थ नित्य भेद से नित्य दो प्रकार का माना गया है अस्तु, यहां प्रकार भेद केवल शास्त्र की प्रक्रिया के बोधनार्थ लिखागया, प्रकृत यह है कि जिसका ध्वंस न हो वह "नित्य" कहलाता है, इस लक्षण में अतिव्याप्तिरूप यह दोष आता है कि ध्वंस का ध्वंस कभी नहीं होता, क्योंकि जब घट फूटकर उसका प्रध्वंसाभाव होजाता है उस ध्वंस का नाश शास्त्रकार नहीं मानते, इसलिये उक्त लक्षण को दोषरहित करने के लिये यह लक्षण करना चाहिये कि "ध्वंसभिन्नत्वेसतिध्वंसाऽप्रतियोगित्वं नित्यत्वम्"=जो पदार्थ स्वयं ध्वंसरूप न हो और न ध्वंस का प्रतियोगी हो उसको "नित्य" कहते हैं, यहां अभाव वाले पदार्थ का नाम "प्रतियोगी" है, जैसाकि प्रकृत में घट अपने प्रध्वंसाऽभाव का प्रतियोगी है, सो जो इस प्रकार अपने

अभाव का प्रतियोगी न हो वह "नित्य" कहाता है, यह लक्षण संसार में न घट सकने से संसार परमार्थरूप नहीं किन्तु प्रातिभासिक है अर्थात् रज्जु में सर्प तथा शुक्ति में रजत के समान प्रतीतिकाल में होने से मिथ्या है यह उक्त उपनिषद्वाक्य का तात्पर्य्य जानना चाहिये ॥

मायावादियों का यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि संसार का परमार्थरूपसे ब्रह्म में होना किसी को भी अभिमत नहीं किन्तु सब शास्त्रकार यह मानते हैं कि संसार तीनों कालों में नित्य नहीं, इसी भाव को "सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्" ऋग्०८।८।४८। २=धाता=परमात्मा ने सूर्य्य तथा चन्द्रमा को पूर्वसृष्टि के समान बनाया, इत्यादि मंत्रों में वर्णन किया है कि सूर्य्य चन्द्रमारूप जगत् नित्य नहीं, इसलिये परमार्थरूप से जगत् का ब्रह्म में अभाव कथन करना सिद्धसाधन है, अतएव उक्त वाक्य का यह अर्थ कदापि नहीं ॥

और जो मायावादी सब पदार्थों का ब्रह्म में अत्यन्ताभाव मानते हैं, यह इसलिये ठीक नहीं कि जब महाप्रलय होता है तब सृष्टि का प्रध्वंसाभाव होजाता है अर्थात् यह सम्पूर्ण स्थूल जगत् उस समय अपने कारणरूप प्रकृति में लय होजाने से इसका प्रध्वंसाभाव कहाजाता है, वास्तव में बात यह है कि जो सादि तथा अनन्त हो उसको "प्रध्वंसाभाव" कहते हैं, या यों कहो कि सृष्टि के प्रलय समय यह अभाव उत्पन्न होने से सादि और नाश का नाश न होने से अनन्त है, इस प्रकार सृष्टि अनित्य ठहरती है मिथ्या नहीं, इससे सिद्ध है कि "नेहनानास्ति किञ्चन" वाक्य को संसार के मिथ्या होने में लगाना ठीक नहीं ॥

और युक्ति यह है कि जो पदार्थ इन्द्रियादिकों के दोष से प्रतीत हो उसको "मिथ्या" कहते हैं, जैसाकि मरुभूमि में जल अथवा रज्जु में सर्प का भान होता है वास्तव में वह पदार्थ वहां नहीं होता, यदि संसार भी ऐसा ही होता तो उसका ज्ञान से अवश्य बाध होजाता परन्तु नहीं होता, हां कर्म से इसका बाध देखा जाता है, जैसाकि सच्चे सर्प को जब तक घर से बाहर न फेंक दियाजाय अथवा लाठी से न मार दिया जाय तबतक उसकी निवृत्ति नहीं होसक्ती, एवं जब जीव के प्रारब्धकर्म भोगद्वारा क्षय होजाते हैं तब उसके शरीर का नाश होने से संसार भी

कर्मों द्वारा नाश को प्राप्त कहा जाता है, इस प्रकार सृष्टि के उत्पत्ति प्रलय ईश्वर की कृति से होते हैं किसी भ्रम से नहीं, एवं "नेति नेति" बृहदा० ३।९।२६ इस वाक्य का तात्पर्य्य मिथ्यात्व में नहीं किन्तु ईश्वर के सजातीय भेद के निषेध में तात्पर्य्य है कि अग्न्यादि जड़ देवों से परमात्मा सर्वथा भिन्न है अर्थात् उक्त पदार्थ कदापि उसकी तुलना नहीं करसक्ते, इस वाक्य से पूर्व यह प्रकरण है कि हे याज्ञवल्क्य ! यह दिशायें किसमें प्रतिष्ठित हैं ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि परमात्मा में, भला इस स्थल में संसार के मिथ्या होने का क्या प्रकरण, इसी प्रकार यह लोग "न तत्र रथा न रथ योगा" बृहदा० ४।३।१० इस वाक्य से भी संसार को मिथ्या सिद्ध करते हैं परन्तु यह वाक्य स्वप्नावस्था का वर्णन करता है संसार के मिथ्या होने का नहीं, यदि उक्त वाक्य का तात्पर्य्य संसार के मिथ्या सिद्ध करने में होता तो "स्वप्न व्यवहारस्यैव प्राक् प्रतिबोधात्" शं० भा० २।१।१४=जाग्रत् में आने से प्रथम स्वप्नव्यवहार के समान यह संसार है, इस प्रकार उपनिषत्कार भी स्वप्न का दृष्टान्त देकर संसार को मिथ्या सिद्ध करते परन्तु उपनिषदों के किसी स्थल में भी स्वप्न का दृष्टान्त देकर संसार को मिथ्या सिद्ध नहीं किया गया और यह हो ही कैसे सक्ता है, क्योंकि स्वप्नज्ञान केवल जागरित पदार्थों का अन्यथा ज्ञान है, इसलिये इस वाक्य से संसार मिथ्या सिद्ध नहीं होता, क्योंकि इनके मत में मिथ्या वह कहलाता है जो अनिर्वचनीय=सत् असत् से सर्वथा विलक्षण हो, जिसका निर्वचन न होसके उसको यह लोग अनिर्वचनीय नहीं मानते किन्तु एक प्रकार के अनादि सान्त भाव पदार्थ को अनिर्वचनीय मानते हैं ॥

और अनादिसान्त प्रागभाव भी है अर्थात् जहां अभी कार्य्य उत्पन्न नहीं हुआ उस कारण में जो कार्य्य का अभाव उसका नाम "प्रागभाव" है, इसीलिये इन्होंने माया के लक्षण में भाव पद का निवेश किया है कि जो अनादि, सान्त तथा भाव हो उसको यह माया, अज्ञान तथा अविद्या नाम से कथन करते तथा इसी को संसार का उपादान कारण मानते हैं, यही पदार्थ इनके मत में अनिर्वचनीय है, और जब अनिर्वचनीय प्रपंच का

ब्रह्म में अभाव हुआ तो वह किस नाम से कहा जायगा, इस विषय में इन का यह मन्तव्य है कि कल्पित प्रपंच की निवृत्ति ब्रह्म में ध्वंसरूप है, या यों कहो कि प्रपञ्च का ब्रह्म में प्रध्वंसाभाव है, ऐसा मानने से यह दोष आता है कि प्रध्वंसाभाव तो अनन्त होता है अर्थात् प्रध्वंसाभाव का नाश नहीं होता, एवं एक ब्रह्म और दूसरा प्रध्वंसाभाव होने से इनके मत में यह अनिष्टापत्ति हुई कि दो पदार्थ सिद्ध होगये और ऐसा होने से यह द्वैतवादरूप दोष को अपने मत से निवृत्त नहीं करसकते, इसका उत्तर इनके मत में यह है कि यास्कमुनि निरुक्तकार ने (१) जन्म (२) सत्ता (३) वृद्धि (४) विपरिणाम (५) अपक्षय (६) विनाश, यह षट् अनिर्वचनीय पदार्थ के विकार माने हैं और यह सभी जन्मादिकों के समान क्षणिक हैं, जिस प्रकार प्रथम क्षण में "जायते" यह बुद्धि और द्वितीय क्षण में "जातः" यह बुद्धि होती है इसी प्रकार घट का प्रध्वंसाभाव भी क्षणिक है, क्योंकि प्रथम क्षण में "नश्यति" = घट नाश को प्राप्त होता है, यह बुद्धि और द्वितीय क्षण में "विनष्टो घटः" = घट नाश को प्राप्त होगया, यह प्रतीति होती है, इससे सिद्ध है कि क्षणिक होने से प्रध्वंसाभाव भी विनाशी है, इनका यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि जैसे "प्रागभाव नाश को प्राप्त होता है" यह वाक्य घट की उत्पत्ति के अभिप्राय से प्रागभाव में प्रयुक्त है इसी प्रकार "विनष्टो घटः" यह घट के अतीत काल के अभिप्राय से प्रध्वंस के क्षणिक होने में प्रतीत होता है वास्तव में प्रध्वंसाभाव में क्षणिक व्यवहार नहीं होता, क्योंकि यदि अभाव में क्षणिक व्यवहार होता तो अभाव को अभाव न कहा जाता, इसी अभिप्राय से महर्षि कणाद ने कथन किया है कि "नित्येष्वभावादनित्येषुभावात्कारणे कालाख्येति" वैशे० २ । २ । ९ = अनित्य पदार्थों में ही कालकृत क्षणिकादि व्यवहार होते हैं नित्यों में नहीं, और दोष यह है कि ध्वंस के नाश मानने से फिर संसार के उन्मज्जन की आपत्ति होगी ? मायावादियों ने इसका यह उत्तर दिया है कि जिस प्रकार प्रागभावाभाव घट के नाश से फिर प्रागभाव का उन्मज्जन नहीं होता इसी प्रकार प्रध्वंस के नाश से भी फिर प्रपंच का उन्मज्जन न होगा, उनका यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि घट प्रागभाव का अभाव नहीं किन्तु प्रागभाव

का अभाव ध्वंसरूप है जो अनन्त है फिर घटध्वंस से अद्वैत की सिद्धि कैसे ? वास्तव में तत्व यह है कि अद्वैत की सिद्धि के लिये इनको ऐसी २ कई एक कलिष्ट कल्पनायें करनी पड़ती हैं, कहीं ध्वंस मानना पड़ता है कहीं ध्वंस को क्षणिक मानकर एक अत्यन्ताभाव मानना पड़ता है और कहीं उस अत्यन्ताभाव को माया का कार्य्य होने से विनाशी मानना पड़ता है, जो युक्ति तथा अनुभव से सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि अत्यन्ताभाव उस स्थल में होता है जहां प्रतियोगी की तीनों काल में सत्ता नहीं होती, इसी अभिप्राय से कुमारिलभट्ट ने लिखा है कि:—

शिरसोऽवयवा निम्ना वृद्धिकाठिन्यवर्जिताः ।
शशशृंगादिरूपेण सोऽत्यन्ताऽभाव उच्यते ॥

अर्थ—शशशृङ्गादिरूप से जो पदार्थ का अभाव हो उसका नाम "अत्यन्ताभाव" है, और यह संसार इनके मत में शशशृङ्गादिकों के समान तुच्छ नहीं किन्तु भावरूप है फिर प्रपञ्च का ब्रह्म में अत्यन्ताभाव कैसे ? और दोष इनके मत में यह है कि जब यह अत्यन्ताभाव को अनादि अनन्त मानते हैं तो फिर एक ब्रह्म की सिद्धि कैसे ? यदि यह कहें कि अत्यन्ताभाव ब्रह्मरूप है तो भावा भाव की एकता नहीं होसक्ती, इससे सिद्ध है कि इनका ब्रह्म भी अत्यन्ताभावरूप ही है, इत्यादि युक्तियों से इनकी उक्त प्रतिज्ञा कदापि सिद्ध नहीं होती कि अस्ति=सद्रूप, भाति=प्रकाशरूप तथा प्रिय=आनन्दरूप ब्रह्म सच्चिदानन्द में संसार भ्रममात्र और ब्रह्म ही सत्यरूप है, इनकी इस प्रतिज्ञा का खण्डन हमने इस प्रकार किया है कि "मरुमरीचिका सम नहीं"=संसार मरुभूमि के जलसमान नहीं किन्तु अपनी अवस्था तथा अपने देशकाल में सत्य है ।

भाव यह है कि यह संसार अपनी अवस्था भोगकर नाश को प्राप्त होजाता है, इसको शास्त्रीय परिभाषा में अनित्य कहते हैं, इस प्रकार संसार के अनित्य होने से इसका प्रध्वंसाभाव होता है अत्यन्ताभाव नहीं ।

और जो मायावादी "तत्त्वमसि" वाक्य से यह अर्थ सिद्ध करते हैं कि "वह ब्रह्म तू है" अर्थात् छान्दोग्य के इस वाक्य से जो यह जीव ब्रह्म की एकता सिद्ध करते हैं सो इसलिये ठीक नहीं कि इस प्रपाठक में

उक्त वाक्य से पूर्व कहीं भी ब्रह्म का प्रकरण नहीं आया, यह सम्पूर्ण वाक्य इस प्रकार है कि "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" छान्दो० ६ । ८ । ७=इसी आत्मा का यह सब चमत्कार है और उसी के अपहतपाप्मादि धर्मों को धारण करने से "तू वह है" यह अर्थ उक्त वाक्य का है अथवा उक्त वाक्य में जो सूक्ष्मरूप चेतन कथन किया गया है "वह तू है" इस प्रकार चेतन के साथ सामानाधिकरण्य के अभिप्राय से उक्त वाक्य का कथन है जीव ब्रह्म की एकता के अभिप्राय से नहीं ।

और जो उक्त वाक्य के यह अर्थ करते हैं कि इस वाक्य में जीव के ब्रह्मनिष्ठ होने के अभिप्राय से "तत्त्वमसि" कथन किया गया है, वह इसलिये ठीक नहीं कि इसी प्रपाठक के ११ वें खण्ड में यह वर्णन किया है कि:—

जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति । स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो ॥

अर्थ-यह शरीर जीवात्मा से रहित होने पर ही मृतक कहाजाता है जीव नहीं मरता, यह सब इसी आत्मा का भाव है और हे श्वेतकेतु वह आत्मा तू है, इस उपसंहार वाक्य से तत्त्वमसि के अर्थ ब्रह्मनिष्ठ होना नहीं बनते, क्योंकि इस वाक्य में जीव के साथ सामानाधिकरण्य वर्णन किया गया है ब्रह्म के साथ नहीं ।

और जो स्वामी रामानुजाचार्य्य का कथन है कि "तत्" पद पूर्व प्रकृत ब्रह्म का वाची और "त्वं" पद चिदचिदशरीरविशिष्ट ब्रह्म का वाची है, या यों कहो कि जीव तथा जड़ के साथ मिला हुआ जो ब्रह्म उसका वाचक उक्त पद है, इस प्रकार दोनों पद एक ब्रह्म के वाचक होने से इनके सामानाधिकरण्य में कोई दोष नहीं और अद्वैतवाद के अर्थ इसलिये ठीक नहीं कि जब उनके मत में एक ही आत्मा है तो फिर "तत्त्वमसि" वाक्य ने किसके अभेद का उपदेश किया, और भेदवादियों के मत में यह अभेद बोधक वाक्य इसलिये नहीं घटसक्ता कि उनके मत में जब जीव ईश्वर का

भेद है तो सामानाधिकरण्य कैसे ? एवं उक्त आचार्य्य ने भेद, अभेद भेदाभेद सब मतों में दोष देकर स्वमत विशिष्टाद्वैत सिद्ध किया है, वह इसलिये ठीक नहीं कि जो दोष अद्वैतवादियों के मत में आते हैं, वही इनके मत में भी आते हैं, क्योंकि यह भी नाम से अभेदवादी हैं जो तीन पदार्थों को स्वरूप से अनादि तथा परस्पर भिन्न कथन करके फिर भी विशिष्टाद्वैत नाम रखते हैं, इनके मत का विस्तार-पूर्वक खण्डन " **वेदान्तार्य्यभाष्यभूमिका** " द्वितीयावृत्ति में कियागया है विशेषाभिलाषी वहां देखलें, प्रकृत यह है कि "तत्त्वमसि" के अर्थ जीव ब्रह्म को भिन्न २ मानने वालों के मत में ही ठीक बनसक्ते हैं, जैसाकि ऊपर वर्णन कर आये हैं कि हे जीव ! तू उस अन्तर्यामीरूप स्वामी वाला है, एवं " **अयमात्मा ब्रह्म** " बृहदा० २ । ५ । १९ के अर्थ भी भेदवाद में ही सङ्गत होते है कि "यह आत्मा ब्रह्म है" ऐसा समाधिस्थ योगी ही अनुभव करता है अन्य नहीं, इसी प्रकार "**प्रज्ञानं ब्रह्म** " ऐत० ५ ।३= ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है, यह वाक्य भी द्वैतवाद में ही संगत होता है, अब रहा "**अहं ब्रह्मास्मि**" बृहदा० १ । ४ । १०= मैं ब्रह्म हूं, यह जीव समाधि द्वारा ब्रह्मस्थ होकर कथन करता है, वास्तव में जीव को ब्रह्मबोधन करना इस वाक्य का तात्पर्य्य नहीं, क्योंकि यह वाक्य जिस प्रकरण में आया है वहां साधर्म्ययुक्त निकटस्थ होने के अभिप्राय से उक्त कथन किया है ।

और जो हमने कई एक स्थलों में इस वाक्य के यह अर्थ किये हैं कि यह ब्रह्म के स्व अनुभव विषयक कथन है, यह हमारा लेख एकदेशी समझना चाहिये अर्थात् यह लेख आचार्य्य के मन्तव्य को प्रकारान्तर से सिद्ध करने के अभिप्राय से है, ठीक अर्थ इस वाक्य के यही प्रतीत होते हैं कि जब जीव ब्रह्म के अपहतपाप्मादि गुणों के समान अपने गुण बना लेता है तब ब्रह्म के निकटस्थ होने से अपने आपको ब्रह्मरूप से कथन करता है, इसी प्रकार " तत्त्वमसि " के अर्थ भी इसी भाव से जीव के किये गये हैं कि हे श्वेतकेतु ! उक्त भावों वाला होने से " तू वह है " अर्थात् तदन्तर्यामी वाला तू है, और फिर नववार जीव के स्वरूप को अविनाशीरूप से बोधन करने के लिये बार २ कथन किया गया है,

इस प्रकार हमारे अर्थों का वैदिकधर्म के आचार्य्य से विरोध नहीं, शेष रहा "अयमात्मा ब्रह्म" बृहदा० २। ४। १९ इसमें "आत्मा" शब्द ब्रह्म के लिये आया है। समाधि अवस्था में उसका साक्षात्कार करके जीव ऐसा कथन करता है, चतुर्थ महावाक्य "प्रज्ञानं ब्रह्म" ऐत० ५।३ है, यह वाक्य ब्रह्म को ज्ञानस्वरूप कथन करता है, जीव को ब्रह्म नहीं, एवं उक्त चारो वाक्य जिनको मायावादी वेद वाक्य कहते हैं, इनसे जीव ब्रह्म के एकत्व की सिद्धि कदापि नहीं होसक्ती, वेदवाक्य तथा महावाक्य नाम इन्होंने अपनी ओर से रखलिया है वास्तव में यह उपनिषदों के वाक्य हैं, अन्य किसी ऋषि मुनि ने इनको *महावाक्य नहीं कहा किन्तु अर्थाभास द्वारा* स्वमत के पोषक समझकर एकमात्र मायावादियों ने ही इनको महावाक्य की पदवी दी है अस्तु, प्रकृत यह है कि उक्त वाक्यों से इनके अद्वैतवाद की पुष्टि नहीं होती, क्योंकि उपनिषद् जीव, ईश्वर तथा प्रकृति के भेद को स्पष्टरूप से वर्णन करते हैं और पुण्य पाप की व्यवस्था के लिये इनको भी यह भेद मानना पड़ता है, इसी अभिप्राय से श्री स्वा० शङ्कराचार्य्यजी ने "प्रयोजनवत्त्वाधिकरण" में जीव तथा जीवों के कर्मों को अनादि माना है, इतना ही नहीं किन्तु उक्त व्यवस्था के लिये इनके अनुयायी षट् पदार्थों को अनादि मानते हैं, जैसाकि (१) शुद्धचेतन (२) जीव (३) ईश्वर (४) अविद्या (५) अविद्या चेतन का परस्पर सम्बन्ध (६) इन अनादियों का परस्पर भेद, प्रथम तो जीव, ईश्वर तथा प्रकृति इन तीनों से पृथक् उक्त षट् पदार्थों का अनादित्व सिद्ध नहीं होसकता, क्योंकि शुद्ध ब्रह्म तथा अविद्या के सम्बन्ध से ही इनके मत में ईश्वर जीव बनते हैं और जब शुद्ध चेतन मायोपहित होता है, या यों कहो कि जब माया के साथ मिलता है तब वह ईश्वर कहलाता है और जब उक्त चेतन अविद्योपहित होता है तब जीव कहलाता है, एवं उक्त दोनों का स्वरूप मायिक=माया से बना हुआ होने के कारण दोनों अनादि न रहे, शेष रही अविद्या तथा अविद्या का सम्बन्ध, यह दोनों इसलिये अनादि नहीं होसक्ते कि अविद्या, अज्ञान तथा माया यह इनके मत में एकही पदार्थ के नाम हैं और वह अज्ञानरूप पदार्थ ब्रह्माश्रित होने के कारण अनादि नहीं कहे जासक्ते, क्योंकि ब्रह्म सदैव ज्ञानस्वरूप है, इसलिये अविद्या तथा अविद्या

का सम्बन्ध यह दोनों अनादि न रहे, और इन सब का खण्डन होने से इनका भेद भी अनादि न रहा, इनके मत में केवल एकमात्र ब्रह्म ही अनादि अनन्त सिद्ध होता है और अन्य पांच सादि तथा सान्त सिद्ध होते हैं, इस प्रकार एकमात्र ब्रह्म के अनादि मानने से संसार में ऊंच नीच रूप वैषम्य की कुछ भी व्यवस्था नहीं होसक्ती, इस दोष की निवृत्ति के लिये महर्षि व्यास ने यह कथन किया है कि " न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात् " ब्र० सू० १।२।१०=प्रथम एकमात्र ब्रह्म ही ब्रह्म था, इससे सिद्ध है कि कर्म प्रथम न थे, इसका उत्तर ऋषि ने यह दिया है कि यह ठीक नहीं, क्योंकि कर्म प्रवाहरूप से अनादि हैं, इस स्थल से स्वा० शङ्कराचार्य्य ने भी जीव को स्वरूप से अनादि माना है, इस प्रकार स्वरूप से अनादि केवल प्रकृति, जीव तथा ब्रह्म यह तीन पदार्थ ही ठहरते हैं और इन के माने हुए अविद्या, अविद्या का सम्बन्ध, मायोपहित ईश्वर और इनका भेद यह चारो अनादि सिद्ध नहीं होसक्ते ॥

और जो इन्होंने उक्त षट् अनादियों का इस प्रकार समर्थन किया है कि मायिक के अर्थ मायाकृत के नहीं किन्तु माया के अधीन स्थिति वाले के हैं, इस प्रकार उक्त षट् पदार्थ स्वरूप से अनादि सिद्ध होसक्ते हैं ? इन का यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि यदि माया के अधीन जीव, ईश्वर, मायिक सम्बन्ध तथा भेद की स्थिति मानीजाय तो फिर भी एक माया तथा दूसरा ब्रह्म यह दो ही अनादि ठहरते हैं और इनके मत में माया का ब्रह्मविषयक अत्यन्ताभाव है, जैसाकि हम पूर्व दर्शा आये हैं, इस लिये माया अनादि नहीं ठहरती, क्योंकि अभाव का प्रतियोगी अनादि भाव मानाजाय तो प्रध्वंसाभाव की सिद्धि होती है अत्यन्ताभाव की कदापि नहीं, यह विषय सूक्ष्म होने से यहां इसका अधिक विस्तार नहीं कियाजाता, यहां केवल इतना ही दर्शाना उपयुक्त है कि इनके उक्त अर्थ की सिद्धि उपनिषदों से नहीं होती, क्योंकि उपनिषदों का तात्पर्य्य संसार के मिथ्या होने तथा अद्वैतवाद में नहीं किन्तु सत्कर्म करके ब्रह्मलोक की प्राप्तिरूप मुक्त पद को प्राप्त होने में है, जैसाकि उपक्रम तथा उपसंहार द्वारा पाया जाता है अर्थात् छान्दोग्य के प्रारम्भ में जो उपासनाओं का वर्णन आया है वह प्राचीन काल में वैदिक उपासनायें थीं किसी प्रतीक वा किसी देवता-

विशेष की उपासना का विधान इस उपनिषद् में अंशमात्र भी नहीं, जैसाकि भाष्य के देखने से स्पष्ट प्रतीत होगा, यही नहीं किन्तु अनेक शिक्षाओं का वर्णन इन उपनिषदों में आया है जिनको जिज्ञासु स्वयं स्वाध्याय द्वारा ही जानसक्ते हैं. उनमें से कतिपय शिक्षाओं को हम यहां दर्शाते हैं।

छान्दोग्य प्रथम प्रपाठक चतुर्थ खण्ड में यह आख्यायिका है कि एक समय मृत्यु से भयभीत होकर देवों ने ऋगादि वेदों का आश्रय लिया, जब वहां भी उन्हें मृत्यु ने आपकड़ा तब उन्होंने वेदप्रतिपाद्य स्वतःप्रकाश ब्रह्म का आश्रयण किया फिर उक्त ब्रह्म पद को लाभ करते ही देव सर्वथा निर्भय होगये, कथा बहुत विस्तारपूर्वक है पर सार यह है कि अभय पद का कारण एकमात्र ब्रह्मप्राप्ति ही है जिसको मुख्य उद्देश्य समझकर उपनिषद्कर्त्ता ऋषियों ने वर्णन किया है ॥

इसी प्रकार "सत्यकामजाबाल" तथा "सयुग्वारैक" इत्यादि अनेक महात्माओं के उपदेश मनोहर कथाओं द्वारा वर्णित हैं जो मनुष्य को वास्तव में सत्य के विषय में सतयुग का दृश्य दर्शाते हैं, या यों कहो कि जिनको पढ़कर पुरुष दैवीसम्पत्ति के भावों वाला होजाता है, विस्तार के भय से यहां उनका पुनरुल्लेख नहीं किया जाता पाठक आद्योपान्त पढ़कर स्वयं विचारें ॥

बृहदारण्यक में सबसे प्रसिद्ध गाथा राजा जनक की है, जब राजा जनक ने महर्षि याज्ञवल्क्य से यह कथन किया कि "**अतऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति**" = हे भगवन् ! अब आप मोक्ष का मेरे प्रति उपदेश करें, तब याज्ञवल्क्य ने यह उपदेश किया कि हे राजन् ! जिस प्रकार यह जीव स्वप्नादि अवस्थाओं में विचरता हुआ सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त होकर सब दुःखों से छूट जाता है इसी प्रकार मुक्ति में सब दुःखों से छूटकर ब्रह्म के आनन्द को भोगता है, इसीलिये यह पुरुष असङ्ग कहलाता है, इस ब्रह्मानन्दामृत को पान करके जनक फिर बोले कि हे भगवन् ! मुझको मुक्ति का और भी उपदेश करें तब मुनि ने कहा कि हे राजन् ! यह जीव स्वप्न से सुषुप्ति और सुषुप्ति से जाग्रत् को प्राप्त होकर स्वकर्मानुसार सुख दुःख भोगता हुआ प्रारब्ध कर्मों को भोगकर ज्ञान तथा प्रसंख्यान द्वारा फिर उस मुक्तिरूप परमपद को प्राप्त होता है ॥

राजा ने कहा कि भगवन् मुझको और उपदेश करें, मुनि बोले कि हे राजन् ! जिस प्रकार बड़ा मत्स्य नदीकी लहरों में दोनो किनारों पर्य्यन्त तैरता है एवं यह पुरुष जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्त्यादि अवस्था और मुक्त्यादि अवस्था रूप दोनो किनारों में अनादि काल से विचरता है परन्तु यह अभय पद को तभी प्राप्त होता है जब मुक्ति अवस्था को पालेता है अर्थात् परब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है, उस अवस्था में इसको कोई शोक मोह तथा भय नहीं रहता, यह वह परमपद है जिसको पाकर अन्य कोई प्राप्यस्थान शेष नहीं रहता, यह वह पद है जिसकी प्राप्ति के लिये जीव को मनुष्यजन्म मिलता है, यह वह पद है जिसको पाकर पुरुष सर्वथा निर्भय होजाता है, इसी अभिप्राय से मुनि ने कहा कि हे जनक ! अब तू अभय पद को प्राप्त होगया है।

यही पद उपनिषदों का मुख्य लक्ष्य है, यही पद है जो महाकाल को अकाल बना देता है अर्थात् जिसमें महाकाल का भय भी अकिञ्चित्कर होजाता है, इसी कारण प्राचीन समय में ऋषि लोग मृत्युरूप रोग की एकमात्र औषध उपनिषद् शास्त्र को ही मानते थे, क्योंकि इसके पठन पाठन करने वालों को मृत्यु नहीं सताता था, और वह औपनिषद ज्ञान के प्रभाव से इस संसाररूप महासागर में इस प्रकार विचरते थे कि

" तद्यथा महा मत्स्य उभे कूलेऽनुसञ्चरति पूर्वञ्चापरञ्चैवमेवायं पुरुष एतावुभावन्तावनुसञ्चरति स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं च "

बृहदा० ४ । ३ । १८=जैसे महामत्स्य महासागर में निर्भय होकर विचरता है इसी प्रकार यह पुरुष उक्त ज्ञान के प्रभाव से इस भवसागर में निर्भयता से विचरसक्ता है ॥

इसी अभयपद के कारण इस ब्रह्मविद्या रूप उपनिषद्देवी को स्वदेशी तथा विदेशी सब सिर झुकाते थे, इसी भाव से मैक्समूलर, पालड्यूसन तथा शौपेनहारादि सब विदेशी विद्वानों ने उक्त देवी की दिव्य शक्तियों को अनुभव करके अभय पद लाभ किया, यह औपनिषद भाव काल के निम्नलिखित प्रभाव से निर्भय बनाता है, जैसाकि:—

काल कला संग खेलत है अरु दिव्य बनावत है सब रंगा।

तुंग पहाड़ कहूं थल है मरु नीर अगाध बहे कहुं गंगा ॥
कंजप्रभा दृग हैं जग में कहुं है जरठापन ढंग कुढंगा।
नूतन रूप अनूप कहुं कहुं होय गये सब के सब भंगा ॥ १ ॥
ये सब भाव मिटें तब ही जब कोविद की नर संगति पावे।
भाष्य शरीरक आदि पढ़े कठ केन कथा मति संग मिलावे ॥
साधन योग समाधि करे यम नेम निरन्तर लक्ष्य बनावे।
ब्रह्म हि ब्रह्म चहूंदिग् देखत या विधि से पद निर्भय पावे ॥२॥

उक्त अभय पद प्राप्ति के लिये वैदिकज्ञान का भाण्डार एकमात्र "उपनिषद्शास्त्र" ही है, परन्तु इन पर प्रायः सब मतवादियों के भाष्य होने से जिज्ञासु को अभय पद प्राप्ति की तो कथा ही क्या किन्तु और भी अधिक महामोह बढ़ जाता है, इस दोष की निवृत्ति के लिये हमने "उपनिषदार्य्यभाष्य" का निर्माण किया है जिसमें उपक्रम तथा उपसंहार को मिलाकर उपनिषदों का सत्यार्थ किया गया है, इसलिये जिज्ञासुजन इसको पढ़कर उक्त अभय पद के अधिकारी बनें ॥

हरिहरक्षेत्तर प्रान्त में, "बाकरपुर" यह ग्राम।
किया प्रसिद्ध शुभकाम से, धनुषधारी के नाम ॥ १ ॥
धनुषधारी वर्मा किया ज्ञानकाण्ड परचार।
सद्व्यय कीना द्रव्य का, सत्यासत्य विचार ॥ २ ॥
वापी कूप तड़ाग पुन, मठ, मन्दिर, चटशाल।
काल पाय थिर ना रहें, यही जगत की चाल ॥ ३ ॥
उदय अस्त तक जो रहे, नित्य निधि सो जान।
ऐसा निश्चल जगत में, उपनिषदन को ज्ञान ॥ ४ ॥

आर्य्यमुनि



विषयसूची

प्रथम प्रपाठक

द्वितीय प्रपाठक

तृतीय प्रपाठक

चतुर्थ प्रपाठक

पंचम प्रपाठक

षष्ठ प्रपाठक

सप्तम प्रपाठक

अष्टम प्रपाठक



ओ३म्

अथ छान्दोग्योपनिषदार्य्यभाष्यं प्रारभ्यते

सङ्गति-ईशादि आठ उपनिषदों के अनन्तर समानाधिकरण वाक्य प्रधान सामवेदीय छान्दोग्योपनिषद् का प्रारम्भ किया जाता है अर्थात् तैत्तिरीयोपनिषद् में वर्णित "अहमन्नमहमन्नमित्यादि" वाक्यों के अर्थों को स्पष्ट करने के लिये इसका प्रारम्भ किया गया है, इसकी सङ्गति, समानाधिकरण वाक्यों के साथ भलीभांति पाई जाती है, क्योंकि इसमें "तत्त्वमस्यादि" वाक्यों का पूर्ण रीति से विचार किया गया है, अतएव उक्त उपनिषद् का प्रारम्भ करते हुए प्रथम "उद्गीथ" शब्द वाच्य ब्रह्मोपासना का वर्णन करते हैं :—

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतोमिति-
ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम् ॥ १ ॥

अर्थ—" ओ३म् " यह परमात्मा का मुख्य नाम है जो अविनाशी है, इसी को उद्गीथ=वाणी का आधार मानकर उपासीत=उपासना करे, क्योंकि इस नाम से ही परमात्मा का गायन करते हैं उसका यह उपव्याख्यान = विशेष व्याख्यान है ॥

भाष्य—"अवति रक्षतीत्योम्"=सर्वरक्षक होने से परमात्मा का नाम "ओ३म्" है, और यह मङ्गलार्थक भी है इसलिये सब वेदों के प्रारम्भ में इस का प्रयोग होता है, कई एक स्थलों में व्यापक होने के अभिप्राय से भी इसका प्रयोग किया गया है, यह ब्रह्म का मुख्य नाम है और सब उपनिषत्कार इसी की महिमा को वर्णन करते हैं, जैसाकि "एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्" कठ० २ । १७=यही आलम्बन श्रेष्ठ है, यही सर्वोत्तम है और इसी को जानकर पुरुष ब्रह्मलोक में पूजा जाता है "यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत" प्रश्न० ५ । ५=जो पुरुष " ओ३म् " इस त्रिमात्रिक अक्षर द्वारा ध्यान करता है वह तेजोमय प्रकाशस्वरूप परमात्मा को प्राप्त होता है "प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते" मुण्ड० २ । २ । ४=जिज्ञासु को उचित है कि वह प्रणवरूप धनुष को लेकर संस्कृत मन द्वारा विषयरूप प्रमाद से रहित एकाग्रचित्त होकर ब्रह्मरूप लक्ष्य का वेधन

करे और फिर ब्रह्माकारवृत्ति द्वारा अपने आपको तन्मय करदे अर्थात् ऐसा निदिध्यासन करे कि उसकी वृत्ति विजातीयप्रत्ययरहित होकर ब्रह्माकार होजाय, इसी भाव को गी० १७। २३ में इस प्रकार वर्णन किया है कि :—

ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुराः॥

अर्थ—" ओ३म् तत् सत् " इन तीन नामों से ही परमात्मा का निर्देश किया जाता है और इसी त्रिविध ब्रह्मनिर्देश से ब्राह्मणादि वर्णों, वेदों तथा यज्ञों का विधान किया गया है, इसलिये परमात्मप्राप्ति का यही एकमात्र अवलम्बन है, इत्यादि अनेक स्थलों में ओङ्कार की ही उपासना का विधान है, अतएव इस स्थल में भी ओङ्कारप्रतिपादक ब्रह्म की उद्गीथरूप से उपासना कथन कीगई है "उद्गीयतेत्युद्गीथः"=जो उच्चस्वर से गायाजाय उसका नाम "उद्गीथ" है, इस प्रकार उद्गीथ धर्म का ओङ्कारविषयक कथन कियागया है, यदि "ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत" इतना ही कथन करते तो इसमें यह दोष था कि उक्त वाक्य से केवल उद्गीथरूप शब्द की ही उपासना पाई जाती, इसकी निवृत्ति के लिये उपनिषत्कार ने ओङ्कार को अक्षर का विशेषण दिया है कि "नक्षरतीत्यक्षरम्"=जिसका नाश तथा आविर्भाव और तिरोभाव नहीं होता उसका नाम "अक्षर" है, इस प्रकार अक्षर शब्द यहां ब्रह्म का बोधक है, यदि यहां यह आशङ्का कीजाय कि उच्चस्वर से गान तो शब्द का होता है ब्रह्म का नहीं? इसका उत्तर यह है कि उपासना काल में ब्रह्म का उच्चस्वर से गान किया जाता है, यद्यपि उच्चता धर्म शब्दगत है तथापि तद्वाच्यतया उपचार से ब्रह्म को भी उद्गीथरूप से कथन किया है और इसी अभिप्राय से अक्षर ब्रह्म की उद्गीथरूप से उपासना कथन कीगई है।

कई एक लोग यह आशङ्का करते हैं कि "ओ३म्" के साथ "इति" शब्द पढ़ना इस बात को सूचित करता है कि अ, उ, म् इस वर्णत्रयात्मक ओङ्कार की उद्गीथरूप से उपासना करे? इसका उत्तर यह है कि यदि वर्णत्रयात्मक ओङ्कार ही यहां उपासना का विषय होता तो "ओमिति" इतना कथन करना ही ओङ्काररूप शब्द की उपासना को स्पष्ट सिद्ध करता था फिर अक्षर विशेषण देने की क्या आवश्यकता थी, अक्षर विशेषण इस बात को स्पष्टतया सिद्ध करता है कि "इति" शब्द ओङ्कार को लक्ष्य नहीं करता किन्तु ओङ्कारवाच्य ब्रह्म को निर्देश करता है।

और जो कई एक भाष्यकार इस वाक्य को प्रतीकोपासना विषयक लगाते हैं उनका यह अभिप्राय है कि ओङ्कार नामक उपासना इस वाक्य में कीगई है, या यों कहो कि "ओ३म्" शब्द ब्रह्म की प्रतीक है और "प्रतीक" के अर्थ यहां

अङ्ग अथवा प्रतिनिधि के हैं ? उनका यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि यदि उक्त वाक्य का अभिप्राय प्रतीकोपासना से होता तो ओङ्कार को अक्षर का विशेषण न दिया जाता, क्योंकि "ओ३म्" अक्षररूप से सर्वत्र प्रसिद्ध है फिर अक्षर विशेषण देने की क्या आवश्यकता थी, हमारे मत में तो ओङ्कार शब्द की व्यावृत्ति के लिये अक्षर विशेषण दिया गया है जिससे निराकार ब्रह्म की उपासना सिद्ध होती है किसी वर्ण अथवा प्रतीकविशेष की नहीं।

प्रतीकवादियों के मत में अन्य दोष यह भी है कि "अब्रह्मणि ब्रह्मदृष्ट्यानुसन्धानं हि प्रतीकोपासनम्" = जो ब्रह्म न हो उसका ब्रह्मदृष्टि से ध्यान करने का नाम "प्रतीकोपासना" है, प्रतीकोपासना, मूर्त्तिपूजा और साकारोपासना, यह एकार्थवाची शब्द हैं, उक्त लक्षण से स्पष्ट सिद्ध है कि एक प्रकार की मिथ्यादृष्टि का नाम प्रतीकोपासना है और इसीलिये शास्त्रकारों ने इसको अध्यास माना है जिसको मिथ्याबुद्धि भी कहते हैं, यदि "ओ३म्" इस अक्षर में उपनिषत्कार को मिथ्याबुद्धि से ब्रह्म मानना अभिप्रेत होता तो उक्त अध्यास का निषेध भी आगे किसी स्थल में अवश्य कियाजाता परन्तु इसकी निवृत्ति कहीं भी कथन नहीं की, इससे सिद्ध है कि यहां प्रतीकोपासना का कथन नहीं।

और युक्ति यह है कि "एतस्य वा अक्षरस्यप्रशासनेगार्गि सूर्य्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" बृह० ३।८।९ इत्यादि स्थलों में उपनिषत्कार ऋषियों ने परमात्मा की अक्षररूप से उपासना कथन की है किसी मूर्ति वा प्रतीक द्वारा नहीं, अतएव उद्गीथोपासना से अक्षर ब्रह्म की ही उपासना अभिप्रेत है प्रतीकोपासन नहीं, उक्त अक्षर ब्रह्म की उपासना में अन्य युक्ति उत्तर वाक्य में यह है कि "ओमिति" इस रूप से अक्षर ब्रह्म का गायन किया जाता है इसलिये भी अक्षर से तात्पर्य्य यहां ब्रह्म का है और "ओ३म्" यह तस्य = उस अक्षर ब्रह्म का उपव्याख्यान = विशेष व्याख्यान है॥

सं०—अब ओङ्कारप्रतिपाद्य ब्रह्म को सर्वोपरि कथन करते हैंः—

एषां भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपो रसोऽपामोषधयो रस ओषधीनां पुरुषो रसः पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋग्रस ऋचः साम रसः साम्न उद्गीथो रसः ॥ २ ॥

अर्थ—इन तत्वों का पृथिवी रस = सार है, पृथिवी का जल सार है, जलों का ओषधियें सार है, ओषधियों का पुरुष सार है, पुरुष का वाणी सार है, वाणी का ऋग्वेद सार है, ऋग्वेद का सामवेद सार है और सामवेद का उद्गीथ सार है॥

भाष्य-आकाश, वायु, तेज और जल इन चार तत्वों का पृथिवी रस है अर्थात् यह चारो पृथिवी में पाये जाते हैं इस कारण पृथिवी सब भूतों का रस कहलाती है, या यों कहो कि ईश्वराज्ञा द्वारा प्रकृति के रजोगुण आधिक्य होने से अग्नि द्वारा सन्तप्त होकर पृथिवी द्रवीभूत होती है उसके द्रवीभूत होने के कारण यहां पृथिवी को रसरूप से कथन किया गया है, पृथिवी के घनीभूत होने से जल अपने स्व२ स्थानों पर नियत होगये, इसी अभिप्राय से जलों को पृथिवी के रसरूप से कथन किया गया है, एवं जलों का सार वनस्पतिरूप ओषधियें, ओषधियों का सार मनुष्य, मनुष्य का सार वाणी=साहित्य, साहित्य का सर्वोपरि तत्व वेद, वेद का तत्व यह है कि उसके तात्पर्य्य में मग्न होकर सङ्गीत करना अर्थात् साम गीति और साम का तत्व ओंकार है।

तात्पर्य्य यह है कि उक्त चारो तत्व जिनके क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस यह चार गुण हैं इन सबका आधार पृथिवी होने से उसको सब भूतों का रस कथन किया है, पृथिवी का रस जल और जल का रस ओषधियें=यव गेहूं आदि खाद्य पदार्थ हैं, क्योंकि जल की सहायता से ही ओषधियों की उत्पत्ति और पालन होता है, ओषधियों का रस पुरुष है, क्योंकि ओषधियों से ही पुरुष की वृद्धि होती है विना ओषधियों के पुरुष का जीवन नहीं रहसकता अथवा ओषधियों से पुरुष की उत्पत्ति होने के कारण भी पुरुष को उनका रस कथन किया है, पुरुष का रस वाग्=मधुर भाषण है, मधुरभाषण वाला ही पुरुष संसार में उच्चपद को प्राप्त होता है और उसीको मनुष्यजन्म के फल प्राप्त होते हैं, वाक् का रस ऋग् है अर्थात् सम्पूर्ण वैदिक छन्द वाणी का रस है, ऋग् का रस साम है अर्थात् वेद में जो गानयोग्य ऋचा हैं उनसे यहां साम का तात्पर्य्य है, जैसाकि मीमां० २।१।३६ में वर्णन किया है कि "गीतीषु सामाख्या"= गाने योग्य ऋचाओं का नाम "साम" है, अधिक क्या ऋचाओं का जो गान है वह मानो उनका रस है और साम का रस उद्गीथ=ओङ्कार है, या यों कहो कि सम्पूर्ण सामवेद के तत्वों का सारभूत केवल ब्रह्म ही है।

और बात यह है कि "रस" शब्द यहां तत्व के अभिप्राय से आया है जिसका आशय यह है कि यदि इस प्राकृत चराचर ब्रह्माण्ड के कारणभूत प्रकृति का तत्वभूत पृथिवी न होती तो तदाश्रित जल ओषधियें भी कदापि न होसक्ते उनके अभाव से पुरुष भी न होता और पुरुष के अभाव होने पर वेदादि सच्छास्त्र न होते फिर उक्त शास्त्रों के सारभूत ओङ्कार की तो कथा ही क्या, श्लोक में ओङ्कार को सर्वोपरि सिद्ध करते हुए यह सिद्ध किया है कि मनुष्यजीवन का सार साहित्य=ललितभाषा है जिसको प्रकृत में वैदिकभाषा कथन किया है, जो पुरुष उक्त भाषा नहीं जानते वह नाममात्र के पुरुष हैं, क्योंकि पुरुष का पुरुषत्व तभी पायाजाता है जब उसमें पुरुषार्थ हो, जैसाकि "विपर्त्तिपूरयति

स्व न्यूनतां स पुरुषः”=जो अपनी न्यूनता को पूर्ण करता है वह “पुरुष” है, वह न्यूनता चार प्रकार की है अर्थात् धर्माभावरूप न्यूनता, अर्थाभावरूप न्यूनता, सन्तत्याभावरूप पितृऋणरूपी न्यूनता और परमात्मानन्दप्राप्तिरूप मोक्षधर्म की न्यूनता, जो पुरुष उक्त चारो प्रकार की न्यूनताओं को पूर्ण करलेता है वह “पुरुष” है, और यों तो शरीरमात्रधारी होने से पुरुष सभी कहे जाते हैं, यद्यपि “पुरुष” शब्द के अर्थ यह भी हैं कि “पुरिशेते इति पुरुषः”=जो पुर=देह में शयन करे उसका नाम “पुरुष” है परन्तु यह अर्थ परमात्मा में घटते हैं, क्योंकि निखिल ब्रह्माण्डों में वही शयन करता है मनुष्य की योग्यता उक्त विध व्यापक होने की नहीं, यदि देहमात्र में शयन करने से यहां पुरुष के अर्थ लिये जायं तो ठीक नहीं, क्योंकि उक्त अर्थ परम पुरुष ईश्वर में ही घटसक्ते हैं अन्यत्र नहीं, सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों में शयन करने से एकमात्र ईश्वर ही पुरुष कहलासक्ता है, और जीव के अर्थ पुरुषार्थ करने से हो पुरुष के हैं अन्यथा नहीं।

भाव यह है कि पुरुष का सार वेदवाणी और वेदरूपवाणी का सार उद्गीथ है, अतएव ओङ्कार के अर्थरूप ब्रह्म की उद्गीथरूप अर्थात् वैदिकज्ञान रूप साधनों से उपासना करनी चाहिये, यही इस श्लोक का सार है॥

सं०—अब उक्त उद्गीथ को ब्रह्म की उपासना का स्थान कथन करते हैं:-

स एष रसानां रसतमः परमः।
परार्द्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः॥ ३॥

अर्थ—जो उद्गीथ है वह सम्पूर्ण सारभूत पदार्थों में अत्युत्तम सार है, सर्वोपरि प्रापणीय स्थान है और पृथिव्यादि रसों की अपेक्षा से आठवां है॥

भाष्य—इस श्लोक में जो उद्गीथ को पृथिवी आदिकों की अपेक्षा से आठवें स्थान में कथन कियागया है वह सब रसों से श्रेष्ठतम होने के कारण परमात्मप्राप्ति के लिये सर्वोत्तम साधन है, इसीलिये उसको सर्वोपरि कथन किया है “यः रसयति आनन्दयति स रसः”=जो आनन्दित करता है उसका नाम “रस” है, सो उद्गीथ सब रसों का आकर हाने से परमात्मा के समीप उपस्थित कराता है और इसीलिये उसका नाम “परार्द्ध्य” है “परञ्चतदर्द्धञ्चेति परार्द्धं तदर्हतीति परार्द्ध्यः”=परमस्थान का नाम “परार्द्ध” और उसके योग्य का नाम “परार्द्ध्य” है, इस व्युत्पत्ति से भी सिद्ध है कि उद्गीथ परमात्मप्राप्ति का एकमात्र साधन कथन किया गया है और इसी भाव को तैत्ति० ब्रह्मानन्दवल्ली अनु० ७ श्लो० १ में इस प्रकार वर्णन किया है कि “यद्वै तत्सुकृतं रसो वै सः ह्येवायं लब्ध्वानन्दी

भवति "=जो यह सुकृत रसरूप ब्रह्म है वह आनन्दस्वरूप है उस आनन्दस्वरूप को यह जीव लाभ करके आनन्दित होता है।

कई एक भाष्यकार इससे प्रतीकोपासना सिद्ध करते हैं कि ओंकाररूप अक्षर में ध्यान लगाकर परमात्मा की उपासना करे, उनका यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि उद्गीथ का ध्यान करने के लिये यहां उसका परार्द्ध्य शब्द से व्यवहार नहीं किया गया किन्तु परमात्मा का ज्ञापक=बोधक होने से यहां उसको ब्रह्मप्राप्ति का स्थान कथन किया है, यदि प्रतीक के अभिप्राय से यहां उद्गीथ कथन करना अभिप्रेत होता तो उसको ब्रह्म का स्थान कथन न किया जाता किन्तु ओङ्कार को स्थान कथन करते, यद्यपि एक अर्थ में ओङ्कार और उद्गीथ का एक ही पदार्थ है परन्तु उद्गीथ कोई एक अक्षररूप ही नहीं जो प्रतीक स्थानी मानाजाय किन्तु उद्गीथ वेद के उस भाग को भी कहते हैं जो उच्चस्वर से गाया जाता है और वह कोई एक प्रतीक नहीं।

और युक्ति यह है कि " अब्रह्मणि ब्रह्मदृष्ट्यानुसन्धानं हि प्रतीकोपासनम् "=जो पदार्थ ब्रह्म नहीं उसका ब्रह्मभाव से ध्यान करने का नाम " प्रतीकोपासना " है, ऐसा ध्यान यहां उद्गीथविषयक विधान नहीं किया गया किन्तु यहां उद्गीथ को वेद का सार कथन किया है, जिसका आशय यह है कि उद्गीथ परमात्मप्राप्ति का मुख्यसाधन है, इसी अभिप्राय से उपनिषदों के अन्य स्थलों में भी कथन किया है कि " एतदालम्बनं श्रेष्ठं एतदालम्बनं परम् "=यही एक ओंकाररूप आलम्बन=आश्रय श्रेष्ठ है और इसी का सहारा सर्वोपरि है, इस प्रकार ब्रह्म का बोधक होने से उद्गीथ को उसकी प्राप्ति का मुख्यसाधन कथन कियागया है मूर्त्तिपूजा के अभिप्राय से नहीं॥

सं०-अब यह कथन करते हैं कि कौन ऋग्, कौन साम और कौन उद्गीथ है:-

कतमाकतमर्क्कतमत्कतमत्साम कतमः कतम
उद्गीथ इति विमृष्टं भवति ॥ ४ ॥

अर्थ—कौन २ ऋचा, कौन २ साम और कौन २ उद्गीथ है, यह विचार कियाजाता है॥

भाष्य—पूर्वोक्त द्वितीय श्लोक में ऋग्, साम और उद्गीथ यह तीन शब्द आये हैं और यह अन्य अर्थों में भी प्रयुक्त होते हैं, जैसाकि छन्दोबद्ध श्लोकमात्र को ऋग्, गानमात्र को साम, उद्गातृकर्तृक गानमात्र को उद्गीथ कहते यहां यह शङ्का होती है कि उक्त शब्दों का क्या अर्थ लेना चाहिये॥

अब उक्त आशंका का समाधान करते हैं:—

वागेवर्क्, प्राणः सामोमित्येतदक्षरमुद्गीथस्तद्वा एतन्मिथुनम्। यद्वाक् च प्राणश्चर्क् च साम च ॥५॥

अर्थ-वाणी ही ऋग्वेद, प्राण सामवेद और यह सर्वरक्षक परमात्मा नाशरहित ओंकार है, निश्चयकरके वह जोड़ा जो वाक् औरप्राण है वा ऋग् और साम है॥

भाष्य-पूर्व श्लोक में जो तीन प्रश्न किये थे उनका इस श्लोक में उत्तर दिया गया है कि वाक् ही ऋचा है अर्थात् ईश्वर की परम कल्याणरूप वेदवाणी को "ऋचा" कहते हैं, प्राण साम है, अर्थात् आनन्द का दाता होने से "सामवेद" प्राण है और ओ३म्=सर्वव्यापक तथा सर्वरक्षक ब्रह्म ही "उद्गीथ" है।

भाव यह है कि मनुष्य का वाक्=वाणी और प्राण ब्रह्माश्रित होकर ही सफल होते हैं इसी प्रकार ऋग् और साम भी परमात्मपरायण पुरुष के ही सफल होते हैं अन्य के नहीं, जैसाकि "आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः"=आचारहीन पुरुष को वेद पवित्र नहीं करसकता, इस वाक्य में वर्णन किया है, इस वाक्य के अनुसार जो पुरुष वाणीरूप ऋग् तथा प्राणरूप साम को लक्ष्य रखता है उसी को उक्त मिथुन फलप्रद होता है अन्य को नहीं॥

सं०-अब उक्त मिथुन का फल कथन करते हैं:-

तदेतन्मिथुनमोमित्येतस्मिन्नक्षरे सꣳसृज्यते। यदा वै मिथुनौ समागच्छत आपयतो वै तावन्योन्यस्यकामम् ॥ ६ ॥

अर्थ-वह जोड़ा "ओ३म्" इस अक्षर में संयुक्त है जब दो युग्म=जोड़ा एकत्रित होते हैं तब निश्चयकरके वह दोनों एक दूसरे के काम को पूर्ण करते हैं॥

भाष्य-दो युग्म=ऋग् तथा साम और वाक् तथा प्राण जब परब्रह्म परमात्मा में संयुक्त होते हैं क्योंकि निखिल वेद का तात्पर्य्य केवल ब्रह्म से ही है अन्य नहीं तब वह दोनों एक दूसरे के काम को पूर्ण करते हैं, या यों कहो कि जैसे पुरुष और स्त्रीरूप जोड़ा परस्पर प्रीति से युक्त होकर संसार में सुख भोगते हैं इसी प्रकार यह जीवात्मा जब ओंकार के साथ संयुक्त होता है:तभी दोनों की सफलता होती है अर्थात् परमात्मा प्राणी को अपना आज्ञाकारी देखकर प्रसन्न होता है और वह अपने अभीष्टदेव को पाकर कृतकृत्य होजाता है, इस प्रकार एक दूसरे का कार्य्य सफल होना जोड़े का तात्पर्य्यरूप फल है॥

सं०-अब उक्त अक्षरब्रह्म के ज्ञाता को फलप्राप्ति कथन करते हैं:-

आपयिता हवै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते ॥ ७ ॥

अर्थ—यह प्रसिद्ध है कि जो उपासक इस ओंकाररूप ब्रह्म को इस प्रकार जानता हुआ उपासना करता है वह निश्चयकरके कामनाओं को आपयिता= पूर्ण करने वाला होता है ॥

भाष्य—उद्गीथ प्रतिपाद्य ब्रह्म के ज्ञाता को फलप्राप्ति इसलिये कथन की है कि उसका ज्ञान भ्रमरहित होता है अर्थात् वेदप्रतिपाद्य होने से उसके ज्ञान में कोई भ्रान्ति नहीं होती, इसलिये वैदिक ज्ञान द्वारा " ओ३म् " अक्षर का ज्ञाता ही पर्याप्तकाम होसकता है अन्य नहीं ॥

सं०—अब लोकप्रसिद्धि से उद्गीथ की उत्तमता वर्णन करते हैं :—

तद्वा एतदनुज्ञाक्षरम्, यद्धिकिञ्चानुजानात्योमित्येव, तदा-हैषो एव समृद्धिर्यदनुज्ञा, समर्द्धयिता हवै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते ॥ ८ ॥

अर्थ—" ओ३म् " यह अनुज्ञाक्षर=स्वीकार वाचक अक्षर है, क्योंकि जो कुछ अनुजानाति=जानता है तब " ओ३म् " ही को कहता है, यही विभूति है जो स्वीकृति है, निश्चयकरके वह पुरुष कामनाओं का बढ़ाने वाला होता है जो इस अविनाशी परमात्मा को पूर्वोक्त प्रकार से जानता हुआ उपासना करता है ॥

भाष्य—इस श्लोक में "ओंकार" अनुज्ञा अक्षर कथन किया गया है अर्थात् जब कोई पुरुष किसी अर्थ का स्वीकार करता है तब वह ओंकार का प्रयोग करता है, जैसाकि **"भवता वेदान्तशास्त्रमधीतम्"**=आपने वेदान्तशास्त्र पढ़ा है, इस प्रकार प्रश्न करने पर अधीतवेदान्त की ओर से यह उत्तर होता है कि "ओ३म्" हां पढ़ा है, इत्यादि, यहां अनुज्ञार्थ में ओंकार का प्रयोग दिखलाने का तात्पर्य्य यह है कि जैसे सत्योक्ति का स्वीकार करने वाला समृद्धि को प्राप्त होता है इसी प्रकार उद्गीथ अक्षर का गान करने वाला सब कामनाओं को पूर्ण करने वाला होता है, इससे यह तात्पर्य्य कदापि नहीं कि जो अक्षर अनुज्ञा के लिये प्रयुक्त किया जाता है उसी त्रिमात्रिक ओङ्कार की यहां उपासना विधान की गई है किन्तु यह तात्पर्य्य है कि जिसप्रकार अनुज्ञा अभिधायक ओंकार का प्रयोक्ता समृद्धि वाला होता है इसीप्रकार अक्षर ब्रह्म का उपासक सब प्रकार के ऐश्वर्य्य को पाता है।

और बात यह है कि जैसे ईश्वर आज्ञा देता है कि **"मागृधः कस्यस्विद्धनम्"**=किसी के धन की इच्छा मत करो, इस आज्ञा को "ओ३म्" कहकर

स्वीकार करे कि " ओ३म् " इस आपकी आज्ञा को स्वीकार करता हूं, इसी-प्रकार अन्य आज्ञाओं को भी समझे कि परमात्मा मुझको आज्ञा देता है और मैं " ओ३म् "= हां हां कह सबको स्वीकार करता हूं, इस भाव को समझने वाला पुरुष समृद्धिमान् होता है ॥

सं०-अब ब्रह्माभिधायी ओंकार की श्रेष्ठता अन्य प्रकार से कथन करते हैं:—

तेनेयं त्रयीविद्या वर्त्तते ओमित्याश्रावयत्यो-
मिति शꣳसत्योमित्युद्गायत्येतस्यैवाक्षरस्याप-
चित्यै महिम्ना रसेन ॥ ९ ॥

अर्थ-इस ओंकार से कर्म, उपासना तथा ज्ञानरूप तीनों प्रकार की विद्या वर्त्तमान हैं, क्योंकि " ओंकार" अक्षर ही को अध्वर्यु स्तुति करते "ओङ्कार" अक्षर को ही होता सुनाते और " ओंकार" का ही उद्गाता गान करते हैं, इसी अविनाशी ईश्वर की उपासना के लिये परमात्मा के महत्व द्वारा उसी के आनन्द से पुरुष ईश्वरपरायण होता है ॥

भाष्य-" ओङ्कार " से ही त्रयीविद्या = कर्म, उपासना तथा ज्ञानरूप तीनों विद्यायें वर्त्तमान हैं, ऋत्विग् लोग प्रथम " ओङ्कार "को उच्चारण करके ही उनका प्रारम्भ करते हैं, या यों कहो कि " ओङ्कार " अक्षर का लक्ष्य जो ब्रह्म है उसी के द्वारा उक्त तीनों विद्यायें विद्यमान हैं, क्योंकि इनके आदि में प्रथम " ओ३म् " का ही उच्चारण किया जाता है, अधिक क्या कर्म, उपासना तथा ज्ञान इन तीनों काण्डात्मक वेद " ओङ्कार " अक्षर से व्याप्त है, क्योंकि " ओ३म् " कहकर ही ब्रह्मोपदेष्टा लोग ब्रह्म का कथन करते हैं तथा उक्त अक्षर परमात्मा के रसरूप व्रीहि, यवादि अन्नों से याज्ञिक लोग यज्ञ करते हैं और परमात्मदेव की उपसना से ही पुरुष सिद्धि को प्राप्त होता है, जैसाकि गी० १८ । ४६ में भी वर्णन किया है कि "स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः"= अपने शुभकर्मों द्वारा परमात्मा की उपासना करके ही पुरुष सिद्धि को पाता है, इससे सिद्ध है कि एकमात्र सिद्धि का उपाय " ओ३म् " अक्षर प्रतिपाद्य परमात्मा की उपासना ही है अन्य कोई नहीं ॥

सं०-अब ज्ञानी तथा अज्ञानी के लिये समान=एकजैसा फल होने का पूर्वपक्ष करते हैं:-

तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद, नाना तु
विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोप-

निषदा तदेव वीर्य्यवत्तरं भवतीति खल्वेतस्यैवाक्षरस्योप-व्याख्यानं भवति ॥ १० ॥

अर्थ- जो पुरुष इस "अक्षर" को उक्त प्रकार जानता है अथवा जो नहीं जानता, यह दोनों उस " ओंकार " की सहायता से कर्म करते हैं और विद्या तथा अविद्या भिन्न २ रूप वाली हैं, विद्या, श्रद्धा तथा ज्ञानपूर्वक कर्तव्य से पुरुष जिस कर्म को करता है वही कर्म फलप्रद होता है, पूर्वोक्त सम्पूर्ण वर्णन खलु= निश्चयकरके इसी अक्षरस्य=अविनाशी ईश्वर का उपव्याख्यान=विशेषव्याख्यान है॥

भाष्य-इस श्लोक में यह वर्णन किया गया है कि जो अक्षर ब्रह्म को जानता है और जो नहीं जानता वह दोनों ही उस " ओंकार " की सहायता से कर्म करते हैं और कर्म के सामर्थ्य से दोनों का फल तुल्य होगा, यदि ऐसा ही है तो अर्थज्ञान के लिये अधिक परिश्रम करना व्यर्थ है ? इसका समाधान उपनिषत्कार इस प्रकार करते हैं कि विद्या और अविद्या यह दोनों भिन्न २ पदार्थ हैं तो दोनों के फल समान कैसे होसकते हैं, विद्या=ज्ञानपूर्वक कर्म करने वाला सिद्धि को प्राप्त होता है और अविद्या=अज्ञानी सदा ही अनेक प्रकार के कष्ट सहन करता हुआ अपने जीवन को व्यर्थ खोता है, इसलिये दोनों एक नहीं, अतएव पुरुष को उचित है कि वह ज्ञानपूर्वक ओंकार का ज्ञाता हो तभी वह फल देसका है अन्यथा नहीं, इसी अभिप्राय से इस उपनिषद् में शिक्षा दी है कि विद्यायुक्त होकर जो कर्म किये जाते हैं वही वीर्यवत्तर=अधिक फलदायक होते हैं परन्तु उसमें भी श्रद्धा और शिक्षा की परमावश्यकता है, अतएव सिद्ध है कि यहां उस ब्रह्म का ही यह सम्पूर्ण वर्णन किया गया है इसी का आश्रयण करना मनुष्यमात्र का कर्तव्य है, या यों कहो कि जो पुरुष उक्त ओंकार प्रतिपाद्य ब्रह्माक्षर की श्रद्धा तथा ज्ञान से उपासना करते हैं वही उसकी उपासना से मुक्तिरूप अमृत को प्राप्त होते हैं अन्य नहीं ।

और जो लोग उक्त स्थल में ओंकार की उपासना को प्रतीकोपासना में लगाते हैं उनको स्मरण रहे कि यदि ज्ञान तथा अज्ञानपूर्वक दोनों प्रकार की उपासना का एक जैसा फल होता तो उपनिषत्कार ज्ञानपूर्वक उपासना को सर्वोपरि सिद्ध न करते, क्योंकि इनके मत में प्रतीक में मिथ्याबुद्धि करके उसको ईश्वर माना जाता है, इसलिये इस स्थल में ओंकार की उपासना से ब्रह्मोपासना ही अभिप्रेत है किसी वर्ण तथा साकार की उपासना का अभिप्राय नहीं ॥

इति प्रथमःखण्डः समाप्तः

अथ द्वितीयःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-प्रथम खण्ड में ओङ्कार का व्याख्यान करके अब इस खण्ड में आध्यात्मिक उपासन कथन करते हैं :—

देवासुरा हवै यत्र संयेतिरे, उभये प्राजापत्यास्तद्ध
देवा उद्गीथमाजह्रुरनेनैनानभिभविष्याम इति ॥ १ ॥

अर्थ-प्राजापत्या=प्रजापति की सन्तान देवासुरा=देव और असुर दोनों युद्ध करने को प्रवृत्त हुए, देवों ने उद्गीथ को ग्रहण किया कि इससे इनको जीतेंगे ॥

भाष्य-शास्त्र के अभ्यास द्वारा वेदाज्ञा पालन करने वाली वृत्तियों का नाम "देव" और तद्विपरीत बहिर्मुख वृत्तियों का नाम यहां "असुर" है, उक्त दोनों भावों वाली वृत्तियों में अहर्निश देवासुर संग्राम बना रहता है जिसको सब मनुष्य भलेप्रकार अनुभव करते हैं, यह प्रत्यक्ष है कि जो पुरुष शास्त्रीय ज्ञान से शमदमादिसाधनसम्पन्न हैं अथवा जो अनुष्ठानपूर्वक वेदाज्ञा का पालन करते हैं उनकी आसुरी वृत्तियें दबकर उत्तम वृत्तियों का राज्य होता है, इसलिये पुरुष को उचित है कि वह उद्गीथरूप ब्रह्म की उपासना में अहर्निश प्रवृत्त रहे ताकि आसुरी वृत्तियें उसको मन्दकर्मों में खींचकर न लेजायं ॥

सं०-अब असुरों के विजयार्थ देव अपने उपास्यदेव का अन्वेषण करते हैं :-

तेह नासिक्यं प्राणमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे । तं
हासुराः पाप्मनाविविधुस्तस्मात्तेनोभयं जिघ्रति
सुरभि च दुर्गन्धि च पाप्मना ह्येष विद्धः ॥२॥

अर्थ-वह देव नासिकागत प्राणवायु की उद्गीथरूप से उपासना करने लगे उसको असुरों ने पाप्मना=पापवृत्तिवाला बना दिया, क्योंकि उक्त नासिका-वृत्ति प्राण से पुरुष सुगन्धि और दुर्गन्धि दोनों को सूंघता है, इसलिये यह प्राण पाप से युक्त है ॥

सं०-अब देव वाणी को उपास्य बनाते हैं :—

अथ ह वाचमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे । ताᳬहासुराः
पाप्मना विविधुस्तस्मात्तयोभयं वदति सत्यञ्चा-
नृतं च पाप्मना ह्येषा विद्धा ॥ ३ ॥

अर्थ-इसके अनन्तर देव वाणी की उद्गीथरूप से उपासना करने लगे उसको असुरा=दुष्टवृत्तियों ने पापवृत्तिवाला बना दिया, क्योंकि उस वाणी से सत्य

और अनृत दोनों बोलता है, इस कारण यह वाणी पाप से युक्त है ॥

सं०-अब देव चक्षु को उपास्य बनाते हैं :—

अथ ह चक्षुरुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे, तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं पश्यति दर्शनीयं चादर्शनीयं च, पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥ ४ ॥

अर्थ-फिर देव चक्षु की उद्गीथरूप से उपासना करने लगे उसको दुष्टवृत्तियों ने पापवृत्तिवाला बनादिया, क्योंकि उस चक्षु से देखने योग्य और नहीं देखने योग्य दोनों को देखता है इस कारण पाप से यह चक्षु युक्त है ॥

सं०-अबदेव श्रोत्र को उपास्य बनाते हैं :—

अथ ह श्रोत्रमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे, तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयꣳ शृणोति श्रवणीयञ्चाश्रवणीयञ्च, पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥ ५ ॥

अर्थ-तदनन्तर देव श्रोत्र की उद्गीथरूप से उपासना करने लगे इसको दुष्ट वृत्तियों ने पापवृत्तिवाला बनादिया, क्योंकि श्रोत्र से सुनने योग्य और नहीं सुनने योग्य दोनों को सुनता है, इस कारण यह श्रोत्र पाप से युक्त है ॥

सं०-अब देव मन को उपास्य बनाते हैं :—

अथ ह मन उद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे, तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयꣳसङ्कल्पयते सङ्कल्पनीयञ्चासङ्कल्पनीयञ्च, पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥ ६ ॥

अर्थ-फिर देव मन की उद्गीथरूप से उपासना करने लगे उसको दुष्ट वृत्तियों ने पापवृत्तिवाला बना दिया, क्योंकि सङ्कल्पयोग्य और असङ्कल्पयोग्य दोनों विषयों का सङ्कल्प करता है, इस कारण यह पाप से युक्त है ॥

सं०-अब देव प्राण को उपास्य बनाते हैं:—

अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे। तꣳहासुरा ऋत्वा विदध्वंसुर्यथाऽश्मानमाखणमृत्वा विध्वꣳसेत ॥ ७ ॥

अर्थ-तदनन्तर देव जो यह मुख्य प्राण है उसको हीलक्ष्य करके उद्गीथरूप से उपासना करने लगे, उस प्राण को पाकर दुष्टवृत्तियें छिन्न भिन्न होगईं, जैसे-अभेद्य पत्थर को पाकर मिट्टी का डेला छिन्न भिन्न होजाता है ॥

भाष्य-उपरोक्त श्लोकों का भाव यह है कि असुर=दुष्टवृत्तियों के विजयार्थ देव=इन्द्रिय अपने उपास्यदेव का अन्वेषण करते हुए प्रथम नासिकागत प्राणवायु की उद्गीथरूप से उपासना करने लगे तब असुररूप वृत्तियों ने उनकी उपासना में विघ्न किया अर्थात् असुरों ने नासिका में वह भाव भर दिया जिससे वह दुर्गन्धि का त्याग करके सुगन्धिरूप स्वार्थ में फंसजाय, अतएव इस स्वार्थी उपास्य देव के कारण देवता असुरों को न जीत सके, क्योंकि जिस सेना का नेता स्वार्थी हो वह दल कदापि कृतकार्य्य नहीं होसक्ता, फिर देवों ने "वाणी" को उपास्यदेव बनाया और उसके द्वारा भी कृतकार्य्य न होसके, क्योंकि वह सत्य और अनृत दोनों प्रकार का भाषण करने के कारण पाप से युक्त है, फिर देवों ने "चक्षु" को अपना उपास्यदेव बनाया और उसके द्वारा भी कृतकार्य्य न होसके, क्योंकि वह देखने योग्य और न देखने योग्य दोनों प्रकार के पदार्थों का अवलोकन करने के कारण पाप से युक्त है, फिर देवों ने "मन" को उपास्यदेव बनाया और उसके द्वारा भी अपने अभीष्टफल को प्राप्त न होसके, क्योंकि वह सङ्कल्प योग्य और असङ्कल्प योग्य दोनों प्रकार के विषयों का सङ्कल्प करने के कारण पाप से विद्ध है, इसके अनन्तर फिर देवों ने श्रेष्ठ सर्वोत्तम प्राण को अपना उपास्यदेव बनाया अर्थात् उस परम पवित्र ब्रह्म को लक्ष्य बनाकर उसकी उपासना करने लगे तब उस प्राणरूप ब्रह्म को पाकर दुष्टवृत्तियें छिन्न भिन्न होगईं, जैसे पत्थर को पाकर मिट्टी का ढेला छिन्नभिन्न होजाता है।

भाव यह है कि प्राण से तात्पर्य्य यहां ब्रह्म का है, जैसाकि "प्राणिति सर्वं जगदिति प्राणः"=जो सम्पूर्ण संसार को प्राणनरूप चेष्टा कराये उसका नाम "प्राण" है, सो एकमात्र परमात्मा ही सम्पूर्ण जगत् को प्राणरूप चेष्टा कराता है, इसलिये यहां प्राण शब्द से परमात्मा का ही ग्रहण है अर्थात् जैसे इस देह की स्थिति का कारण एकमात्र शरीरवर्त्ति प्राण है इसी प्रकार इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की गति का कारण एकमात्र ब्रह्म है जिसको शास्त्रकारों ने "प्राण" शब्द से कथन किया है, अतएव मनुष्यमात्र को उचित है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के जीवन हेतु गतिसंचारक ब्रह्म की ही उपासना करें अन्य इन्द्रियरूप प्राण तथा भौतिक पदार्थों की नहीं॥

सं०-अब उक्त प्राणरूप ब्रह्म की उपासना करनेवाले को फलप्राप्ति कथन करते हैं:—

एवम्, यथाश्मानमाखणमृत्वाविध्वꣳसत एवꣳ हैव स विध्वꣳसते। य एवंविदि पापं कामयते, यश्चैनमभिदासति, स एषोऽश्माखणः॥ ८॥

अर्थ-जिसप्रकार आखण = अभेद्य = दृढ़ पत्थर को पाकर मिट्टी का ढेला नाश को प्राप्त होजाता है इसी प्रकार निश्चयकरके वह पुरुष भी नष्ट होजाता है जो उक्त प्रकार से जानने वाले ब्रह्मवेत्ता के साथ पाप की कामना करता है और जो इस ब्रह्मवादी का अनिष्ट चिन्तन करता है, क्योंकि वह ब्रह्मवादी अभेद्य पत्थर के समान है ॥

भाष्य—जिसप्रकार मिट्टी का ढेला पत्थर को प्राप्त होकर छिन्नभिन्न होजाता है इसीप्रकार प्राणरूप ब्रह्म की उपासना करने वाले से द्वेष करने वाले का नाश होजाता है, इसलिये सबको उचित है कि परमात्मपरायण पुरुष से कदापि द्वेष न करें, जहांतक बनसके यथाशक्ति उसकी सेवा और आज्ञापालन में तत्पर रहें, यही धर्म है जो सबको कर्तव्य है ॥

सं०-अब ब्रह्म से बहिर्मुख पुरुष का कथन करते हैं:-

नैवैतेन सुरभि न दुर्गन्धि विजानात्यपहतपाप्मा ह्येष तेन यदश्नाति यत्पिबति तेनेतरान् प्राणानवत्येतमुएवान्ततोऽवित्त्वोत्क्रामति व्याददात्ये वान्तत इति ॥ ९ ॥

अर्थ-ब्रह्म का उपासक न सुख को और नाहीं दुःख को जानता है, क्योंकि ब्रह्मदर्शी निष्पाप होजाता है, जो वह खाता है और पीता है उससे अन्य इन्द्रियादिकों की रक्षा करता है, और जो इस प्राणरूप ब्रह्म को मरणकाल तक भी न जानकर शरीर को त्याग प्रस्थान करता है वह अन्तकाल में मुख खोल लेता है कि मानो फिर श्वास लेगा ॥

भाष्य—इस मन्त्र में ब्रह्मोपासक के दुःख का अभाव कथन कियागया है कि जब उक्त उपासक का ब्रह्म के साथ योग होजाता है तब वह द्वन्द्वों से छूट जाता है अर्थात् सुगन्धि दुर्गन्धि, सुख दुःख, शीत ऊष्ण, मान अपमानादि को समान समझता है, अधिक क्या जिसप्रकार ब्रह्म अपहतपाप्मा है इसी प्रकार संसर्ग गुण से उपासक भी विशुद्ध होजाता है और विशुद्ध होने से उसका खानपानादि व्यवहार, विद्या, बल आदि सब परोपकार दृष्टि से ही होते हैं स्वार्थ से कुछ नहीं, और जो परमात्मा का उपासक नहीं है वह अन्त समय=मरणकाल में अपना मुख खोलकर पुनः श्वास की आशा करता है कि यदि अब के फिर श्वास आजाय तो मैं ब्रह्मज्ञानी बनूं, फिर क्या होता है पश्चात्ताप और शोक करता हुआ अपनी सब प्यारी वस्तुओं को छोड़कर अनेक प्रकार के कष्ट भोगता है।

भाव यह है कि सम्पूर्ण प्राणिवर्ग को प्राणनशक्ति देने वाला एकमात्र प्राणरूप ब्रह्म ही है उसके ज्ञान का फल यह है कि उसका ज्ञाता दुःख पड़ने पर भी अपने आपको दुःखी नहीं मानता और न सुख में सुखी मानता है उसके लिये सुख दुःख समान होते हैं, क्योंकि उसको यह ज्ञान होता है कि यह सुख दुःख आगमापायी हैं तथा शीतोष्णादि द्वन्द्वों को सहिष्णुता से वह सर्वथा निष्पाप हो

जाता है और वह जो कुछ खानपानादि व्यवहार करता है वह सब शरीरयात्रा के लिये करता है और ऐसा ही पुरुष निष्कामकर्मी कहलाता है स्वार्थी नहीं, और जो उक्त प्रकार से प्राणरूप ब्रह्म का ज्ञाता नहीं वह मानो प्राणत्याग के समय मुख खोलकर यह पश्चात्ताप करता है कि यदि परमात्मा अब की बार फिर मनुष्य जन्म दें तो मैं ऐसी भूल कदापि न करूं अब की बार परमात्मपरायण अवश्य बनूं, फिर क्या होता है, इस प्रकार शोक और सन्ताप करता हुआ संसार से प्रयाण कर जाता है ॥

सं०-अब उक्त प्राणरूप परमात्मा का महत्व वर्णन करते हैं:—

तꣳहाङ्गिरा उद्गीथमुपासाञ्चक्र एतमु
एवाङ्गिरसं मन्यन्तेऽङ्गानां यद्रसः ॥ १० ॥

अर्थ-इसी प्राणरूप परमात्मा को अधिष्ठान मानकर अङ्गिरा नामक ऋषि उद्गीथ की उपासना करते थे और इसी को निश्चयकरके सम्पूर्ण अङ्गों का आधार मानते थे जो सृष्टि उत्पादक सब पदार्थों का सार है ॥

भाष्य—सब विद्वानों में श्रेष्ठ अङ्गिरा ऋषि भी उद्गीथरूप ब्रह्म की ही उपासना करते और उसी को सम्पूर्ण विश्व का आधार मानते थे, अतएव हम लोगों को भी अपने कल्याणार्थ उसी परब्रह्म परमात्मा की उपासना करनी चाहिये, क्योंकि वही सब पदार्थों का स्वामी, सब अङ्गों का आधार और प्रकृत्यादि सब पदार्थों का सार है ॥

सं०-अब उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये और हेतु कथन करते हैं:—

तेन तꣳह बृहस्पतिरुद्गीथमुपासाञ्चक्र एतमुएवबृहस्पतिं
मन्यन्ते वाग्घि बृहस्पती तस्या एषः पतिः ॥ ११ ॥

अर्थ-इसी कारण बृहस्पति नामक ऋषि उस ब्रह्म की उद्गीथरूप से उपासना करते थे और निश्चयकरके इसी को वेदवाणी का अधिपति मानते थे; क्योंकि जो वाणी बड़ी है उसका यह स्वामी है ॥

भाष्य—यह श्लोक भी उक्तार्थ की पुष्टि में प्रमाण दिया गया है कि बृहस्पति नामा ऋषि भी उद्गीथरूप ब्रह्म की उपासना करते थे अर्थात् उक्त वेदवेत्ता विद्वान् ऋषि जो अपहतपाप्मादि गुणों के धारण करने के कारण सब से बड़े कहलाये वह भी ब्रह्म की ही उद्गीथरूप से उपासना करते थे, अतएव मनुष्य मात्र को उसी परमपिता परमात्मा की उपासना करनी चाहिये ॥

सं० —अब "आयास्य" ऋषि की उपासना द्वारा उक्त अर्थ को स्फुट करते हैं:—

तेन तꣳहायास्य उद्गीथमुपासाञ्चक्र एतमु एवा-
यास्यं मन्यन्त आस्याद्यदयते ॥ १२ ॥

अर्थ—" आयास्य " नामक ऋषि इसी हेतु से उसी ब्रह्म को अधिष्ठान मानकर उद्गीथरूप ब्रह्म की उपासना करते थे, निश्चयकरके इसी को आयास्य मानते थे, जो ब्रह्म को जानकर दूसरों को जनाता है उसका नाम आयास्य है ॥

सं०—अब "दल्भ्य" नामक ऋषि के पुत्र "वक" नामा ऋषि की उपासना द्वारा उक्तार्थ को पुष्ट करते हैं:—

तेन तꣳवको दाल्भ्यो विदाञ्चकार स ह नैमिषीयाणा-
मुद्गाता बभूव सह स्मैभ्यः कामानागायति ॥ १३ ॥

अर्थ—यह प्रसिद्ध है कि इसी प्राणोपासना से उस उद्गीथ को दल्भ्य नामक ऋषि के पुत्र "वक" नामा ऋषि ने जाना, वह ऋषि नैमिषारण्य निवासी ऋषियों के उद्गाता नामक ऋत्विक् हुए और वह इनकी कामनाओं को पूर्ण करते थे ॥

भाष्य—उक्त श्लोकों में इतिहास वर्णन किया गया है कि अङ्गिरा तथा बृहस्पति आदि सब ऋषि उद्गीथरूप ब्रह्म की ही उपासना करते थे और यह " वक " नामा ऋषि केवल उनके उद्गाता ही नहीं किन्तु उनके कार्य्यों के पूर्ण करने वाले भी थे।

सं०—अब उक्त अध्यात्मोपासना का उपसंहार करते हैं:—

आगाता हवै कामानां भवति य एतदेवं विद्वा-
नक्षरमुद्गीथमुपास्त इत्यध्यात्मम् ॥ १४ ॥

अर्थ—वह ब्रह्मवित् पुरुष निश्चयकरके कामनाओं का पूर्ण करने वाला होता है जो इस अविनाशी ब्रह्म की उपासना करता है ॥

भाष्य—जिसमें केवल अक्षरब्रह्म का ही अनुसन्धान किया जाय उसका नाम " अध्यात्मोपासना" है, जैसाकि "भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्य्यः" तथा " य आदित्ये तिष्ठन् आदित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद " इत्यादि वाक्यों में वर्णन किया है कि जिसके भय से अग्नि तथा सूर्य तपता, जो सूर्य के भीतर व्यापक है और जिसको सूर्य नहीं जानता वह ब्रह्म है उसी की उपासना का नाम "अध्यात्मोपासना" है और वही मनुष्य मात्र को उपादेय है ॥

इति द्वितीयःखण्डः समाप्तः

अथ तृतीयःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—द्वितीय खण्ड में आध्यात्मिक उपासना का वर्णन करके अब इस खण्ड में अधिदैवत उपासन कथन करते हैं:—

अथाधिदैवतं य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासी तोद्यन्वा एष प्रजाभ्य उद्गायति उद्यꣳस्तमोभयमपहन्त्यपहन्ता हवै भयस्य तमसो भवति य एवं वेद ॥१॥

अर्थ—इस श्लोक में सूर्य्यादि दिव्य पदार्थों में ब्रह्म की उपासना, कथन की गई है कि जो यह तपता है उसकी उद्गीथरूप से उपासना करे, क्योंकि उदय होता हुआ यह सूर्य प्रजाओं के लिये ब्रह्म के यश का गायन करता है और उदय होता हुआ अज्ञानरूप अन्धकार तथा मोहरूप भय को नाश करता है, वह पुरुष भय तथा तम का नाशक होता है जो इस प्रकार जानता है ॥

भाष्य—इस श्लोक में अलङ्काररूप से सूर्य्य को उद्गीथ कथन कियागया है अर्थात् जिसप्रकार यह भौतिक सूर्य्य तपता हुआ अन्धकार तथा तत्कृत भय का निवर्त्तक होता है इसी प्रकार उद्गीथरूप अधिदैवत उपासन अज्ञान रूप अन्धकार तथा मोहरूप भय का नाशक होता है. यह ऐसा ही अलङ्कार है, जैसाकि "द्यांमूर्द्धानं यस्य विप्रा वदन्ति, खं वै नाभिं चन्द्रसूर्य्यौ च नेत्रे, दिशः श्रोत्रे विद्धि पादौ क्षितिश्च" इत्यादि वाक्यों में वर्णन किया है कि द्युलोक ब्रह्म का मूर्द्धा=मुखस्थानीय, आकाश नाभि स्थानीय, चन्द्र सूर्य नेत्र स्थानीय और पृथिवी पाद स्थानीय है, जो पुरुष उक्त भाव को भलीभांति जानता है कि जिस प्रकार प्रकाश अन्धकार का निवर्त्तक है इसी प्रकार ब्रह्म अज्ञानरूपी तम का निवर्त्तक है वह इस ज्ञान से स्वयं भी तम तथा मोहरूप भय का निवर्त्तक होजाता है अर्थात् सूर्य्यादि दिव्य पदार्थों में जो दिव्य ज्योति है वह परमात्मा की ओर से है, इसलिये अन्तर्यामी रूप से सूर्य्यादि दिव्य पदार्थों में ब्रह्म को व्यापक समझकर उसी की उपासना करनी चाहिये।

यदि पूर्वपक्षी यहां यह आशङ्का करे कि उक्त उपासना से तो प्रतीकोपासना की सिद्धि होती है ? क्योंकि इसमें सूर्य्य की उद्गीथरूप से उपासना कथन कीगई है, इसका उत्तर यह है कि इस मंत्र में सूर्य्य को उद्गीथ मानकर उपासना का विधान नहीं किया गया किन्तु सूर्य तथा उद्गीथ सम्बन्धी एक प्रकार का रूपोपन्यास कथन किया गया है, जैसाकि "रूपोपन्यासाच्च" ब्र० सू० १।२।२३

में वर्णन किया है और इसी भाव को मुण्डक २।१।४ में इस प्रकार कथन किया है कि " अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्य्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः"=अग्नि परमात्मा का मुखस्थानीय, चन्द्रसूर्य्य नेत्रस्थानीय, दिशायें श्रोत्र और खुला हुआ मुख वेद है, यह कथन साकारोपासना के अभिप्राय से नहीं किन्तु ब्रह्म का महत्व वर्णन करने के अभिप्राय से है, इसी प्रकार यहां ब्रह्म का महत्व बोधन करने के लिये सूर्य्य और उद्गीथ की समानरूपता वर्णन कीगई है कि सूर्य स्वप्रकाश द्वारा प्रजा को प्रसन्न करता है और परब्रह्म ज्ञानरूप प्रकाश द्वारा प्रजा का कल्याण करता है, इसलिये उक्त आशङ्का ठीक नहीं ॥

सं०—अब सूर्य्य तथा प्राण की समता कथन करते हैं:—

समान उ एवायञ्चासौ चोष्णोऽयमुष्णोऽसौ स्वर इतीममाचक्षते स्वर इति प्रत्यास्वर इत्यमुं तस्माद्वा एतमिममुञ्चोद्गीथमुपासीत ॥ २ ॥

अर्थ—यह प्राण और वह सूर्य समान ही हैं, क्योंकि यह प्राण उष्ण और वह सूर्य्य उष्ण है, प्राण को स्वर और सूर्य्य को प्रत्यास्वर नाम से कथन करते हैं, इस कारण इस प्राण और इस सूर्य्य को उद्गीथरूप से उपासीत=उपासना करे ॥

भाष्य—इस श्लोक में प्राण और सूर्य्य की समानता वर्णन कीगई है अर्थात् दोनों उष्ण=गरम होने के कारण तुल्य हैं, क्योंकि प्राण के उपस्थित रहने पर ही शरीर उष्ण रहता है और न रहने पर ठंढा होजाता है, इससे सिद्ध है कि शरीर में उष्णरूप मुख्य प्राण ही है और सूर्य्य इस सारे ब्रह्माण्ड को उष्ण रखता है इस कारण दोनों की समता है, इस दृष्टान्त से केवल गुण की समता दिखलाई है और नाम की समता इस प्रकार है कि "प्राणिति सर्वं जगदिति प्राणः"= जो सम्पूर्ण जगत् को प्राणन क्रिया करावे उसका नाम "प्राण" है, और सूर्य्य को प्रत्यास्वर इसलिये कथन किया है कि वह अस्त-होकर पुनरपि उदय होता है अर्थात् सूर्य्य का उदय होकर अस्त होना ही स्वर=गमन और फिर उदय होना प्रत्यास्वर कहाता है, इस प्रकार प्राण और आदित्य को समान जानकर उनमें ईश्वरशक्ति की महिमा का चिन्तन करना चाहिये अर्थात् प्राण और आदित्य की उद्गीथरूप से उपासना करे, जैसाकि " तदेवाग्निस्तदादित्यः तद्वायुस्तदुचन्द्रमा " यजु० ३२।१ इत्यादि मंत्रों में वर्णन किया है कि अग्नि, वायु, चन्द्रमा और सूर्य्य यह सब

परमात्मा के नाम हैं, अतएव यहां प्राण तथा सूर्य्य परमात्मा के बोधक हैं इसी अभिप्राय से इनकी उद्गीथरूप से उपासना कथन कीगई है ॥

सं०—अब प्राणायामार्थ व्यान की उद्गीथरूप से उपासना कथन करते हैं:—

अथ खलु व्यानमेवोद्गीथमुपासीत यद्वै प्राणिति स प्राणो यदपानिति सोऽपानोऽथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानो यो व्यानः सा वाक् तस्मादप्राणन्ननपानन्वाचमभिव्याहरति ॥ ३ ॥

अर्थ—व्यानरूप प्राण की उद्गीथरूप से उपासना करे जो मुख और नासिका से बाहर निकलता है वह प्राण है, जो भीतर जाता है वह अपान और जो प्राण तथा अपान को मिलाने वाला है वह व्यान है जो व्यान है वह वाणी है, इसलिये प्राणवायु तथा अपानवायु का निरोध न करता हुआ वाणी को बोलता है ॥

भाष्य—इस श्लोक में व्यानरूप प्राण की उद्गीथरूप से उपासना कथन की गई है और प्राण, अपान तथा व्यान का लक्षण किया है अर्थात् जो मुख और नासिका द्वारा बाहर निकलता है वह "प्राण" जो भीतर जाता है वह "अपान" और उक्त दोनों को मिलाने वाले का नाम "व्यान" है, इसी व्यान द्वारा प्राण तथा अपान का निरोध होता है और इन्हीं के निरोधपूर्वक प्राणायाम की विधि कथन कीगई है, अतएव उक्त मंत्र में व्यान की उद्गीथरूप से उपासना करने का अभिप्राय यह है कि जिसप्रकार व्यान प्राणायामादिकों को धारण करता है इसी प्रकार व्यापक परमात्मा सम्पूर्ण पदार्थों को धारण करता है, इसीलिये यहां व्यान की उद्गीथरूप से उपासना कथन कीगई है अर्थात् "व्याप्नोति सर्वंजगदिति व्यानः"=जो सम्पूर्ण जगत् को अपनी व्याप्ति में रखे उसका नाम "व्यान" है, इससे सिद्ध है कि वाणी का निरोध करता हुआ व्यानरूप परमात्मा की उपासना करे ॥

सं०—अब "व्यान" शब्दवाच्य ब्रह्म की वेदरूपता कथन करते हैं:—

या वाक्सर्क्तस्मादप्राणन्ननपानन्नृचमभिव्याहरति यर्क्तत्साम तस्मादप्राणन्ननपानन्साम गायति यत्साम स उद्गीथस्तस्मादप्राणन्ननपानन्नुद्गायति ॥ ४ ॥

अर्थ—जो वाणी है वही ऋग् है, इस कारण प्राणवायु तथा अपानवायु का निरोध करता हुआ ऋचा को उच्चारण करे, जो ऋग् है वही सामवेद है, इस

लिये प्राणवायु तथा अपानवायु का निरोध करता हुआ सामवेद को उद्गाता गाता है, जो साम है वही उद्गीथ है इस कारण प्राण तथा अपानवायु का निरोध करता हुआ ब्रह्मविद् उद्गाता गायन करता है ॥

भाष्य—जो वाणी है वही ऋग् है, यह वर्णन प्रथमखण्ड में कर आये हैं अर्थात् वाक् ऋक्मूलक, ऋग् साममूलक और साम उद्गीथ बोधक है, अधिक क्या सम्पूर्ण पदार्थ उसी ब्रह्म के आधार पर स्थित हैं, इसी भाव को विचारता हुआ उद्गाता उच्चस्वर से गायन करता है, या यों कहो कि व्यानरूप ब्रह्म का प्रतिपादक होने से यहां वाणी को ऋग्वेदरूप कथन किया गया है तथा ऋग्वेद को सामरूपता इस अभिप्राय से कथन कीगई है कि वेद वास्तव में एक है केवल विषय विभाग से उसका भेद है और वह साम उद्गीथरूप है जो उच्चस्वर से गाया जाता है, उक्त वेद का गायन प्राण तथा अपान के निरोधपूर्वक किये जाने से वेद की व्यान के साथ समता कथन की है अर्थात् जैसे वेदोच्चारण प्राण तथा अपान को सम कर देता है इसी प्रकार व्यानरूप प्राण दोनों की समता कर देता है और जैसे परमात्मा अपनी व्यापकशक्ति से सबको स्वाधीन रखता है एवं वेदोच्चारण समय व्यान सब प्राणों को स्वाधीन रखता है ॥

सं०—अब उक्त अर्थ की पुष्टि में अन्य दृष्टान्त कथन करते हैं:—

अतो यान्यानि वीर्य्यवन्ति कर्माणि यथाग्नेर्मन्थनमाजेः सरणं दृढस्यधनुष आयमनमप्राणन्ननपानꣳस्तानि करोत्येतस्य हेतोर्व्यानमेवोद्गीथमुपासीत ॥ ५ ॥

अर्थ—उक्त दृष्टान्त से भिन्न जो अन्य बलवाले कर्म हैं, जैसे अग्नि का मन्थन करना, समभूमि बनाना, दौड़ना तथा दृढ़ धनुष का चढ़ाना आदि, इनको प्राण और अपान के व्यापार को न करता हुआ पुरुष करता है, इस कारण व्यान को ही लक्ष्य रखकर उद्गीथरूप से उपासना करे ॥

भाष्य—व्यान सम्बन्धी कार्य्यों का जो पूर्वोक्त मन्त्र में वर्णन किया है उनसे भिन्न अन्य कर्म यह हैं कि जितने बलवाले काम किये जाते हैं वह सब व्यान द्वारा प्राण और अपान का निरोध करके होते हैं, जैसाकि काष्ठ वा अन्य पदार्थों के संघर्षण से अग्नि का निकालना, समभूमि करना, संग्रामादि में दौड़ना, धनुष का चढ़ाना, खींचना इत्यादि, इन सब कामों में पुरुष जब व्यान द्वारा प्राण और अपान का निरोध करता है तब यह काम होते हैं अन्यथा नहीं, इसी प्रकार व्यान = व्यापक परमात्मा को जब पुरुष उद्गीथरूप से उपासना करता है तभी उसके कार्य्य सिद्ध होते हैं अर्थात् जिसप्रकार व्यान अपनी शक्ति से प्राणापान को स्वाधीन रखता है इसी प्रकार परमात्मा अपनी स्वशक्ति से सब पदार्थों को स्वाधीन रखता है, अतएव सब पुरुषों को उचित है कि व्यान को लक्ष्य रखकर उद्गीथरूप से परमात्मा की उपासना करें ॥

सं०—अब "उद्गीथ" शब्द के प्रत्येक अक्षर को ब्रह्म का प्रतिपादक कथन करते हैं:—

अथ खलूद्गीथाक्षराण्युपासीतोद्गीथ इति प्राण एवोत्प्राणेनह्युत्तिष्ठतिवाग्गीर्वाचो ह गिर इत्याचक्षतेऽन्नं थमन्ने हीद ँ सर्व ँस्थितम् ॥ ६ ॥

अर्थ—उद्गीथ पद में जो २ अक्षर हैं उनकी उपासना करें=विचारे, उद्गीथ में उत्+गी+थ यह तीन अक्षर हैं जिनके पृथक् २ अर्थ यह हैं (प्राणः, एव, उत्) निश्चय करके प्राण "उत" है, क्योंकि प्राण से जीव उठता और इधर उधर गमन करता है (वाक्, गीः) वाक्=वाणी "गी" है, क्योंकि वाणी को गिर कथन करते हैं (अन्नं, थं) अन्न को "थ" कहते हैं, क्योंकि अन्न में यह सब स्थित हैं ॥

भाष्य—इस मन्त्र में उद्गीथाक्षरों के अर्थों का व्याख्यान किया गया है अर्थात् उत्+गी+थ इन तीन अक्षरों से मिलकर "उद्गीथ" शब्द बना है जिनके अर्थ यह हैं, "उत्" का अर्थ प्राण है, क्योंकि प्राण से प्राणी उठकर इधर उधर चलता फिरता तथा अन्य चेष्टा करता है अथवा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्राणन चेष्टा कराने के कारण यहां प्राण के अर्थ परमात्मा हैं अर्थात् जिस प्रकार प्राणों के प्रविष्ट होने पर ही प्राणीमात्र चेष्टा करता है इसी प्रकार परमात्मा की सत्ताद्वारा ही यह सब चराचर पदार्थ चेष्टा करते हैं तथा "गी" का अर्थ वेदवाणी है, जिसप्रकार वाणी से पुरुष बोलकर अपना व्यवहार करता है इसी प्रकार वेदवाणी द्वारा ही परमात्मा का गायन कियाजाता है ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं, वाणी, गिर, वाक्, सरस्वती यह सब पर्य्याय शब्द हैं, गिर के रेफ का लोप होकर दीर्घ गी होजाती है, जिसके अर्थ वाणी के हैं और "थ" का अर्थ अन्न है, क्योंकि अन्न में ही सब प्राणी स्थित हैं अन्न के बिना कोई प्राणी स्थित नहीं रहसक्ता, जैसाकि अन्यत्र भी कहा है कि "अन्न ँहि शरीरम्"=अन्न से ही इस शरीर की स्थिति है, और इसी को ब्रह्म भी कहा है, जैसाकि "अन्नं ब्रह्मेति"=अन्न ही ब्रह्म है अर्थात् अन्न शब्द ब्रह्म का वाचक है, अधिक क्या "उद्गीथ" शब्द सम्पूर्ण वेद और ब्रह्म का बोधक है, इसलिये पुरुष को उचित है कि इसके अर्थों को विचारता हुआ सम्पूर्ण वेदार्थ और तत्प्रतिपाद्य ब्रह्म का ध्यान करे ॥

सं०—अब रूपकालङ्कार से उद्गीथ को विराट्रूप कथन करते हैं:—

द्यौरेवोदन्तरिक्षं गीः पृथिवीथमादित्य एवोद्वायुर्गीरग्निस्थ ँसामवेद एवोद्यजुर्वेदो गीर्ऋग्वेदस्थंदुग्धेऽस्मै वाग्-

दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति य एतान्येवं विद्वानुद्गीथाक्षराण्युपास्त उद्गीथ इति ॥ ७ ॥

अर्थ—द्युलोक "उत्" अन्तरिक्ष "गी" और पृथिवी "थ" है, आदित्य उत् है, वायु गी है, अग्नि थ है, सामवेद ही उत् है, यजुर्वेद गी है, ऋग्वेद थ है, उसी पुरुष के लिये वेदवाणी दूध को दोहती है जो वाणी का दोहने वाला=वेदार्थ का ज्ञाता है, जो पुरुष इन उद्गीथ के अक्षरों को पूर्वोक्त प्रकार से जानता हुआ उपासना करता है वह अन्नवाला और अन्न का भोक्ता होता है, यही उद्गीथ है ॥

भाष्य—इस मन्त्र में उद्गीथाक्षरों को रूपकालङ्कार से विराट्रूप कथन किया है कि द्युलोक उत् है, उत् शब्द का अर्थ ऊर्ध्व है और सब से ऊर्ध्व स्थित भाग को द्युलोक कहते हैं, अतएव सबसे उच्च होने के कारण उत् को द्युलोक कहा है, गी नाम वाणी का है, वाणी=शब्द का स्थान आकाश है और आकाश का नाम अन्तरिक्ष है सो द्युलोक से नीचे भाग का नाम अन्तरिक्ष और वह गी है, पृथिवी थ है, थ का शब्दार्थ स्थिति है अर्थात् सम्पूर्ण प्राणियों की स्थिति का निवासस्थान पृथिवी होने से उसको थ स्थानी कथन किया है, फिर उपरिस्थ होने के कारण सूर्य्य उत् है, वायु गी है, क्योंकि वायु द्वारा ही वाणी का उच्चारण होता है और अग्नि थ है, क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थ अग्नि में ही आरोपित हैं, इसीप्रकार सामवेद उत्, यजुर्वेद गी और ऋग्वेद थ है, अधिक क्या यह तीनों शब्द अनेकार्थक हैं, इन तीनों के वर्णन से सारी विद्याओं का अन्तर्भाव जानना, चाहिये जिसका भाव यह है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड, सब देव और निखिलविद्यायें उसी परमपिता परमात्मा के आश्रित हैं, इस भाव से उपासक उसकी व्यापकता तथा महिमा का अनुसन्धान करे।

तात्पर्य्य यह है कि यदि उद्गीथाक्षरों में रूपोपन्यास किया जाय तो उक्त प्रकार से ही किया जासका है कि उत् द्यौलोक=सब से ऊंचा है, गी=वाणी अन्तरिक्ष हैं, क्योंकि वाणी ही सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में व्याप्त होजाती है, और थ पृथिवी है, क्योंकि पृथिवी ही अधिकरणरूप से सब पदार्थों को स्तम्भन करती हैं तथा सूर्य्य को उत् इस अभिप्राय से कथन किया है कि वह अपनी ज्योति द्वारा सबकी उन्नति करने वाला है और जिसप्रकार वायु सर्वत्र व्याप्त है इसी प्रकार वेदवाणी सर्वत्र व्यापक होने के अभिप्राय से उसको वायुरूप कहा है और सामवेद को उत् इसलिये कथन किया है कि उसके; भावों को गान करन से पुरुष आत्मिक उन्नति को प्राप्त होता है तथा यजुर्वेद को गी इस अभिप्राय से कहा है कि उससे पुरुष वेदवाणी का ज्ञाता होता है और ऋग्वेद को थ कथन करने का आशय यह है कि वह सम्पूर्ण वैदिकज्ञानों का आधार है, या यों कहो कि ऋग्, यजु, साम और अथर्व इन चार विभागों में जो वेद विभक्त है उन विभागों में से ऋग्वेद सबसे बड़ा होने के कारण उसका सबके अधिकरणरूप से वर्णन

कियागया है और अथर्व का नाम यहां इसलिये कथन नहीं किया कि अथर्व यजुर्वेद के अन्तर्गत है, जैसाकि "शेषे यजुःशब्दः" मीमां० २।१।३७ में प्रतिपादन किया है, इसका विशेष विचार "मीमांसार्य्यभाष्य" के इसी स्थल में किया गया है, इसलिये यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं, इस प्रकार उत्, गी, थ इन तीनों अक्षरों के अर्थों को समझकर जो उपासक परमात्मा की उपासना करता है उसके लिये वेदवाणी अपने सम्पूर्ण अर्थों का प्रकाश कर देती है और वही ऐश्वर्यवाला तथा ऐश्वर्य्य का भोक्ता होता है ॥

सं०—अब ईश्वर की प्राप्तिजनक वेद का स्वाध्याय कथन करते हैं:—

अथ खल्वाशीः समृद्धिरुपसरणानीत्युपासीत येन साम्नास्तोष्यन् स्यात्तत्सामोपधावेत् ॥ ८ ॥

अर्थ—ईश्वरप्राप्तिरूप समृद्धि जिन उपायों से होती है उनको "उपसरण" कहते हैं उनका चिन्तन करे और जिस साम से परमात्मा की स्तुति कर्तव्य हो उस साम को विचारे ॥

भाष्य—परमात्मा के उपासन काल में जो २ विषय चिन्तनीय होते हैं उनका नाम "उपसरण" है, या यों कहो कि ईश्वरप्राप्ति के साधनभूत जिन मन्त्रों द्वारा उसका निदिध्यासन किया जाता है उनका नाम "उपसरण" है, कर्म, उपासना तथा ज्ञान इन तीनों को बोधन करने वाले मन्त्र ईश्वरप्राप्ति के साधन कहलाते हैं सो इन तीनों को विचारे अथवा जिस साम से परमात्मा की स्तुति कर्तव्य हो उसका चिन्तन करे ॥

सं०—अब द्वितीय "उपसरण" कथन करते हैं :—

यस्यामृचि तामृचं यदार्षेयं तमृषिं यां देवतामभिस्तोष्यन् स्यात्तां देवतामुपधावेत् ॥ ९ ॥

अर्थ—जिस ऋचा में परमात्मा का वर्णन हो उस ऋचा का चिन्तन करे, जो उस ऋचा का ऋषि हो उस ऋषि के इतिहास का भी चिन्तन करे, जिस मन्त्रस्थ देवता की स्तुति हो उस देवताविषयक चिन्तन करे ॥

भाष्य—इस मन्त्र का आशय यह है कि जिन ऋचाओं में परमात्मा का वर्णन है उन ऋचाओं का चिन्तन करे तथा जिन २ ऋषियों और देवताओं ने ब्राह्मणादि ग्रन्थों द्वारा विशेष व्याख्यान रूप से उनका प्रकाश किया है उनके इतिहास पर दृष्टि डालता हुआ उन २ ऋचाओं को विचारे, वेद का परमपूज्य देव एकमात्र ब्रह्म ही है अन्य नहीं, जैसाकि "एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढः" इत्यादि वाक्यों में अन्यत्र भी स्पष्ट है कि देवता नाम परमात्मा का है परन्तु

अग्नि, सूर्य्य आदि जो देव नाम से कथन किये गये हैं उनका भी उपयोग जान ब्रह्म की महिमा का अनुसन्धान करता हुआ उसी में चित्त को लगावे ।

सं०—अब तृतीय "उपसरण" करते हैं:—

येन छन्दसा स्तोष्यन् स्यात्तच्छन्द उपधावेद्येन स्तोमेन स्तोष्यमाणःस्यात् तंस्तोममुपधावेत् ॥ १० ॥

अर्थ—जिन गायत्र्यादि छन्दों से परमात्मा की स्तुति करनी हो उन छन्दों को विचारे, जिस स्तोम द्वारा स्तुति कर्तव्य हो उस स्तोम का चिन्तन करे ॥

भाष्य—जिन गायत्री आदि छन्दों में परमात्मा की स्तुति कीगई है उनको भलेप्रकार विचारे, क्योंकि विचारपूर्वक ध्यान करना ही उपयोगी होता है और जिस स्तोम से स्तुति करनी हो उसको भी भलेप्रकार विचारे, स्तुति करने वाले मन्त्रसमुदाय का नाम "स्तोम" है, और ऐसे स्तोम प्रायः सामवेद में पाये जाते हैं, गायत्री, बृहती, जगती, उष्णिक, अनुष्टुप्, पंक्ति और त्रिष्टुप् यह सात "छन्द" और उक्थ, शस्त्र, रथन्तर तथा स्तोत्र आदि सामवेद सम्बन्धी "स्तोम" हैं जिनको समय २ पर उद्गाता आदि गाते हैं, इन सबको भलेप्रकार विचारता हुआ परमात्मा में चित्त को स्थिर करे ॥

सं०—अब चतुर्थ "उपसरण" कथन करते हैं:—

यां दिशमभिष्टोष्यन् स्यात्तां दिशमुपधावेत् ॥ ११ ॥

अर्थ—जिस रीति से परमात्मा का स्तवन हो उस रीति को विचारे ॥

भाष्य—परमात्मप्राप्ति का सुगम से सुगम जो प्रकार हो उसी के द्वारा उपासक उसका चिन्तन करे अर्थात् परमात्मा के सच्चिदानन्दादि गुणों द्वारा उसका चिन्तन करे, उसकी रचना द्वारा उसके महत्व का चिन्तन करे अथवा पुरुष के सुख दुःखादि भोगद्वारा उसके न्याय का चिन्तन करे, इत्यादि परमात्मचिन्तन के अनेक उपाय हैं जिनमें से जिसमें उपासक की रुचि हो उसी द्वारा उसको विचारे. जैसाकि "यथाभिमत ध्यानाद्वा" यो० १ । ३९ में वर्णन किया है कि शास्त्रोक्त चित्तस्थिति साधनों के मध्य स्वाभीष्ट साधन में संयम करने से चित्त स्थिर होकर परमात्मप्राप्ति होती है ॥

सं०-अब चित्तवृत्तिनिरोध द्वारा परमात्मोपासन कथन करते हैं:—

आत्मानमन्तत उपसृत्य स्तुवीत, कामं ध्यायन्नप्रमत्तोऽभ्यासो ह यदस्मै स काम: समृद्ध्येत । यत्काम:स्तुवीतेति यत्कामः स्तुवीतेति ॥ १२ ॥

अर्थ-मन को पूर्णरीति से निरोध करके परमात्मा का स्तवन करे, समाहित चित्तवाला अभ्यास जो इस जिज्ञासु के लिये रुचिकर हो वही इसकी कामनाओं को बढ़ाता है, क्योंकि जिस कामना से स्तुति कीजाती है वही कामना उसका लक्ष्य होती है ॥

भाष्य—श्लोक में "यत्कामःस्तुवीतेति" पाठ दोबार खण्ड की समाप्ति वा आदर के लिये आया है, इस श्लोक में चित्तवृत्तिनिरोध द्वारा परमात्मोपासन कथन कियागया है अर्थात् जिज्ञासु को उचित है कि वह चित्तवृत्तिनिरोधपूर्वक परमात्मा का ध्यान करे, जैसाकि "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" यो० १। २ में वर्णन किया है कि परमात्मविषयक ध्यान चित्तवृत्तिनिरोध द्वारा ही होसकता है अन्यथा नहीं, और इसी भाव को "तां योगमिति मन्यन्तेस्थिरामिन्द्रियधारणाम्" कठ० ६। ११ में इस प्रकार वर्णन किया है कि आभ्यन्तर इन्द्रिय=बुद्धि की उस स्थिरता का नाम योग=ध्यान है जिसमें वह चेष्टा नहीं करती, उस समय पुरुष स्वरूप में स्थित होने के कारण क्लेश आदि प्रमाद से रहित होता है, क्योंकि ईश्वरीय गुणों के प्रकाश और क्लेशादिकों के नाश का नाम "योग" है, इसी अभिप्राय से इस श्लोक में यह वर्णन किया है कि मन का भली भांति निरोध करके समाहित चित्तवाला होकर परमात्मा का अभ्यास करे, यदि ऐसा न करेगा तो जो कामनायें उसके हृदय में होंगी वही उसके सामने आकर उसके चित्त को विक्षिप्त करेंगी और ऐसा होने पर वह परमात्मा का पूर्णरीति से ध्यान न करसकेगा, इसलिये जिज्ञासु को उचित है कि सब कामनाओं को दबाकर परमात्मा का ध्यान करे ॥

इति तृतीयःखण्डः समाप्तः

अथ चतुर्थःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-तृतीय खण्ड में अधिदैवत उपासना का वर्णन करके अब इस खण्ड में ओङ्कारप्रतिपाद्य ब्रह्म का प्रकारान्तर से कथन करते हैं:—

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतोमिति
ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम् ॥ १ ॥

भाष्य-इस मन्त्र का अर्थ तथा भाष्य छा० १। १। १ में विस्तारपूर्वक लिख आये हैं वहां ही देखलें, यहां पुनः इस मन्त्र के लिखने का कारण यह है कि ओङ्कारप्रतिपाद्य ब्रह्म के प्रकरण में उद्गीथाक्षरों की मीमांसा तथा अन्य प्रकरणों

का अन्तर पड़जाने के कारण अप्रासङ्गिक दोष की निवृत्ति के लिये पुनरपि उक्त मन्त्र को उद्धृत करके ब्रह्म का प्रकरण चलाया है, इसलिये पुनरुक्ति दोष नहीं ॥

सं०-अब उस ब्रह्मप्राप्ति को आख्यायिकारूप से कथन करते हैं :—

देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशंस्तेछन्दोभिरच्छादयन्यदेभिरच्छादयꣳस्तच्छन्दसांछन्दस्त्वम् ॥ २ ॥

अर्थ-मृत्यु से भयभीत हुए विद्वान् लोग ऋग्, यजु तथा सामरूप चारो वेदों की तीनों विद्याओं में प्रविष्ट हुए, उन्होंने गायत्र्यादि छन्दों से अपने आपको ढांप लिया, या यों कहो कि इन छन्दों से देवताओं ने अपने आपको आच्छादित किया, इसलिये छन्दों को सफल करदिया ।

भाष्य-इस मन्त्र का आशय यह है कि मृत्यु से भयभीत देवों ने ऋग्, यजु, साम तथा अथर्वरूप वेदों में वर्णित कर्म, ज्ञान तथा उपासनारूप त्रयी विद्या का आश्रय लिया अर्थात् उन्होंने वैदिक गायत्र्यादि छन्दों से अपने आपको आच्छादित करलिया, जिसका आशय यह है कि देवों ने वेदों के स्वाध्याय में तत्पर हो आलस्य का परित्याग किया, क्योंकि वेदों का अनभ्यास ही मृत्यु और उनका अभ्यास करना ही जीवन है, जो ब्राह्मण ब्रह्मचर्य्यपूर्वक वेदों के अभ्यास में तत्पर रहते हैं वह मृत्यु का अतिक्रमण कर जाते हैं और जो आलसी हैं वह प्रतिदिन मृत्यु के भय से भयभीत रहते हैं, और इसी भाव को मनुस्मृति में इस प्रकार वर्णन किया है कि वेदों के अनभ्यास से ही मृत्यु ब्राह्मणों को मारता है और अभ्यासी चिरजीवी होता है. अधिक क्या वैदिककर्मोपासना तथा ज्ञान द्वारा देवों ने अपने आपको ऐसा आच्छादित किया कि मृत्युरूपी प्रहार से सर्वथा सुरक्षित रहें और छन्दों के अभ्यास द्वारा उनको भी सफल किया अर्थात् छन्दों का पठनपाठनरूप अभ्यास ही उनके साफल्य का कारण है ॥

सं०-अब उपचार से मृत्यु का देवों को ढूंढ़ना कथन करते हैं :—

तानु तत्रमृत्युर्यथामत्स्यमुदके परिपश्येदेवं पर्य्यपश्यदृचि साम्नियजुषि तेनु विदित्वोर्ध्वा ऋचः साम्नो यजुषः स्वरमेव प्राविशन् ॥ ३ ॥

अर्थ—जैसे मछली को जल में मत्स्यघाती देखता है इसी प्रकार मृत्यु ने उन देवों को उस ऋग्वेद, सामदेव तथा यजुर्वेद में स्थित देखा, वह देव मृत्यु के इस आशय को जानकर ऋग्वेद, सामदेव और यजुर्वेद से ऊपर ओङ्कार को ही प्राप्त हुए ।

भाष्य—जिस प्रकार मत्स्यघाती अनतिगंभीर जल में मत्स्य को देखता है इसी प्रकार मृत्यु ने उन देवों को ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के आश्रय में

देखा, तत्पश्चात् वह देव मृत्यु के कर्तव्य को जान ऋग्, यजु तथा सामवेद से उपरिष्ट होकर स्वर=ओङ्कार में प्रविष्ट हुए अर्थात् मृत्यु ने त्रयीविद्या में स्थिर देवों को मारने के लिये भलेप्रकार खोजा पर देव मृत्यु से डरते हुए ऋग्वेद=परमात्मा की स्तुति में लगे जब स्तुति से मृत्यु का भय दूर न हुआ तो सामवेद द्वारा ब्रह्म का गायन करने लगे, जब उससे भी मृत्यु ने न छोड़ा तो यजुर्वेद में गये और वहां यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान करने लगे, जब अनुष्ठान से भी मृत्यु का भय न मिटा तो ब्रह्म में प्रविष्ट हुए, जिसका आशय यह है कि निर्बीजसमाधि द्वारा ब्रह्म को प्राप्त हुए तब उनका मृत्युरूप भय मिटा, और यह सत्य है, ऋग्, यजु तथा सामरूप त्रयीविद्या केवल धर्म, अर्थ, काम इन तीनों फलों को उत्पन्न करती है और इन तीनों में मृत्यु का भय बराबर बना रहता है, क्योंकि धार्मिक लोग मृत्यु का सामना करने के लिये धर्मपथ पर दृढ़ रहते हैं पर मृत्यु से बच नहीं सके, इसी प्रकार अर्थसञ्चय करने वाले भी मृत्यु का ग्रास होते हैं फिर सन्ततिवर्ग संसार की उत्पत्ति करने वालों की तो कथा ही क्या, केवल मोक्षधर्म ही मृत्यु से बचाता है अन्य कोई भी पदार्थ मनुष्य को मृत्यु की पाश से निर्मुक्त नहीं करसक्ता, इसी अभिप्राय से देवताओं ने ऋग्, यजु तथा साम का सहारा छोड़कर स्वर की शरण ली, वह स्वर कोई अक्षर वा मात्रा नहीं किन्तु स्वर नाम यहां ब्रह्म का है जिसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है कि **"स्वयं राजते इति स्वरः"**= जो स्वयं स्वसत्ता से विराजमान हो उसका नाम **"स्वर"** है, और वह एकमात्र ब्रह्म ही होसक्ता है अन्य नहीं, उक्त ब्रह्म रूप स्वर में देव लोग निर्बीज समाधि द्वारा जब प्रविष्ट होगये तो मृत्यु ने उनका पीछा छोड़ दिया अर्थात् ब्रह्मभाव को प्राप्त देवताओं के लिये फिर मृत्यु का क्या वस चलसक्ता था, स्मरण रहे कि ब्रह्मभाव के अर्थ जीव के ब्रह्म बनजाने के नहीं किन्तु ब्रह्म के आनन्दादि धर्मों को प्राप्त होने के हैं, जैसाकि **"भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच"** ब्र० सू० ४।४। २१ और **"तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्"** ब्र० सू० १। १। ७ इत्यादि सूत्रों में ब्रह्मभाव का कथन किया है कि वह मुक्ति अवस्था में ब्रह्म के साथ मिलकर ब्रह्मानन्दादि भावों को भोगता है, और इसी भाव को महर्षि जैमिनि ने **"ब्राह्मेण जैमिनि-रुपन्यासादिभ्यः"** ब्र० सू० ४।४।५ में इस प्रकार वर्णन किया है कि ब्रह्म के जो अपहतपाप्मादि धर्म हैं उनके धारण करने से ही मुक्ति में जीव ब्रह्म की समता कही जाती है, और वह धृति ही उसके लिये ब्रह्मानन्दोपभोग है, मुक्ति अवस्था में ब्रह्म के आनन्द का वह सुखादिकों के समान भोक्ता नहीं कहाजासक्ता, जैसाकि मीमांसावार्तिक में कुमारिलभट्ट ने लिखा है कि :—

सुखोपभोगरूपश्च यदि मोक्षः प्रकल्प्यते ।
स्वर्ग एव भवद्वेषः पर्य्यायेण क्षयी च सः ॥

अर्थ-यदि सुखभोग करना ही मोक्ष होता तो वह स्वर्गादिकों के समान क्षण२ में नश्वर होता परन्तु ऐसा नहीं, इससे सिद्ध है कि निर्बीजसमाधि द्वारा परमात्मपरायण होना ही "मुक्ति" है, ब्रह्म में निवास, ब्रह्मनिष्ठता, तद्धर्मतापत्ति, ब्रह्मभाव, अपवर्ग और मुक्ति यह सब पर्य्याय शब्द हैं, और इन सब नामों से शास्त्रों ने इसका कथन किया है ।

प्रकृत यह है कि जब पुरुष ब्रह्म को प्राप्त होकर उक्त मोक्ष पद को पालेता है तब उसको मृत्यु का भय नहीं रहता, क्योंकि उस समय उसकी ब्रह्म के साथ समता होजाती है, जैसाकि इसी उपनिषद् में आगे वर्णन किया है कि "सता-सौम्य तदा सम्पन्नो भवति "=उस काल में जीव ब्रह्म को प्राप्त होजाता है, इसमें और युक्ति यह है कि जब समाधि, सुषुप्ति तथा मूर्छादि अवस्थाओं में भी मृत्यु का भय नहीं रहता तब फिर मोक्षावस्था में तो उसके रहने की कथा ही क्या ।

कई एक लोग यहां यह आशङ्का करते हैं कि जो इस वाक्य में ऋगादि वेदों द्वारा मृत्यु का भय न मिटना कथन किया है इससे पाया जाता है कि वेद अपराविद्या के ग्रन्थ हैं इनमें परा=ब्रह्मविद्या का गन्धमात्र भी नहीं ? इसका उत्तर यह है कि वेदों में परा तथा अपरा अर्थात् सांसारिक और पारमार्थिक दोनों प्रकार की विद्यायें पाई जाती हैं, यहां ऋगादि वेदों में छिपकर मृत्यु के भय न मिटने का अभिप्राय यह है कि जब तक पुरुष मोक्ष के साधनों द्वारा ब्रह्मपरायण नहीं होता तबतक केवल वेदों का पठन पाठन उसको मृत्युके भय से नहीं बचा सक्ता, और जो यहां मृत्यु को मत्स्यघाती के दृष्टान्त से वर्णन किया गया है उसका अभिप्राय यह है कि मृत्यु एक अत्यन्त भयानक भाव है जिसके भय से ऋषि, मुनि, राजा प्रजा सब भयभीत हैं और जब तक पुरुष परमात्मपरायण न हो तब तक मृत्यु का भय दूर नहीं होसका इसी भाव को स्फुट करने के लिये मत्स्यघाती का दृष्टान्त दिया है ।

अद्वैतवादी भाष्यकार इस श्लोक का यह अर्थ करते हैं कि जब तक पुरुष वेदत्रयी=कर्मकाण्ड में रहता है तब तक मृत्यु का ग्रास होता है और जब वह ज्ञान में आजाता है तब मृत्यु के भय से बचजाता है उनका यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि ऋगादि वेद केवल कर्मकाण्ड का ही भाण्डार नहीं किन्तु कर्म उपासना तथा ज्ञान इन तीनों का भाण्डार हैं, और यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है किसी एक सम्प्रदायी का नहीं, उक्त तीनो काण्डों का वर्णन वेद में इस प्रकार है कि "कुर्वन्ने-

वेह कर्माणि " यजु०४०।२ इसमें कर्मों का वर्णन " वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं " यजु० ३१।१८इसमें ज्ञान का वर्णन और " क्रतोस्मर क्लिवेस्मर कृतँ स्मर " यजु० ४० । १७ इसमें उपासना का वर्णन है, इत्यादि वेदों में अनेक मन्त्र पाये जाते हैं जिनमें उक्त तीनों काण्डों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है, फिर वेद ज्ञानरहित कैसे कहा जाता है, अतएव इस श्लोक का भाव यही है कि जबतक निदिध्यासनादि कर्मों तथा ब्रह्मानन्दानुभूतिरूप ज्ञान द्वारा परब्रह्मनिष्ठ नहीं होजाता तब तक केवल वेदों का पठन पाठन मृत्यु का बन्धन नहीं छुड़ा सक्ता, क्योंकि वेद ब्रह्मप्राप्ति के साधन और मृत्यु से बचने का साधन एकमात्र ब्रह्मप्राप्ति है ॥

सं०—अब वेदों को ब्रह्मप्राप्ति का साधन कथन करते हैं :—

यदा वा ऋचमाप्नोत्योमित्येवातिस्वरत्येवꣳसामैवं यजुरेष उ स्वरो यदेतदक्षरमेतदमृतमभयं तत्प्रविश्य देवा अमृता अभया अभवन् ॥ ४ ॥

अर्थ—जब ब्रह्मवेत्ता ऋग्वेद को प्राप्त होता है तब ओङ्कार का ही उच्चारण करता है, इसी प्रकार साम तथा यजुर्वेद का अध्ययन करता हुआ प्रथम ओङ्कार का ही उच्चारण करता है, यही निश्चयकरके ब्रह्म है जो अक्षर = अविनाशी, अमृत, अभय है, उस ब्रह्म में प्रवेश करके विद्वान् मृत्यु के भय से रहित होजाते हैं ॥

भाष्य–जब ब्रह्मवित् पुरुष ऋग्वेद का आरंभ करता है तब प्रथम ओङ्कार का ही आदरबुद्धि से उच्चारण करता है, एवं सामवेद तथा यजुर्वेद का अध्ययन जब ब्रह्मवित् पुरुष करता है तब भी ओङ्कार का ही उच्चारण करता है, निश्चयपूर्वक यही स्वर = ब्रह्म है जो यह अविनाशी, अमृत और अभय है उसमें ही प्रविष्ट होकर पूर्वज देव अमृत और अभय को प्राप्त हुए, इसलिये ओङ्कार प्रतिपाद्य ब्रह्म ही सार है और ऋगादि वेद उसकी प्राप्ति के साधन हैं, उसी को प्राप्त होकर देवता अमृत तथा अभय को पाते हैं, या यों कहो कि एकमात्र ब्रह्म प्राप्ति ही अमृतपद की प्राप्ति का हेतु है अन्य किसी पदार्थ से अमृतपद नहीं मिलसक्ता ॥

सं०–अब विद्वान् तथा अविद्वान् सबके लिये ब्रह्मप्राप्ति का समानाधिकार कथन करते हैं :—

स य एतदेवं विद्वानक्षरं प्रणौत्येतदेवाक्षरꣳस्वरममृतमभयंप्रविशतितत्प्रविश्य यदमृता देवास्तदमृतो भवति ॥ ५ ॥

अर्थ–जो इस अविनाशी ब्रह्म को उक्त प्रकार जानता हुआ स्तुति करता है वह इस ही अविनाशी, अमृत तथा अभय ब्रह्म को प्राप्त होता है, जिस प्रकार

उसको प्राप्त होकर विद्वान् अमृत को प्राप्त हुए इसी प्रकार अन्य साधक भी उसमें प्रवेश करके अमृत होते हैं ॥

भाष्य-जो ब्रह्मवेत्ता पुरुष इस अक्षर को जानता हुआ स्तुति करता है वह इसी अविनाशी, अमृत तथा अभय ब्रह्म में प्रविष्ट होता है अर्थात् जिसप्रकार वेद वेदाङ्गों के ज्ञाता देवलोग ब्रह्मनिष्ठ होकर अमृतपद को लाभ करते हैं, इसीप्रकार वैराग्यादि साधनसम्पन्न पुरुष भी उस पद को लाभ करते हैं, क्योंकि ब्रह्मप्राप्ति में सबको समान अधिकार है, जिसप्रकार उसको प्राप्त होकर विद्वान् अमृत को प्राप्त हुए इसी प्रकार अन्य साधक भी उसमें प्रवेश करके अमृत होते हैं।

और जो लोग यह कथन करते हैं कि यहां " देव " शब्द के अर्थ अलौकिक देवयोनि के हैं अर्थात् जो पुरुष अमृतपद को प्राप्त होकर देवलोक में रहते हैं उनको देव कहते हैं? उनका यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने वालों के मत में उक्त प्रकार के देवों को ब्रह्मप्राप्ति कथन करना उनकी अप्रतिष्ठा है अर्थात् देवभाव तो उनके मत में तभी प्राप्त होता है जब वह अमृत होजाते हैं, और जब वह अमृत होगये फिर मृत्यु से डरना ही इस बात को सिद्ध करता है कि देव कोई अलौकिक जाति नहीं किन्तु विद्वानों का नाम ही " देव " है।

और जो लोग प्राचीन विद्वानों का अर्थ यहां " देव " करते हैं और नवीन विद्वानों का अन्य लोग, उनके मत में भी इसकी व्यवस्था इसलिये ठीक नहीं बैठती कि प्राचीन और नवीन होने से अपने अधिकार में कोई भेद सिद्ध नहीं होता, इसलिये " देव " शब्द के अर्थ विद्वान् करना ही ठीक है अन्य नहीं॥

इति चतुर्थःखण्डः समाप्तः

अथ पञ्चमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-चतुर्थखण्ड में ओङ्कारप्रतिपाद्य ब्रह्म का वर्णन करके अब इस खण्ड में प्रणव तथा उद्गीथ को एकार्थवाची कथन करते हैं:-

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इत्यसौ वा आदित्य उद्गीथ एष प्रणव ओमिति ह्येष स्वरन्नेति ॥ १॥

अर्थ-जो उद्गीथ है वह ओङ्कार है, जो प्रणव है वह उद्गीथ है, यह उद्गीथ और प्रणव निश्चयकरके ईश्वर हैं, क्योंकि उक्त दोनों ब्रह्म ही को कथन करते हैं॥

भाष्य-इस श्लोक में यह कथन कियागया है कि जो उद्गीथ है वही प्रणव और जो प्रणव वही उद्गीथ है, और उद्गीथ तथा प्रणव यह दोनों ईश्वर हैं, क्योंकि यह दोनो ओङ्कारवाच्य ब्रह्मसे घनिष्ट सम्बन्ध रखते हैं अर्थात् उक्त दोनों परमात्मा के नाम होने से इनको एकार्थवाची कथन कियागया है और जिस

परमात्मा के यह नाम हैं उसको सम्पूर्ण अज्ञानान्धतम का नाशक होने से "आदित्य" कहागया है और ओङ्कार को परमात्मा का अभिधायक इस अभिप्राय से कथन कियागया है कि वह उच्चस्वर से उच्चारण किया हुआ परमात्मा का गमक होता है, या यों कहो कि वैदिक लोग परमात्मा की आदित्य, प्रणव तथा उद्गीथादि अनेक नामों से उपासना करते हैं, इसलिये इनको ब्रह्म ही कथन किया गया है, और अल्पदर्शी लोग इसी उपासना को सूर्य्य तथा ओङ्कार अक्षर की उपासना समझते हैं परन्तु स्मरण रहे कि यह जड़ोपासना शास्त्र का विषय न होने से अवैदिक है, अतएव एकमात्र परमात्मा की ही उपासना उपादेय होने से सबको कर्तव्य है॥

सं०—अब आख्यायिका द्वारा उक्त उपासना का फल कथन करते हैं:-

एतमुएवाहमभ्यगासिषम्, तस्मान्ममत्वमेकोसीति ह कौषीतकिः पुत्रमुवाच। रश्मीᳬस्त्वंपर्य्यावर्त्तयाद् बहवो वै ते भविष्यन्तीत्यधिदैवतम् ॥ २ ॥

अर्थ-यह प्रसिद्ध है कि कौषीतकी नामा ऋषि ने अपने पुत्र को कहा कि निश्चयकरके इसी ब्रह्म को मैं भलेप्रकार गाता था, इसी कारण मेरा तू एक पुत्र है तू उस प्रसिद्ध परमात्मा को सूर्य की किरण समान सर्वत्र व्यापक समझ कर उपासना कर तेरे भी निश्चय करके बहुत पुत्र होंगे, इसी का नाम "अधिदैवत" उपासना है॥

भाष्य-कौषीतकी ऋषि ने अपने पुत्र को यह उपदेश किया कि हे पुत्र! मैं एकमात्र सर्वव्यापक परमात्मा की ही उपासना करता था जिसका फल यह हुआ कि मेरे गृह में एक योग्य पुत्र तू हुआ इसी प्रकार तू भी सूर्य्य की किरण समान सर्वत्र व्यापक परमात्मा की उपासना कर और विश्वास रख कि तेरे अनेक योग्य पुत्र उत्पन्न होंगे, परमात्मा को सर्वव्यापक समझकर उपासना करने का नाम "अधिदैवत" उपासना है, जिसका पीछे विस्तारपूर्वक वर्णन कर आये हैं।

भाव यह है कि कौषीतकी ने अपने पुत्र को उपदेश किया कि एकमात्र सर्वव्यापक निराकार परमात्मा की उपासना का ही यह फल हुआ कि तू मेरे एक योग्य पुत्र उत्पन्न हुआ किसी जड़ोपास्ति से नहीं, तुम्हारा भी यही कर्तव्य होना चाहिये कि तुम भी एकमात्र उसी परमपिता परमात्मा की उपासना करो किसी जड़ देवता की नहीं।

स्मरण रहे कि यद्यपि परमात्मोपासन का फल आध्यात्मिक है परन्तु पुत्रोत्पत्तिरूपपितृऋण की पूर्त्ति यहां इस अभिप्राय से कथन की है कि प्राकृत जनों की प्रवृत्ति भी उक्त उपासना में अवर्जनीयतया हो, क्योंकि लोक में सर्वसाधा-

रण की प्रवृत्ति पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणारूप एषणात्रय में पाई जाती है इसी अभिप्राय से यह पुत्रोत्पत्तिरूप सांसारिक फल इस श्लोक में कथन कियागया है किसी अन्य अभिप्राय से नहीं ॥

सं०-अब अध्यात्मोपासना कथन करते हैं :—

अथाध्यात्मम्, य एवायं मुख्यः प्राणस्तमु-
द्गीथमुपासीतोमिति ह्येष स्वरन्नेति ॥ ३ ॥

अर्थ-जो यह मुख्य परमात्मा है उसी को लक्ष्य करके उद्गीथ की उपासना करे, क्योंकि यह "ओ३म्" इस प्रकार उच्चारण किया हुआ परमात्मा का तात्पर्य्य रखता है ॥

भाष्य-इस श्लोक में यह कथन किया गया है कि सर्वव्यापक, सर्वोत्तम तथा सबका उपासनीय एकमात्र वही परमपिता परमात्मा है उसी को लक्ष्य रखकर उद्गीथरूप से उपासना करे, क्योंकि उद्गीथ से तात्पर्य्य ब्रह्म का ही है, इसकी समानता पीछे विस्तारपूर्वक वर्णन कर आये हैं, इसलिये यहां अधिक व्याख्यान की आवश्यकता नहीं ॥

सं०-अब उक्त आख्यायिका की पुष्टि में अन्य दृष्टान्त कथन करते हैं :—

एतमु एवाहमभ्यगासिषम्, तस्मान्ममत्वमेको
सीति ह कौषीतकिः पुत्रमुवाच। प्राणाᳫंस्त्वंभूमान-
मभिगायताद् बहवो वै मे भविष्यन्तीति ॥ ४ ॥

अर्थ-कौषीतकी ऋषि अपने पुत्र को बोले कि निश्चयकरके ब्रह्म की ही मैंने उपासना की थी इस कारण मेरे तु एक सुपुत्र उत्पन्न हुआ तु प्राण के समान उसी ब्रह्म की भलेप्रकार उपासना कर कि मेरे वहवः=बहुत पुत्र हों ॥

सं०-अब उद्गीथ के ज्ञाता को अन्य फल कथन करते हैं :-

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः
सः उद्गीथ इति होतृषदनाद्धैवापिदुरुद्गीतमनु-
समाहरतीत्यनुसमाहरतीति ॥ ५ ॥

अर्थ-जो उद्गीथ है वही प्रणव है जो प्रणव है वही उद्गीथ है, जो ऐसा जानते हैं वह निश्चयकरके होता के आसन पर से ही (दुरुद्गीतं) अशुद्धादि दुष्ट गान को पूर्ण कर देते हैं ॥

भाष्य-" अनुसमाहरतीति " पाठ दोवार खण्ड की समाप्ति के लिये आया है, जो उद्गीथ है वही प्रणव और जो प्रणव है वही उद्गीथ है, जो ब्रह्म-विद् पुरुष इस प्रकार जानते हैं वह होता के आसन पर से ही उद्गातृकृत

उद्गीथगान सम्बन्धी दोष को पूर्ण करदेते हैं अर्थात् जो होता इस भाव को भलीभांति जानता है कि प्रणव तथा उद्गीथ एक ही हैं और किसी जड़पदार्थ के बधोक नहीं किन्तु एकमात्र निर्विशेष ब्रह्म के ही प्रतिपादक हैं वह होता होने के योग्य है उससे यदि उद्गीथ के उच्चारण में कोई दोष भी होजाय तो उद्गीथ तथा प्रणव का पूर्णज्ञान उसका मार्जन कर देता है और जो ब्रह्मविद् नहीं वह कदापि होतृसदन के योग्य नहीं होता, क्योंकि अब्रह्मवेत्ता का लक्ष्य ब्रह्म कदापि नहीं होसका, यदि वह होता बनता है तो केवल दक्षिणार्थ बनता है उसका और कोई उत्तम भाव नहीं होता, यदि वह कर्मकाण्डी है तो उसमें इतना ही उच्चभाव होसक्ता है कि मैं इस कार्य्य को भलीभांति पूर्ण करूं और ब्रह्म को लक्ष्य रखकर तो ब्रह्मवेत्ता ही उद्गीथ का गान करता है, जैसाकि :—

ब्रह्म होता ब्रह्म यज्ञा ब्रह्मणा स्वरवोमिताः ।
अध्वर्युर्ब्रह्मणो जातो ब्रह्मणोऽन्तर्हितं हविः ॥

अथर्व० १९ । ५ । ४२ । १

ब्रह्म स्रुचो घृतवतीर्ब्रह्मणा वेदिरुद्धिता ब्रह्म यज्ञस्य ।
तत्त्वं च ऋत्विजो ये हविष्कृतः शमिताय स्वाहा ॥२॥

अर्थ-ब्रह्म ही हवन करने वाला, वही यज्ञ, वही उद्गाता तथा अध्वर्यु और अध्वर्यु ब्रह्म से उत्पन्न हुआ और ब्रह्म में ही हवि पड़ती है, ब्रह्म ही स्रुवा है, ब्रह्म ही वेदी है, ब्रह्म से ही वेदी खोदी जाती है, ब्रह्म ही यज्ञ का तत्व है और जो हवन करने वाले ऋत्विजादि हैं वह भी ब्रह्म ही हैं, एवंविध अभेद को प्राप्त ब्रह्म के लिये यह हवन साधु हो, इत्यादि मन्त्रों में जो ब्रह्म को सर्वात्मभाव से कथन किया है वह अभेदोपासना के अभिप्राय से है, इसी प्रकार उद्गीथगायन समय में भी कोई भेदबुद्धि नहीं रहती, ज्ञानी होता एकमात्र ब्रह्मध्यान में मग्न होकर उद्गीथ का गायन करता है उसके गायन को स्वरादिकों के दोष क्या बिगाड़ सकते हैं क्योंकि वह तो ब्रह्मध्यान में मग्न है उसकी ज्ञानाग्नि ने सब दोषों को दग्ध कर दिया है, इससे यह बात भी स्पष्ट होगई कि उद्गीथ तथा प्रणव किसी जड़ पदार्थ के बोधक होते तो शमविधि की उपासना कदापि कथन न कीजाती, इस भाव का विशेष विवर्ण "तैत्तिरीयोपनिषद्" में किया है, विशेषाभिलाषी वहां देखलें ॥

इति पञ्चमःखण्डः समाप्तः

अथ षष्ठःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-पांचवें खण्ड में प्रणव तथा उद्गीथ को एकार्थवाची वर्णन करके अब इस खण्ड में "अधिदैवतोपासन" कथन करते हैं:-

इयमेवर्गग्निः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढ़ँ साम तस्मादृच्यध्यूढँ सामगीयते । इयमेव साग्निरमस्तत्साम ॥ १ ॥

अर्थ-यह पृथिवी ही ऋग्वेद है, अग्नि के समान सामवेद है, वह सामवेद इस पृथिवी के समान (ऋचि) ऋग्वेद में व्याप्त है इसी कारण ऋग्वेद के सहित सामवेद गाया जाता है, यह पृथिवी ही "सा" है, अग्नि "अम" है, यह दोनों मिलकर "साम" पद बनता है ॥

भाष्य-पृथिवी के समान ऋग्वेद और अग्नि के समान सामवेद है और सामवेद ऋग्वेद के अन्तर्गत है इसी कारण ऋग् सहित साम गाया जाता है "सा" शब्द का अर्थ पृथिवी तथा "अम" शब्द का अर्थ अग्नि है और यह दोनों मिलकर "साम" पद बनता है अर्थात् जिसप्रकार पृथिवी में सामान्यरूप से अग्नि व्याप्त है, इसी प्रकार ऋग्वेद में सामवेद व्याप्त है, इसी अभिप्राय से ऋग् और साम की समता वर्णन की है और पृथिवी को ऋग् तथा अग्नि को साम स्थानीय इस अभिप्राय से वर्णन किया है कि जिस प्रकार ऋग् तथा साम परमात्मा के महत्व का गायन करते हैं इसी प्रकार पृथिवी तथा अग्नि भी उसके महत्व को कथन करते हैं, क्योंकि इनकी रचना परमात्मा की सत्ता से विना कदापि नहीं होसकती, या यों कहो कि पृथिवी ऋग् के समान आश्रय और अग्नि साम के समान तदाश्रित है और यह दोनों मिलकर परमात्मा के महत्व को बतलाते हैं, इसलिये इनको वेदस्थानीय निरूपण किया गया है ॥

सं०-अब अन्तरिक्ष तथा वायु की वेदरूपता कथन करते हैं:—

अन्तरिक्षमेवर्ग्वायुः साम, तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढँ साम । तस्मादृच्यध्यूढँ साम गीयतेऽन्तरिक्षमेव सा वायुरमस्तत्साम ॥ २ ॥

अर्थ—निश्चयकरके ऋग्वेद अन्तरिक्ष समान और सामवेद वायु के समान है और यह वायु समान "सामवेद" अन्तरिक्ष समान "ऋग्वेद" में व्याप्त है, इस कारण ऋग्वेद सम्मिलित सामवेद गाया जाता है, निश्चयकरके "सा" का अर्थ अन्तरिक्ष और "अम" का अर्थ वायु है और यह दोनों मिलकर "साम" पद बनता है ॥

भाष्य—भाव यह है कि जिसप्रकार अन्तरिक्ष अवकाशमय होने से सर्वत्र

व्यापक और वायु तदाश्रित होता है इसी प्रकार विस्तृत ऋग्वेद में सामवेद वायु के समान व्याप्त है, या यों कहो कि जिसप्रकार इस विस्तृत नभोमण्डल में वायु के चलने से सर्वत्र गीतवत् ध्वनि होती है इसी प्रकार सामसम्मिलित ऋग्वेद के गान से वायुसमान साम सर्वत्र फैल जाता है, इसलिये इनकी समानता कथन कीगई है ॥

सं०—अब द्यौ और आदित्य में ऋग् तथा साम की समता कथन करते हैं:—

द्यौरेवर्गादित्यः साम, तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढ ँ साम। तस्मादृच्यध्यूढ ँ साम गीयते, द्यौरेव साऽऽदित्योऽमस्तत्साम ॥ ३ ॥

अर्थ—द्युलोक "ऋग्वेद" तथा आदित्य "सामवेद" है (तत्) वह (एतत्) यह आदित्य सामवेद इस द्युलोक के समान ऋग्वेद में व्याप्त है, इस कारण ऋग्वेद सम्मिलित साम गाया जाता है, द्युलोक ही "सा" तथा "अम" पद का अर्थ आदित्य है और यह दोनों मिलकर साम है ॥

भाष्य—जिसप्रकार सूर्य्य सम्पूर्ण द्युलोक को अपने प्रकाश से प्रकाशित कर देता है इसी प्रकार सामगान सम्पूर्ण ऋग्रूप द्युलोक का सूर्य्यवत् प्रकाशक होने से इनकी समानता कथन कीगई है ॥

सं०—अब चन्द्रमा और नक्षत्रों में ऋग् तथा साम की समता कथन करते हैं:—

नक्षत्राण्येवर्क् चन्द्रमाः, साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढ ँ साम। तस्मादृच्यध्यूढ ँ साम गीयते नक्षत्राण्येव सा चन्द्रमा अमस्तत्साम ॥ ४ ॥

अर्थ—नक्षत्रों के समान "ऋग्वेद" चन्द्रमा के समान "सामवेद" है, चन्द्रमा के समान सामवेद इन नक्षत्रों के समान ऋग्वेद में सम्मिलित है, इसी कारण ऋग्वेद सम्मिलित साम गाया जाता है, नक्षत्र ही "सा" तथा "अम" चन्द्रमा है और यह दोनों मिलकर साम है ॥

भाष्य—इसका आशय यह है कि ऋग्वेद की ऋचायें नक्षत्रों के समान अनन्त हैं और साम अपनी गीतिरूप कौमुदी द्वारा प्रकाशित होने के कारण साम को चन्द्रमा और नक्षत्रों को ऋग् कथन किया गया है और वह दोनों समान हैं ॥

सं०—अब छाया आतप के समान ऋग् तथा साम की सन्धि कथन करते हैं:—

अथ यदेतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैवर्गथयन्नीलं परः कृष्णं तत्साम। तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढ ँ साम। तस्मादृच्यध्यूढ ँ साम गीयते ॥ ५ ॥

अर्थ—जो यह आदित्य की श्वेत दीप्ति है निश्चयकरके वही ऋग्वेद है, और जो अतिशय कृष्ण है वह सामवेद शुक्ल दीप्ति के समान ऋग्वेद में व्याप्त है. इस कारण ऋग्वेद सम्मिलित साम गाया जाता है।

भाष्य—यहां ऋग्वेद को सूर्य्य की शुक्लदीप्ति के समान इसलिये कथन किया है कि ऋग्वेद स्तुति प्रधान होने से सब पदार्थों के प्रकाशरूप ज्ञान का सूचक है और साम गीती प्रधान होने से उस दीप्ति की शोभा को कृष्णरङ्ग के समान बढ़ाता है अर्थात् जिसप्रकार श्वेत और कृष्ण पदार्थ साथ २ रखे हुए एक दूसरे की शोभा को बढ़ाते हैं इसी प्रकार ज्ञान और कर्म यह दोनों एक दूसरे की शोभा को बढ़ाते हैं, इसी भाव को शुक्ल कृष्णरूप से कई एक ग्रन्थकारों ने वर्णन किया है जो अधिक विस्तार होने के कारण नहीं लिखाजाता, या यों कहो कि ऋग् ज्ञानप्रधान होने से शुक्लदीप्ति के समान और साम कर्मप्रधान होने से कृष्णता के समान है और यह दोनों मिलकर एक दूसरे की शोभा को बढ़ाते हैं, अतः दोनों समान हैं॥

सं०—अब उपसंहार में सम्पूर्ण सूर्य्यादि देवों में ब्रह्म की व्यापकता कथन करते हैं:—

अथ यदेवतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैव साऽथ यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्सामाथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रु हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः ॥६॥

अर्थ-अब यह कथन करते हैं कि आदित्य की जो यह श्वेत ज्योति है वही "सा" शब्द वाच्य है और जो नील=अतिशय श्यामता है वह "अम" है और वह साम है और जो यह आदित्य के मध्य में ज्योतिर्मय पुरुष दीखता है जिसके ज्योतिर्मय बाल डाढ़ी मूंछ समान और ज्योति ही जिसके केश सदृश हैं, नख शिख सब ही सुवर्ण=शोभनवर्ण वाला है॥

भाष्य—जो यह आदित्य के मध्य पुरुष दीखता है जिसके श्मश्रु ज्योतिवत् और केश भी ज्योति समान हैं और जो नख शिख सब ही ज्योतिर्मय है अर्थात् देदीप्यमान इस जगत् वा सूर्य्यादि में जो यह सर्वव्यापक ब्रह्म है वह विज्ञान तथा सम्पूर्ण धन ऐश्वर्य्य आदि सुखों का प्रभु है और जो नख से लेकर शिखा पर्य्यन्त ज्योतिर्मय तथा परम शोभनीय है वही सबका उपास्यदेव है।

भाव यह है कि इस मन्त्र में परमपिता परमात्मा की सर्वव्यापकता कथन कीगई है अर्थात् संसार में कोई प्राकृत पदार्थ ऐसा नहीं जो ईश्वर के महत्व का वर्णन न करता हो, सूर्य्य चन्द्र तारागण आदि सभी पदार्थ उसके महत्व का वर्णन करते और वह सब में पूर्णरूप से व्याप्त होरहा है, इसी भाव को स्पष्टतया बोधन करने के लिये इस प्रकरण में सूर्य्यादि दिव्य पदार्थों में रूपक बांधकर परमात्मा का महत्व वर्णन किया गया है कि इस सूर्य्यमण्डल में जो

ज्योतिर्मय पुरुष है वह परमात्मा है उसके केश, श्मश्रु आदि सब ज्योतिर्मय हैं अर्थात् वह परमपुरुष स्वयंप्रकाशस्वरूप है, यह वह भाव है जिसको वेद में "आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्" यजु० ३१।१८ इस वाक्य द्वारा वर्णन किया है कि वह ज्ञानस्वरूप स्वतःप्रकाश है अर्थात् "आदित्यवर्णो यस्य स आदित्यवर्णः"= अविद्यानिवर्तकस्वरूप का नाम "आदित्यवर्ण" है, और यही परमात्मा का वर्ण है अन्य श्वेत पीतादि कोई वर्ण नहीं, इसी भाव को यहां हिरण्यश्मश्रु आदि शब्दों से कथन किया है अथवा जिसप्रकार "वाग्विवृताश्चवेदाः"=वाणी ही वेद है, इस मुण्डकवाक्य में रूपकालङ्कार से वेदों को ईश्वर का मुख वर्णन किया है इसी प्रकार यहां रूपकालङ्कार से ईश्वर के हिरण्यश्मश्रु कथन किये गये हैं साकार के अभिप्राय से नहीं, उक्त वाक्य की व्याख्या "अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्" ब्र० सू० १।१।२० में विस्तारपूर्वक कीगई है, इसलिये यहां विशेष व्याख्यान की आवश्यकता नहीं ॥

सं०—अब रूपकालङ्कार से उक्त पुरुष के चक्षु तथा नाम का कथन करते हैं:—

तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी। तस्योदिति नाम। स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद ॥ ७ ॥

अर्थ-जैसे लालकमल होता है इसी प्रकार ज्योतिर्मय पुरुष के नेत्र हैं, उसका "उत्" यह नाम है, वह सब पापों से पृथक् होकर उदय होता है, जो पुरुष इस प्रकार जानता है वह निश्चय करके सम्पूर्ण पापों से पृथक् होकर उदय होता है ॥

भाष्य—उस परमात्मा के लाल कमल के समान नेत्र हैं "उत्" उसका नाम है और वह सब पापों से पृथक् होकर उदय=प्रकाशित होता है, या यों कहो कि वह निखिलपापगन्ध से रहित है, जो ब्रह्मवेत्ता पुरुष परमात्मा को इस प्रकार जानता है वह भी पापों से पृथक् होकर संसार में प्रकाशित होता है अर्थात् परमात्मा का ज्ञाता सब पापों से पार होजाता है।

इस श्लोक में रूपकालङ्कार से परमात्मा का नाम और नेत्र कथन किये गये हैं जैसाकि हम कई स्थलों में लिख आये हैं, परन्तु कई एक पौराणिक टीकाकार इसके यह अर्थ करते हैं कि "कप्यास पुण्डरीक" कथन करने से यहां साकार बोधन में तात्पर्य्य है और इसी अभिप्राय से पीछे हिरण्यश्मश्रुरूप से उक्त पुरुष का वर्णन किया गया है? इसका उत्तर यह है कि "रूपोपन्यासाच्च" ब्र० सू० १।२।२३ तथा "तद्धर्मोपदेशात्" ब्र० सू० १।१।२० इत्यादि सूत्रों में महर्षि व्यास ने इस विषय वाक्य को स्पष्ट कर दिया है कि यहां परमात्मा का

केवल रूपक बांधा है जिसका फल यह है कि जिज्ञासु उक्त पुरुष के महत्व को भले प्रकार समझ जांय, इसी अभिप्राय से उपनिषदों में अन्यत्र भी कथन किया है कि-"अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्य्यौ" "द्यां मूर्द्धानं यस्य विप्रावदन्ति, खं वै नाभिं चन्द्रसूर्य्यौ च नेत्रे दिशः श्रोत्रे विद्धि पादौ क्षितिश्च सोऽचिन्त्यात्मा सर्वभूत प्रणेता"= अग्नि उसका मुख स्थानीय, चन्द्र सूर्य्य नेत्र स्थानीय हैं द्युलोक मस्तक, आकाश नाभि, दिशायें श्रोत्र और पृथिवी पाद स्थानीय है, एवंविध रूपवाला परमात्मा सब भूतों का आधार है, इसी प्रकार इस श्लोक में भी नाम और नेत्र रूपकालङ्कार से कथन किये गये हैं वास्तव में वह निराकार है, उक्त प्रकार से रूपक बांधकर वर्णन करने का नाम "रूपोपन्यास" है, ऐसे रूपक साकार के साधक नहीं किन्तु परमात्मा को सर्वोपरि बोधन करने के अभिप्राय से हैं, "पुरुष" शब्द के अर्थ यहां परमात्मा के हैं जैसाकि "पुरिशेते इति पुरुषः"= जो पुर नाम ब्रह्माण्ड में शयन करे उसका नाम "पुरुष" अथवा "पूरयतीति पुरुषः"= जो इस सारे ब्रह्माण्ड में व्यापक हो उसका नाम "पुरुष" है॥

सं०-अब उक्त पुरुष में प्रतिपाद्य प्रतिपादकभाव से वेदों का सम्बन्धकथन करते हैं:-

तस्यर्क्च साम च गेष्णौ। तस्मादुद्गीथस्तस्मात्त्वे-
वोद्गातैतस्य हि गाता। स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो
लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां चेत्यधिदैवतम् ॥ ८ ॥

अर्थ-उस व्यापक परमात्मा को गान करनेवाले ऋग्वेद और सामवेदादि हैं इसी कारण वह उद्गीथ कहलाता है, निश्चयकरके उद्गाता ऋत्विक् भी उद्गाता होता है, क्योंकि इसी ब्रह्म का गान करने वाला है, वह ब्रह्म जो इस आदित्य लोक से ऊपर स्थित लोक हैं उनका स्वामी तथा धारण करता है और विद्वानों की कामनाओं का भी पूर्ण करने वाला है, यह "अधिदैवत" उपासना है॥

भाष्य-ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद यह सब उस सर्वव्यापक परमात्मा का गायन करते हैं इसी कारण वह उद्गीथ और इसी कारण उद्गाता ऋत्विक् परमात्मा का गायक कहलाता है, क्योंकि वह उसी का गानेवाला है, जो सूर्य्य से भी ऊपर लोक हैं उनका भी वह शासक है और विद्वानों के मनोरथों का भी पूर्ण करने वाला है, जहां दिव्य पदार्थों में ब्रह्म का व्यापकभाव से

उपासन कथन किया जाता है जैसा कि उक्त श्लोकों द्वारा सूर्य्यादि देवों में ब्रह्म का उपासन वर्णन किया गया है, वहां इस उपासना का नाम "अधिदैवतोपासना" है।

और जो लोग सूर्य्य तथा हिरण्यश्मश्रु आदि वाक्यों द्वारा ईश्वर को साकार सिद्ध करते हैं उनको स्मरण रहे कि यदि यहां सूर्य्यादि जड़ पदार्थों की उपासना अभिप्रेत होती तो इस उपासना का नाम "अधिदैवतोपासना" कदापि न होता, इससे सिद्ध है कि यहां सूर्य्यादिकों में व्यापक भाव से ब्रह्म का ही उपासन वर्णन किया गया है किसी जड़ पदार्थ का नहीं ॥

इति षष्ठः खण्डः समाप्तः

अथ सप्तमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-छवें खण्ड में अधिदैवतोपासना का वर्णन करके अब इस खण्ड में आध्यात्मिक उपासन कथन करते हैं :-

अथाध्यात्मम्, वागेवर्क् प्राणः साम । तदे-तदेतस्यामृच्यध्यूढꣳसाम । तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते । वागेव सा प्राणोऽमस्तत्साम ॥१॥

अर्थ-अब "अध्यात्मोपासन" कथन करते हैं, ऋग्वेद वाणी तथा सामवेद प्राण है और यह सामवेद इस ऋग्वेद में व्याप्त है इसी कारण ऋग्वेद में सम्मिलित सामवेद गाया जाता है, निश्चयकरके "सा" वाणी तथा "अम" प्राण है और यह दोनों मिलकर साम कहाता है।

भाष्य-इस श्लोक में अध्यात्मोपासन वर्णन किया गया है अर्थात् वाणी के समान ऋग्वेद तथा प्राण के समान सामवेद है और यह प्राण समान सामवेद वाक्समान ऋग्वेद के अन्तर्गत होने से ऋचाबद्ध साम गाया जाता है, "सा" का शब्दार्थ वाक् और "अम" का शब्दार्थ प्राण है और यह दोनों मिलकर "साम" बनता है, गत खण्ड में इसका विस्तारपूर्वक वर्णन कर आये हैं अतएव यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं ॥

चक्षुरेवर्गात्मा साम, तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम । तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते । चक्षुरेव साऽऽत्माऽमस्तत्साम ॥ २ ॥

अर्थ—चक्षु ऋग्वेद तथा आत्मा सामवेद है, यह सामवेद इस ऋग्वेद में व्याप्त है इस कारण ऋग्वेद सम्मिलित सामवेद गाया जाता है, चक्षु ही "सा" आत्मा "अम" है और यह दोनों मिलकर साम बनता है ॥

भाष्य—इस श्लोक में उसी पूर्वप्रकृत विषय को स्फुट किया है कि निश्चय करके चक्षु के समान ऋग्वेद और आत्मा * के समान सामवेद है और यह आत्मसमान सामवेद चक्षुसमान ऋग्वेद में सम्मिलित होने के कारण ऋग् सहित साम गाया जाता है "सा" का शब्दार्थ चक्षु तथा "अम" का शब्दार्थ आत्मा है और यह दोनों मिलकर "साम" बनता है ॥

श्रोत्रमेवर्ङ्मनः साम, तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳसाम । तस्मादृच्यध्यूढꣳसाम गीयते । श्रोत्रमेव सा मनोऽमस्तत्साम ॥ ३ ॥

अर्थ—श्रोत्र ही ऋग्वेद के समान तथा मन सामवेद के समान है और यह मन समान सामवेद श्रोत्र समान ऋग्वेद में सम्मिलित है इस कारण ऋग् सहित साम गाया जाता है, "सा" का शब्दार्थ श्रोत्र तथा "अम" का शब्दार्थ मन है और इन दोनों धर्मविशिष्ट "साम" कहा जाता है ॥

अथ यदेतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम । तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳसाम । तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते । अथ यदेवतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैव साऽथ यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्साम ॥ ४ ॥

अर्थ—इस श्लोक में यह कथन किया है कि जो यह चक्षुगत शुक्ल दीप्ति है उसके समान ऋग्, जो अतिशय श्याम दीप्ति है उसके समान सामवेद है और यह साम ऋग्वेद के अन्तर्गत होने से ऋग् सहित गाया जाता है "सा" शब्द का वाच्य नेत्रगत शुक्लदीप्ति तथा "अम" शब्द का वाच्य कृष्णदीप्ति है और यह दोनों मिलकर "साम" शब्द का वाच्य है अर्थात् उभयधर्मविशिष्ट साम है ॥

सं०—अब अक्षिगत पुरुष का कथन करते हैंः—

अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते सैवर्क्तत्साम । तदुक्थं तद्यजुस्तद्ब्रह्म । तस्यैतस्य तदेवरूपं यदमुष्य-रूपं । यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ । यन्नाम तन्नाम ॥५॥

अर्थ—आध्यात्मिकोपासना के अनन्तर अब यह कथन करते हैं कि जो अक्षि=नेत्र में व्यापक पुरुष दृष्टिगत होता है मानो वही ऋग्वेद, वही सामवेद, वही

* यहां "आत्मा" शब्द से तात्पर्य्य चक्षुगत गोलक का है ।

उक्थ, वही यजुर्वेद और वही ब्रह्म है अर्थात् चारो वेद प्रतिपादित जो पुरुष है वही ब्रह्म है,इसका वही रूप है जैसा आदित्य में व्यापक पुरुष का रूप है, जो उसके गायक हैं वही इसके और जो उसका नाम है वही इसका नाम है॥

भाष्य—स्मरण रहे कि यहां "अक्षि" शब्द सब ज्ञानेन्द्रियों का उपलक्षण है अर्थात् जो परमात्मा आदित्य में व्यापक है, जो चन्द्रमा में व्यापक है और जो सारे ब्रह्माण्ड में व्यापक होरहा है, वही पुरुषगत सब इन्द्रियों में व्यापक है, इसी भाव को बृहदा० ५।५।४ में इस प्रकार वर्णन किया है कि "यो यं दक्षिणे अक्षन् पुरुषः तस्य भूरिति शिरः एकं शिरः एकमेतदक्षरम्, भुव इति बाहू द्वौ बाहू द्वेइति अक्षरे स्वरिति प्रतिष्ठा"= जो यह दक्षिण अक्षि में पुरुष है उसका "भू" शिर है, शिर एक होता है भू भी एक अक्षर है "भुवः" उसका बाहु है, बाहु दो होते हैं भुव भी दो अक्षरों का है "स्वर" उसकी प्रतिष्ठा है अर्थात् त्रिभुवनव्यापी वह परमात्मा है और वही ऋग्, यजुः, साम तथा अथर्व चारो वेदों का प्रतिपाद्य है वही सम्पूर्ण लोक लोकान्तरों का ईश है और वही मनुष्य की कामनाओं को पूर्ण करता है, इसलिये उचित है कि उसको सर्वत्र व्यापक समझकर उसीकी उपासना में प्रवृत्त रहें॥

सं०—अब उस परमात्मा का महत्व वर्णन करते हैं:—

स एष ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानाञ्चेति । तद्य इमे वीणायां गायन्त्येतं ते गायन्ति । तस्मात्ते धनसनयः ॥ ६ ॥

अर्थ—जो इस लोक से अधःस्थित लोक हैं उनका भी वही स्वामी है और मनुष्य की कामनाओं को पूर्ण करने वाला है, इसी कारण विद्वान् लोग वीणावाद्य में गाते हैं और वह धनाढ्य होते हैं॥

भाष्य—वही ब्रह्म इस लोक से अधःस्थित लोकों का स्वामी और मनुष्य की कामनाओं का ईशिता है, इसी कारण ब्रह्म के जानने वाले वीणा में इसीको गाते हैं और वह आप्तकाम होते हैं, इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि उसी एकमात्र परमात्मा का ध्यान करें, उसीकी आज्ञापालन और उसी के प्रेम में मग्न रहें ताकि वह हमारी कामनाओं को पूर्ण करे॥

सं०—अब उक्त "आध्यात्मिक" उपासना का फल कथन करते हैं:—

अथ य एतदेवं विद्वान् साम गायत्युभौ स गायति सोऽमुनैव स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्ताᳫँश्चाप्नोति देवकामाᳫँश्च ॥ ७ ॥

अर्थ—अब फल कथन करते हैं कि जो पुरुष उक्त प्रकार से ब्रह्म को जानता हुआ इस सामवेद को गाता है वह आध्यात्मिक तथा अधिदैवत ब्रह्म को गाता है वह पुरुष विज्ञानबल द्वारा निश्चयकरके जो इस लोक से ऊपर लोक हैं उनको और देवकामनाओं को भी प्राप्त होता है ॥

भाष्य-जो पुरुष उक्त प्रकार से ब्रह्म को जानता हुआ सामवेद गायन करता है वह उपरिष्ट लोकों तथा देव कामनाओं को प्राप्त होता है अर्थात् उच्च अवस्था को प्राप्त होकर आनन्दित होता है "लोक" शब्द के अर्थ यहां अवस्थाविशेष के हैं जिसको "तैत्तिरीयोपनिषद्" में भलेप्रकार वर्णन कर आये हैं विशेषाभिलाषी वहां देखलें ॥

सं०-अब ब्रह्मवेत्ता का कर्तव्य कथन करते हैं:—

अथानेनैव ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्ताꣳश्चाप्नोति मनुष्यकामाँश्च । तस्मादुहैवंविदुद्गाता ब्रूयात् ॥ ८ ॥

अर्थ—निश्चयकरके इस ब्रह्मज्ञान से ही जो यह अधोगत लोक हैं उनको भी प्राप्त होता और मनुष्य की कामनाओं को प्राप्त होता है, इस कारण निश्चय पूर्वक इस प्रकार ब्रह्म का जानने वाला उद्गाता अपने शिष्यादिकों को ब्रह्म का उपदेश करे ॥

भाष्य-ब्रह्मवेत्ता जो उच्च अवस्था को प्राप्त होकर मनुष्य कामनाओं को पूर्ण कर चुका है वही उद्गाता बनने के योग्य होता है उसका कर्तव्य है कि वह उस परमपवित्र परमात्मा का अपने शिष्यादिकों में उपदेश करे ताकि उनमें विज्ञान की वृद्धि हो और वह उस पूर्ण परमात्मा को प्राप्त हों जो उच्च से उच्च अवस्था को प्राप्त है ॥

सं०-अब सामगान का प्रकार कथन करते हैं:-

कं ते काममागायानीत्येष ह्येव कामागानस्येष्टे । य एवंविद्वान् सामगायति, सामगायति ॥ ९ ॥

अर्थ-हे यजमान ! तेरी किस कामना को लक्ष्य रखकर ब्रह्म का गान करूं, क्योंकि वही कामनाओं की पूर्त्ति का स्वामी है, जो इस प्रकार जानता हुआ साम गाता है वह अभीष्ट फल को प्राप्त होता है ॥

भाष्य-श्लोक में "सामगायति" पाठ दो वार खण्ड की समाप्ति के लिये आया है, उद्गाता का कथन है कि हे यजमान ! मैं तेरी किस कामना को लक्ष्य रखकर सामगान द्वारा उस परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करूं, क्योंकि वही सब कामनाओं का पूर्ण करने वाला है, जो ब्रह्म को इस प्रकार जानता हुआ सामगाता है वह अपनी कामनाओं का पूरक होता है ।

स्मरण रहे कि जहां आत्मसम्बन्धी पदार्थों में ब्रह्म की व्याप्ति कथन की जाय उसका नाम "आध्यात्मोपासना" और जहां आत्मा से भिन्न सूर्यादि देवों में ब्रह्म की व्याप्ति कथन कीजाय उसका नाम "अधिदैवतोपासना" है, कई एक अल्पदर्शी लोग उक्त उपासनाओं से साकारोपासना समझ लेते हैं सो यह उनकी भूल है, उपनिषद्शास्त्र ब्रह्मविद्या का भाण्डार होने से उसमें निस्सार जड़ोपास्ति का गन्ध कैसे होसकता है, अतएव उनका कथन ठीक नहीं ॥

इति सप्तमःखण्डः समाप्तः

अथ अष्टमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-सप्तम खण्ड में आध्यात्मिक उपासना कथन करके अब इस खण्ड में उद्गीथवेत्ताओं का इतिहास वर्णन करते हैं:-

त्रयो होद्गीथे कुशला बभूवुः शिलकः शालावत्यश्चैकितायनो दाल्भ्यः प्रवाहणोजैवलिरिति । तेहोचुरुद्गीथे वै कुशलाः स्मो हन्तोद्गीथे कथां वदाम इति ॥ १ ॥

अर्थ—प्रसिद्ध है कि उद्गीथ में तीन पुरुष निपुण हुए, शालावान् ऋषि का पुत्र "शिलक" चिकितायन ऋषि का पुत्र "दाल्भ्य" और जीवल का पुत्र" "प्रवाहण" यह तीनों आपस में परस्पर बोले कि उद्गीथ में निश्चयकरके हमलोग निपुण हैं, यदि सबकी सम्मति हो तो उद्गीथ सम्बन्धी विचार करें ॥

भाष्य-शिलक, दाल्भ्य और प्रवाहण यह तीनों ऋषि जो उद्गीथ, विद्या में निपुण थे इन्होंने परस्पर मिलकर विचार किया कि हम तीनों उद्गीथ विद्या के भलेप्रकार जानने वाले हैं यदि सबकी सम्मति हो तो हम लोग प्रश्नोत्तर की रीति से उक्त विद्या सम्बन्धी विचार करें अर्थात् यह जानें कि हम लोगों ने इस विद्या को कहां तक समझा है ॥

सं०-अब उक्त तीनों ऋषि विचार करते हैं:-

तथेति ह समुपविविशुः । स ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच । भगवन्तावग्रेवदतां, ब्राह्मणयोर्वदतोर्वाचꣳश्रोष्यामीति ॥ २ ॥

अर्थ-वह तीनों तथास्तु कहकर समीप बैठगये, प्रसिद्ध जीवल ऋषि का पुत्र प्रवाहण बोला कि हे ऐश्वर्य्य सम्पन्न आप दोनों प्रथम बोलें, विचार करते हुए आप दोनों ब्राह्मणों की वाणी को मैं श्रवण करुंगा ॥

भाष्य-उपरोक्त विचारानन्तर वह तीनों ऋषि समीप बैठगये उनमें से प्रसिद्ध ऋषि प्रवाहण बोला कि हे भगवन् ! प्रथम आप दोनों अपना विचार कहें, आप दोनों ब्राह्मणों का विचार मैं श्रवण करुंगा ॥

स ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमुवाच । हन्त त्वा पृच्छानीति पृच्छेति होवाच ॥ ३ ॥

अर्थ—वह प्रसिद्ध शालावान् ऋषि का पुत्र शिलक चैकितायन ऋषि के पुत्र दाल्भ्य से बोला कि यदि आप उचित समझें तो मैं आपसे पूछूं, इसके अनन्तर दाल्भ्य ने उत्तर दिया कि पूछिये ॥

भाष्य-प्रवाहण के कथनानुसार शालावान् ऋषि का पुत्र शिलक चैकितायन ऋषि के पुत्र दाल्भ्य से बोला कि हे भगवन् ! यदि आप अनुचित न समझें तो मैं आपसे प्रश्न करूं. यह सुनकर दाल्भ्य ने बड़ी उदारता से उत्तर दिया कि आप प्रश्न करें ॥

सं०-अब शिलक और दाल्भ्य ऋषि का प्रश्नोत्तर कथन करते हैं:-

का साम्नो गतिरिति स्वरइति होवाच । स्वरस्य कागतिरिति प्राणइति होवाच । प्राणस्यकागतिरित्यन्नमिति होवाच । अन्नस्य का गतिरित्याप इति होवाच ॥ ४ ॥

अर्थ—प्रश्न-सामवेद का क्या आश्रय है ? उत्तर-स्वर, प्रश्न-स्वर की क्या गति है ? उत्तर-प्राण, प्रश्न-प्राण की क्या गति है ? उत्तर-अन्न, प्रश्न-अन्न की क्या गति है ? निश्चयकरके जल है, यह उत्तर दिया ॥

भाष्य—शिलक ऋषि ने दाल्भ्य ऋषि से प्रश्न किया कि हे भगवन् ! आप यह कथन करें कि सामवेद का कौन आश्रय है ? दाल्भ्य ने उत्तर दिया कि साम का आश्रय स्वर है, क्योंकि साम में स्वर प्रधान होने से वह स्वराधीन कथन किया जाता है, प्रश्न-स्वर का आश्रय क्या है ? उत्तर-प्राण, क्योंकि प्राण के बिना स्वर का उच्चारण नहीं होसकता; प्रश्न-प्राण का आश्रय क्या है ? उत्तर-अन्न, क्योंकि अन्न के बिना प्राण नहीं रहसकते, प्रश्न-अन्न का आश्रय कौन है ? उत्तर-जल, क्योंकि जल के बिना अन्न की उत्पत्ति नहीं होसकती, इस कारण अन्न का आश्रय जल है, गति, आश्रय तथा आधार यह सब पर्य्याय शब्द हैं ॥

स्मरण रहे कि यहां उद्गीथ सम्बन्धी प्रश्न न करके साम सम्बन्धी प्रश्न करने का तात्पर्य्य यह है कि उद्गीथ का ज्ञान वेदों के अधीन है और छान्दोग्य सामवेदीय होने से प्रथम सामवेद सम्बन्धी ही विचार करना आवश्यक था, क्योंकि जबतक किसी विषय के मूल को स्पष्ट न किया जाय तबतक उस विषय का निर्णय होना कठिन है, इसलिये प्रथम सामविषयक प्रश्न करना ही उचित था, यद्यपि चारो वेद स्वर के आश्रित हैं परन्तु यहां गेय होने से सामवेद में स्वर स्पष्टतया प्रतीत होने के कारण साम का आश्रय स्वर कहागया है और "स्वर" शब्द का अर्थ परमात्मा भी है जैसाकि चतुर्थखण्ड में वर्णन किया गया है, स्वर का आश्रम प्राण है, "प्राण" शब्द से तात्पर्य्य यहां शरीरगत वायु का है और वह प्राण, अपान, समान, व्यान तथा उदान भेद से पांच प्रकार का है जिसका वर्णन "ऐतरेयोपनिषद्" में भलेप्रकार कर आये हैं ॥

अपां का गतिरित्यसौ लोक इति होवाच ।
अमुष्य लोकस्य का गतिरिति न स्वर्गं लोक-
मतिनयेदिति होवाच । स्वर्गं वयं लोकꣳ सामा-
भिसंस्थापयामः स्वर्गसꣳस्तावꣳहि सामेति ॥५॥

अर्थ-फिर ऋषि ने पूछा कि जल का आश्रय क्या है ? उत्तर-यह स्वर्गलोक, प्रश्न-स्वर्गलोक का आश्रय कौन है ? उत्तर-उसका अतिक्रमण कोई नहीं करसक्ता अर्थात् उससे ऊपर कोई नहीं, हम लोग भी स्वर्गलोक में ही सामवेद को प्रतिष्ठित मानते हैं, क्योंकि निश्चयकरके स्वर्गलोक की स्तुति करने वाला साम है ॥

सं०—अब शिलक ऋषि कथन करते हैं :—

तꣳह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमुवा-
चाप्रतिष्ठितं वै किल ते दाल्भ्य साम । यस्त्वेतर्हि ब्रूया-
न्मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति मूर्द्धा ते विपतेदिति ॥ ६ ॥

अर्थ-उपरोक्त प्रश्नोत्तर काल में शिलकऋषि दाल्भ्य से बोले कि हे दाल्भ्य ! तेरा साम अप्रतिष्ठित है तू साम के तत्व को नहीं समझता, यदि कोई सामवित्= साम का जानने वाला इस समय तुमसे कहे कि तुमने अनर्थ भाषण किया है तो तेरा अवश्य शिर गिरजायगा, तू इस भाव को भलेप्रकार नहीं जानता अर्थात् तेरा शिर इन उद्गीथ सम्बन्धी उच्चभावों से शून्य = गिरा हुआ है ॥

सं०—अब शिलक दाल्भ्य को उद्गीथ का उपदेश करते हैं:—

हन्ताहमेतद्भगवतो वेदानीति विद्धि होवाचामुष्य

लोकस्य का गतिरिति अयं लोक इति होवाच । अस्य लोकस्य का गतिरिति, न प्रतिष्ठां लोकम-तिनयेदिति होवाच । प्रतिष्ठां वयं लोकꣳ सामा-भिसꣳस्थापयामः प्रतिष्ठासꣳस्तवꣳहि सामेति ॥७॥

अर्थ-हे भगवन् ! आप कृपा करें कि मैं इस सामविद्या को आपके द्वारा जानूं, शिलक ने कहा कि सीखिये, स्वर्गलोक का आश्रय क्या है ? यह लोक, इस लोक का आश्रय कौन है ? पृथिवी, इस लोक को अतिक्रमण करके साम को अन्यत्र कोई नहीं लेजाता, हम भी साम को पृथिवीलोक में स्थापित रखते हैं, क्योंकि पृथिवी की ही स्तुति करने वाला साम है ॥

भाष्य-दाल्भ्य ने शिलक से कहा कि यदि मैं उद्गीथ को नहीं समझा तो कृपाकरके आप मुझको इसका तत्व समझावें, शिलक ने उत्तर दिया कि बड़ी प्रसन्नता से आप इस भाव को मुझसे समझें तब दाल्भ्य ने प्रश्न किया कि स्वर्गलोक का आश्रय कौन है ? शिलक ने उत्तर दिया कि यह लोक, प्रश्न-इस लोक का आश्रय कौन है ? उत्तर-यह पृथिवी है, क्योंकि इसका अतिक्रमण कर साम को कोई अन्यत्र नहीं लेजाता, हम लोग भी इसी पृथिवीलोक में साम को स्थापित करते हैं, क्योंकि पृथिवी का स्तवन करने वाला ही यह साम है ॥

सं०-अब प्रवाहण ऋषि कथन करते हैं:—

तꣳह प्रवाहणो जैवलिरुवाचान्तवद्वै किल ते शालावत्य साम । यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति मूर्द्धा ते विपतेदिति । हन्ताहमेतद्भगवतो वेदानीति विद्धीति होवाच ॥ ८ ॥

अर्थ-शिलक का उत्तर सुनकर जीवल ऋषि का पुत्र प्रवाहण बोला कि हे शिलक ! तेरा सामज्ञान विनश्वर=नाश होने वाला है, तुमने साम का आश्रय ठीक नहीं बतलाया, तेरे इस प्रकार उत्तर को सुनकर कोई सामवित् तुमसे कहे कि तुमको सामज्ञान नहीं तो तुम्हारा शिर नीचा होजायगा, क्योंकि तुम इस भाव को ठीक नहीं समझे, तब शिलक ने प्रवाहण से निवेदन किया कि हे भगवन् ! मैं इस विज्ञान को आपसे जानना चाहता हूं कृपाकरके आप मुझे समझावें तब प्रवाहण ने कहा कि तथास्तु, अवश्य सिखावेंगे ॥

इति अष्टमःखण्डः समाप्तः

अथ नवमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब शिलक प्रवाहण से प्रश्न करते हैं:—

अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच। सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशोह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम् ॥१॥

अर्थ—प्रश्न–इस लोक का आश्रय क्या है, उत्तर–आकाश है, क्योंकि यह सब भूतजात आकाश से ही उत्पन्न होकर अन्त में आकाश में ही लय होजाते हैं, आकाश ही इस सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् से महत्तम है और आकाश ही आश्रय है ॥

भाष्य—शिलक ने महर्षि प्रवाहण से प्रश्न किया कि हे भगवन्! आप यह कथन करें कि इस लोक का आश्रय क्या है? ऋषि ने उत्तर दिया कि इसका आश्रय आकाश है, यहां आकाश नाम ब्रह्म का है, क्योंकि जिसमें सम्पूर्ण प्राणि तथा भूतजात भलेप्रकार अवकाश पावें उसका नाम "आकाश" है, अथवा जो सम्पूर्ण भूतों को प्रकाशित करे उसको "आकाश" कहते हैं, सम्पूर्ण भूतजात उसी ब्रह्म से उत्पन्न होते और उसी में लय होजाते हैं, क्योंकि ब्रह्म ही इस सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् से महत्तम = बड़ा है और वही सबका आश्रय है, अतएव सिद्ध है कि इस लोक का आश्रय वही ब्रह्म है अन्य कुछ नहीं ॥

सं०—अब उक्त ज्ञान का फल कथन करते हैं :—

स एष परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः परोवरीयो हास्य भवति। परोवरीयसो ह लोकाञ्जयति। य एतदेवं विद्वान् परोवरीयाꣳसमुद्गीथमुपास्ते ॥ २ ॥

अर्थ—वह उद्गीथ सर्वोत्तम है, वह अनन्त है जो ब्रह्मवेत्ता इस प्रकार जानता हुआ इस सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म की उपासना करता है उसका आगे और पीछे का जीवन पवित्र होजाता है और निश्चयकरके उत्तरोत्तर अवस्थाओं को जय करता है ॥

भाष्य—वह सर्वोत्तम उद्गीथ = ब्रह्म अनादि अनन्त और परमपवित्र है, जो पुरुष उक्त उद्गीथरूप ब्रह्म को जानता हुआ उपासना करता है उसका जीवन पवित्र होजाता है और निश्चयपूर्वक आगे पीछे की अवस्थाओं को जय कर लेता है अर्थात् प्रकृति से परे जो अतिसूक्ष्म परब्रह्म है उसको जो जान लेता है वह

सब अवस्थाओं को जय करता है, या यों कहो कि उसको जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्त्यादि अवस्थायें तथा अन्य शारीरिक अवस्थायें मोह में नहीं डालसकीं, क्योंकि उसको परमात्मा का तत्वज्ञान होचुका है ॥

सं०—अब उक्त अर्थ की पुष्टि में एक इतिहास वर्णन करते हैं :—

तꣳहैतमतिधन्वा शौनक उदरशाण्डिल्यायोक्त्वोवाच । यावत्त एनं प्रजायामुद्गीथं वेदिष्यन्ते । परोवरीयो हैभ्यस्तावदस्मिंल्लोके जीवनं भविष्यति ॥ ३ ॥

अर्थ—शुनक ऋषि का पुत्र अतिधन्वा नामक ऋषि निश्चयकरके उस उद्गीथ को जानकर अपने शिष्य उदरशाण्डिल्य को उपदेश करता हुआ बोला कि जबतक तेरी सन्तति में से कोई इस उद्गीथ को जानेंगे उनको तभीतक इस लोक में इस जीवन से उच्च जीवन होगा ॥

भाष्य—उद्गीथरूप ब्रह्म के ज्ञाता का जीवन अति पवित्र और उच्च होता है, क्योंकि वह इसलोक के मनुष्यों से अतिश्रेष्ठ मानाजाता है, इसी भाव को इस श्लोक में वर्णन किया है कि अतिधन्वा नामक ऋषि जो इस उद्गीथ के ज्ञाता थे उन्होंने अपने शिष्य उदरशाण्डिल्य को उपदेश किया कि जबतक तेरी सन्तति में से कोई इस उद्गीथ का ज्ञाता न होगा तब तक उसका उच्च जीवन न बनेगा, या यों कहो कि जब तेरे परिवार में इस उद्गीथ के ज्ञाता उत्पन्न होंगे तब उनका इस जीवन से उच्च जीवन होगा ॥

सं०–अब उद्गीथ के ज्ञाता को फल कथन करते हैं:—

तथाऽमुष्मिंल्लोके लोक इति । स य एतमेवं विद्वानुपास्ते, परोवरीय एव हास्यास्मिंल्लोके जीवनं भवति तथाऽमुष्मिँल्लोके लोक इति । लोके लोक इति ॥ ४ ॥

अर्थ—जैसे उद्गीथ के ज्ञाता का जीवन इस लोक में उच्च होता है वैसे ही दूसरे जन्म में भी उच्च स्थान पाता है, सो जो विद्वान् इसप्रकार इस उद्गीथ की उपासना करता है उसका जीवन निश्चयकरके उच्च होता है वैसे ही दूसरे जन्म में भी उत्तम स्थान मिलता है ॥

भाष्य—“ लोके लोक इति ” पाठ दोबार खण्ड की समाप्ति के लिये आया है, इस श्लोक का भाव यह है कि जिसप्रकार उद्गीथ के ज्ञाता का जीवन इस लोक में पवित्र होता है इसीप्रकार दूसरे लोक में भी उच्चस्थान मिलता है, सो जो विद्वान् इस उद्गीथ की उपासना करते हैं उनका जीवन पवित्र होता और इस देहत्याग के अनन्तर भी उनको उत्तम जन्म मिलता है ॥

इति नवमःखण्डः समाप्तः

अथ दशमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—नवम खण्ड में उद्गीथवेत्ताओं का इतिहास वर्णन करते हुए उद्गीथ का भलेप्रकार महत्व वर्णन किया, अब इस खण्ड में एक आख्यायिका द्वारा यज्ञादि कर्मों को ज्ञानपूर्वक अनुष्ठेय कथन करते हैं :—

मटचीहतेषु कुरुष्वाटिक्यासह जाययोषस्तिर्ह
चाक्रायण इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास ॥ १ ॥

अर्थ—टिड्डियों से क्षेत्र के विनाश होने पर कुरु देशवासी भ्रमण में समर्थ अपनी स्त्री केसाथ प्रसिद्ध चक्र ऋषि के पौत्र उषस्ति नामा ऋषि इभ्यग्राम में कुत्सित रूप धारणकर निवास करते थे।

भाष्य—टिड्डी आदि उपद्रवों से कुरुदेश में दुर्भिक्ष होने के कारण उषस्ति नामा ऋषि उस देश को त्यागकर अपनी स्त्री के साथ इभ्यग्राम में जहां धन पुष्कल था वहां निवास करते थे अर्थात् अन्नादिकों के न मिलने से मलिनरूप बने हुए किसी के आश्रय में रहते थे ॥

सहेभ्यं कुल्माषान् खादन्तं विभिक्षे, तꣳहोवाच। नेतोऽ
न्ये विद्यन्ते यच्च ये मे इम उपनिहिता इति ॥ २ ॥

अर्थ–उस प्रसिद्ध उषस्ति ऋषि ने उड़दों को खाते हुए इभ्य नामक धनिक पुरुष से भिक्षा मांगी, तब उस ऋषि से वह धनिक बोला कि जो मैं कुल्माष खा रहा हूं इनसे अन्य नहीं हैं, यह जो मेरे भोजनपात्र में रक्खे हुए हैं इनसे भिन्न नहीं ॥

भाष्य–एकदिन उस प्रसिद्ध उषस्ति नामा ऋषि ने उड़दों को खाते हुए किसी धनवान् पुरुष से भिक्षा मांगी, उस धनिक ने ऋषि से कहा कि मेरे भोजनपात्र में जो खाद्यपदार्थ रखे हुए हैं इनसे अतिरिक्त मेरे यहां कुछ नहीं है, इस कारण मैं आपको भिक्षा देने में असमर्थ हूं और उच्छिष्ट देना अनुचित है, अतएव आपके लिये इस समय में कुछ भी नहीं करसकता ॥

सं० अब ऋषि कथन करते हैं:–

एतेषां मे देहीति होवाच, तानस्मै प्रददौ, हन्तानुपान-
मित्युच्छिष्टं वै मे पीतꣳ स्यादिति होवाच ॥ ३ ॥

अर्थ–इन माषों को मुझे दो, यह प्रसिद्ध ऋषि बोले, इसके अनन्तर इस ऋषि को वह माष देकर कहा कि मुझे करुणा आती है जल भी लीजिये, तब ऋषि ने कहा कि जल मुझको उच्छिष्ट पीना होगा ॥

भाष्य-उषस्ति ऋषि ने कहा कि जो माष तू खा रहा है यही मुझे दे, क्योंकि मैं क्षुधातुर होरहा हूं यह कथन सुनकर उस धनवान् ने वह माष उनको देकर कहा कि बड़े शोक की बात है और मुझे करुणा आती है कि यह उच्छिष्ट माष मुझे आपको देने पड़े हैं अस्तु. इस जल को भी ग्रहण करें, तब ऋषि ने कहा कि इस जल को मैं नहीं लूंगा क्योंकि यदि मैं इस जल को पान करूं तो मुझको अवश्य उच्छिष्ट जल पीने का दोष होगा ॥

सं०-अब इभ्य ऋषि से प्रश्न करता है:-

न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा इति न वा अजीविष्यमिमानखादन्निति होवाच । कामो मे उदपानमिति ॥ ४ ॥

अर्थ-क्या यह माष भी उच्छिष्ट नहीं हैं? इन माषों को न खाऊं तो निश्चय करके नहीं जीऊंगा, इस प्रकार वह ऋषि बोले, और जलपान मेरी इच्छानुसार मिलसक्ता है ॥

भाष्य-जब ऋषि ने इभ्य से उच्छिष्ट माष खाने के लिये ले लिये तब इभ्य ने कहा कि यह उच्छिष्ट जल भी लीजिये, ऋषि ने उत्तर दिया कि यह उच्छिष्ट जल नहीं लूंगा, तब उस इभ्य ने प्रश्न किया कि हे भगवन्! यह माष भी तो उच्छिष्ट हैं इन्हें आपने क्यों ग्रहण किया? तब ऋषि ने उत्तर दिया कि यह माष उच्छिष्ट नहीं, क्योंकि यदि इन माषों को मैं न खाऊं तो प्राण धारण नहीं करसका और मनुष्यजीवन के फलचतुष्टय के लिये प्राणधारण करना आवश्यक है, अतएव उच्छिष्ट माषों के ग्रहण करने में भी कोई दोष नहीं परन्तु जल मुझे मेरी इच्छानुसार सर्वत्र मिलसक्ता है, इसलिये यह उच्छिष्ट जल लेने की मुझको आवश्यकता नहीं ॥

स ह खादित्वाऽतिशेषान् जायाया आजहार । साऽग्र एव सुभिक्षा बभूव, तान् प्रतिगृह्य निदधौ ॥ ५ ॥

अर्थ—वह प्रसिद्ध ऋषि उन माषों को खाकर शेष माषों को अपनी धर्मपत्नी के लिये ले आये परन्तु वह उनके आने से प्रथम ही उत्तम भिक्षा पाचुकी थी इसलिये उन माषों को लेकर रख दिया।

भाष्य-इस प्रकरण में कई लोगों को यह शङ्का होगी कि उक्त ऋषि ने जो उच्छिष्ट अन्न का ग्रहण किया इससे क्या तात्पर्य्य? क्या सबको यह कार्य्य कर्तव्य है अथवा इससे कोई अन्य बात सिद्ध की है? इसका उत्तर यह है कि आपत्काल में उच्छिष्ट अन्न के खाने में कोई दोष नहीं, क्योंकि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष यह मनुष्य जन्म के फलचतुष्टय इस शरीर के धारण करने से ही प्राप्त होते हैं और अन्न के विना यह शरीर स्थिर नहीं रहसका, इसलिये आपत्काल में उच्छिष्टान्न खाने में कोई पाप नहीं. जैसाकि मनुजी ने धर्मशास्त्र में भी

वर्णन किया है कि :—

जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः ।
आकाशमिव पङ्केन न स पापेन लिप्यते ॥

अर्थ-जो मृत्युप्रायः पुरुष जहां तहां से अन्न खाता है वह पाप से लिप्त नहीं होता, जैसा कि आकाश पङ्क से लिप्त नहीं होता, और इसी भाव को बृहदा० ५। १२। १ में इस प्रकार वर्णन किया है कि "शुष्यति वै प्राण ऋतेऽन्नात्"= अन्न के बिना प्राण शुष्क होजाते हैं, इसलिये प्राणों की रक्षार्थ सब स्थानों से अन्न का ग्रहण करलेने में कोई पाप नहीं, इसी अभिप्राय से तैत्तिरीयोपनिषद् में अन्न की इस प्रकार प्रशंसा की है कि :—

अन्नं न निन्द्यात् तद्व्रतम्, अन्नं न परिचक्षीत तद्व्रतम्,
अन्नं बहुकुर्वीत तद्व्रतम्, अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते ॥

अर्थ-अन्न की निन्दा नहीं करनी चाहिये यह व्रत है, अन्न का त्याग नहीं करना चाहिये यह व्रत है, अन्न बहुत उपलब्ध करना चाहिये यह व्रत है, क्योंकि अन्न से ही प्रजायें होती हैं, इसी भाव को लेकर साम० ६। ३। १०। ६ में अन्न के देने का इस प्रकार विधान किया है कि :—

यो मा ददाति स इदेव माऽवदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि ॥

अर्थ-जो विवेकी पुरुष अन्यों को अन्न देकर खाता है वही पुरुष प्राणीमात्र की रक्षा करता है और जो पुरुष लोभवश होकर समर्थ होने पर भी अन्य प्राणियों को न देकर स्वयं ही खाता रहता है उस लोभी अन्न खाने वाले को मैं अन्न खाजाता हूं, अतएव सबको उचित है कि यथाशक्ति प्राणीमात्र को देकर अन्न का भक्षण करना चाहिये, और परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करनी चाहिये कि :-

य इमा विश्वा विश्वकर्मा यो नः पिता ।
अन्नपते अन्नस्य नो देहि ॥ यजु० ३४। ४८

अर्थ-हे परमात्मन् ! आप इन सम्पूर्ण लोकलोकान्तरों की सृष्टि रचने वाले हो, हे अन्नपते ! हम लोगों को आप अन्न दें, अतएव सिद्ध है कि:—

धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राणाःसंस्थितिहेतवः ।
तान्निघ्नता किन्नहतं रक्षता किन्नरक्षितम् ॥

अर्थ-धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की स्थिति का हेतु प्राण हैं सो उन प्राणों के नाश करनेवाले सबको नाश करते हैं और उनकी रक्षा करनेवाले सब की रक्षा करते हैं, इसलिये उचित है कि आपत्तिकाल में उच्छिष्टादि अन्न की मीमांसा नहीं करनी चाहिये, उस समय प्राणों की रक्षार्थ जो कुछ मिलजाय उसीको खाकर परमात्म-

परायण रहें, इसके अतिरिक्त यह बात भलेप्रकार याद रखने योग्य है कि उच्छि- ष्टादि अन्न का आपत्काल में ही ग्रहण है अन्य काल में कोई किसी का उच्छिष्ट न खावे और न कोई किसी को उच्छिष्ट देवे, धर्मशास्त्र के अनुसार आपत्काल से अन्यकाल में उच्छिष्ट का देने और लेने वाला दोनों पापी होते हैं, जैसाकिः—

नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा ।
न चैवात्यशनं कुर्यान्नचोच्छिष्टः क्वचित् व्रजेत् ॥

मनु० २। ५६

अर्थ—न किसी को अपना जूठा पदार्थ दे न किसी से ले और न किसी के भोजन के बीच खावे, न अधिक भोजन करे और न भोजन किये पश्चात् हाथ मुख धोये विना कहीं इधर उधर जाय ॥

सं०—अब उक्त आपद्ग्रस्त ऋषि अपनी भार्या से विचार करते हैं :—

सह प्रातः सञ्जिहान उवाच, यद्बताऽन्नस्य
लभेमहि । लभेमहिधनमात्रा ७ राजाऽसौ
यक्ष्यते, स मा सर्वैरार्त्विज्यैर्वृणीतेति ॥ ६ ॥

अर्थ—वह प्रसिद्ध ऋषि प्रातःकाल उठते ही अपनी स्त्री से बोले कि जो थोड़ासा भोजन मिलजाय तो धन प्राप्त करूं, यहां का राजा यज्ञ करने वाला है वह मुझको पात्र समझकर सम्पूर्ण ऋत्विक् कर्मों के लिये वरेगा और उससे अवश्य धन मिलेगा ॥

भाष्य—श्लोक में " बत " अव्यय खेदार्थ में आया है, वह प्रसिद्ध ऋषि प्रातःकाल उठते ही अपनी स्त्री से बोले कि यदि इस काल में कुछ खाने को अन्न मिलजाय तो आज कुछ धन प्राप्त होने की आशा है अर्थात् यहां का राजा यज्ञ करने वाला है और वह मुझको सब ऋत्विक् कार्य्यों के निरीक्षणार्थ अवश्य स्वीकार करेगा परन्तु घर में कुछ अन्न हो तो उसको खाकर राजा के समीप जाऊं, क्योंकि क्षुधार्त्त होने के कारण यदि वहां न बोलसका तो कदाचित् अवक्ता समझकर मुझको राजा स्वीकार न करे, इसलिये कुछ भोजन मिलजाय तो कृतकार्य्य होने की आशा है ॥

सं०—अब स्त्री कथन करती हैः—

तं जायोवाच, हन्त पत इम एव कुल्माषा इति ।
तान् खादित्वाऽमुं यज्ञं विततमेयाय ॥ ७ ॥

अर्थ—श्लोक में "हन्त" अव्यय खेदार्थ आया है, वह स्त्री अपने पूज्य स्वामी से बोली कि हे पते ! वह ही उच्छिष्ट कुल्माष जो आपने कल सायंकाल

मुझको दिये थे रखे हैं आप इनको ग्रहण करें तब वह ऋषि उन्हीं को खाकर राजा के विस्तारित यज्ञ में गये ॥

तत्रोद्गातॄनास्तावे स्तोष्यमाणानुपोप-
विवेश। स ह प्रस्तोतारमुवाच ॥ ८ ॥

अर्थ-वहां जाकर यज्ञशाला में स्तुति करने वाले उद्गाताओं के समीप बैठगये, वह प्रसिद्ध ऋषि प्रस्तोता ऋत्विक् से बोले कि :—

प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता। ताञ्चेदविद्वान्
प्रस्तोष्यसि, मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति ॥ ९ ॥

अर्थ-हे प्रस्तोता ऋत्विक्! जो देवता प्रस्ताव में विद्यमान है उसको यदि न जानता हुआ तू प्रस्ताव करेगा तो तेरा शिर गिरजायगा ॥

भाष्य-वह ऋषि वहां यज्ञशाला में स्तुति करने वाले उद्गाता आदि ऋत्विजों के समीप बैठगये उसके पश्चात् वह प्रसिद्ध ऋषि प्रथम प्रस्तोता नामक ऋत्विक् से बोले कि हे प्रस्तोता! जो देवता प्रस्ताव कर्म से सम्बन्ध रखता है उसको तू न जानता हुआ प्रस्ताव करेगा तो तेरा शिर अवश्य गिरजायगा अर्थात् तू लज्जित होगा ॥

एवमेवोद्गातारमुवाचोद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता। ताञ्चेद-
विद्वानुद्गास्यसि, मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति ॥ १० ॥

अर्थ-इसीप्रकार वह ऋषि उद्गाता ऋत्विक् से बोले कि हे उद्गाता! जो देवता उद्गीथकर्म = परमात्मोपासन तथा स्तुत्यादि से सम्बन्ध रखता है उसको न जानता हुआ तू यदि उक्त कर्म का उद्गान आरम्भ करेगा तो अवश्यमेव लज्जित होगा ॥

एवमेव प्रतिहर्त्तारमुवाचप्रतिहर्त्तर्या देवता प्रतिहारमन्वा-
यत्ता। ताञ्चेदविद्वान् प्रतिहरिष्यसि, मूर्द्धा ते विपतिष्य-
तीति, ते ह समारतास्तूष्णीमासाञ्चक्रिरे ॥ ११ ॥

अर्थ—प्रतिहर्त्तासम्बन्धी कर्म का नाम "प्रतिहार" है, इसी प्रकार वह ऋषि प्रतिहर्त्ता नामक ऋत्विक् से बोले कि हे प्रतिहर्त्ता! जो देवता प्रतिहार कर्म से सम्बन्ध रखता है यदि उसको न जानता हुआ तू प्रतिहार कर्म करेगा तो तेरा शिर गिर जायगा, वह प्रसिद्ध प्रस्तोता आदि इस प्रकार ऋषि के वचन को सुनकर अपने स्व २ कर्म से निवृत्त हो चुपचाप बैठगये ॥

इति दशमःखण्डः समाप्तः

अथ एकादशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब उक्त ऋषि से यजमान कथन करता है :—

अथ हैनं यजमान उवाच, भगवन्तं वा अहं विविदिषाणीत्युषस्तिरस्मि चाक्रायण इति होवाच ॥ १ ॥

अर्थ-इसके अनन्तर यजमान निश्चयपूर्वक इस ऋषि से बोला कि हे पूजनीय देव ! निश्चयकरके मैं जानना चाहता हूं कि आप कौन हैं ? तब ऋषि बोले कि प्रसिद्ध चाक्रायण ऋषि का पौत्र उषस्तिनामा हूं ॥

भाष्य-उषस्ति नामा ऋषि ने जब राजा के विस्तारित यज्ञ में सब कार्य्यकर्त्ताओं को निरुत्तर कर दिया और वह सब जब स्व २ कर्म से निवृत्त होकर चुपचाप बैठगये तब यजमान राजा ने ऋषि से पूछा कि हे भगवन् ! मैं आपको निश्चयरूप से जानना चाहता हूं कि आप कौन हैं ? तब ऋषि ने उत्तर दिया कि मैं प्रसिद्ध चाक्रायण ऋषि का पौत्र उषस्ति हूं ॥

स होवाच, भगवन्तं वा अहमेभिः सर्वैरार्त्विज्यैः पर्य्यैषिषम्, भगवतो वा अहमवित्याऽन्यानवृषि ॥ २ ॥

अर्थ-वह प्रसिद्ध यजमान बोला कि हे पूजनीय ! आपको ही इन सम्पूर्ण ऋत्विक् कर्म के लिये मैंने अन्वेषण किया परन्तु हे भगवन् ! आपके निश्चित अलाभ से अन्यों को मैंने वरण किया ॥

भाष्य-उक्त ऋषि का नाम आदि सुनकर वह प्रसिद्ध यजमान बोला कि हे भगवन् ! मैंने प्रथम आपको ही सम्पूर्ण ऋत्विक् कर्मों के लिये इतस्ततः अन्वेषण किया था परन्तु आपके न मिलने से मैंने इन सब ऋत्विकों को वरण किया है, मैं अपने को धन्य मानता हूं और मेरा बड़ा भाग्य है कि खोजने पर भी जो नहीं मिले वह सम्प्रति स्वयमेव पधारकर समागत हुए हैं ॥

सं०-अब यजमान प्रधान आचार्य्य होने की ऋषि से प्रार्थना करते हैं:—

भगवा ७ स्त्वेव मे सर्वैरार्त्विज्यैरिति, तथेत्यथतर्ह्येत एव समतिसृष्टाः स्तुवतां यावत्त्वेभ्यो धनं दद्यास्तावन्मम दद्या इति, तथेति ह यजमान उवाच ॥ ३ ॥

अर्थ-हे भगवन् ! अब भी आप ही मेरे सम्पूर्ण ऋत्विक् कर्म के लिये नियुक्त हों, तब ऋषि ने कहा ऐसा ही होगा पर आप ऐसा करें कि यह सब जिनको आप

वरण कर चुके हैं प्रसन्नतापूर्वक मुझको स्वीकारार्थ स्तुति करें और आपका यह कर्तव्य होना चाहिये कि आप इनको जितना धन देवें मुझको भी उतना ही देवें तब स्पष्टतया यजमान बोला कि ऐसा ही होगा ॥

भाष्य-जब यजमान राजा को यह भलेप्रकार परिज्ञान होगया कि यह बहुगुणी और ऋत्विजादि कर्मों में अति निपुण है तब राजा ने निवेदन किया कि हे भगवन्! आप अब मेरे सम्पूर्ण ऋत्विक् कर्मों के निरीक्षणकर्त्ता प्रधान आचार्य्य होवें, क्योंकि आपके न मिलने पर इन सबको वरण किया गया था तब ऋषि ने कहा कि ऐसा ही होगा परन्तु हे राजन्! अब यह कर्तव्य है कि यह सब ऋत्विक् लोग प्रसन्नतापूर्वक मेरी स्तुति करते हुए मेरे वरण होने के लिये प्रार्थना करें और आप इनको जितना धन दें उतना मुझको भी देना, यजमान ने यह सब तथास्तु कहकर स्वीकार किया ॥

सं०-अब "प्रस्तोता" नामक ऋत्विक् ऋषि से प्रश्न करता है :—

अथ हैनं प्रस्तोतोपससाद, प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता। ताञ्चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि, मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥ ४ ॥

भाष्य-यजमान राजा की स्वीकृति के अनन्तर प्रस्तोता नामक ऋत्विक् ने ऋषि के निकट आकर विनयपूर्वक पूछा कि हे भगवन्! आपने मुझसे कहा था कि हे प्रस्तोता! जो देवता प्रस्ताव से सम्बन्ध रखने वाला अर्थात् जिस देवता के लिये प्रस्ताव कियाजाता है उसको न जानता हुआ यदि तू प्रस्ताव करेगा तो तुझको अवश्य लज्जित होना पड़ेगा, सो हे भगवन्! कृपाकरके यह कथन करें कि वह देवता कौन है ॥

सं०-अब ऋषि कथन करते हैं :—

प्राण इति होवाच, सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति। प्राणमभ्युज्जिहते, सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता, ताञ्चेदविद्वान्प्रस्तोष्यो- मूर्द्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति ॥ ५ ॥

अर्थ-वह प्रसिद्ध ऋषि बोले कि प्रस्तावित देवता प्राण है, क्योंकि निश्चयकरके सम्पूर्ण प्राणीजात प्राण में ही निवास करते हैं, और प्रसिद्ध है कि प्राण की ही आज्ञा से उत्पन्न होते हैं, वही यह देवता प्रस्ताव के योग्य है, यदि उसको न जानता हुआ मेरे उक्त कथनानुसार निवारित न होकर प्रस्ताव करता तो तेरा शिर गिरजाता ॥

भाष्य-उषस्ति ऋषि ने उक्त प्रस्तोता के प्रश्न का यह उत्तर दिया कि प्रस्तावित देवता प्राण है अर्थात् "प्राणितियेन सर्वं जगदिति प्राणः"=जो सम्पूर्ण जगत् को प्राणन क्रिया करावे उसका नाम "प्राण" है, सो यहां प्राण नाम ब्रह्म का है, जैसाकि ब्र०सू० १।१।२३ में वर्णन किया है कि "अतएव प्राणः"=पूर्वोक्त हेतुओं से प्राण नाम ब्रह्म का है, और बृहदा० ४।४।१८ में इसप्रकार वर्णन किया है कि "प्राणस्य प्राणम्"=वह जीवगत प्राण का भी प्राण है, इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध है कि प्राण नाम ब्रह्म का है, यह सम्पूर्ण प्राणिजात उसी से उत्पन्न होते, उसी में चेष्टा करते और अन्त में उसी में लय होजाते हैं, वही एकमात्र देव प्रस्ताव योग्य है, यदि उसको न जानता हुआ तू मुझसे निवारित होने पर भी प्रस्ताव करता तो तेरा शिर अवश्य गिरजाता अर्थात् तैने बहुत अच्छा किया कि मेरे कथनानुसार अपने कर्म से उपरत होगया, यदि तू हठात् उक्त कर्म से उपरत न होता तो तेरा वड़ा अनिष्ट होता, क्योंकि यज्ञ के तात्पर्य्य को न जानकर यज्ञ कराना सर्वथा अनुचित है ॥

सं०—अब "उद्गाता" ऋत्विक् ऋषि से प्रश्न करता है :—

अथ हैनमुद्गातोपससादोद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता। ताञ्चेदविद्वानुद्गास्यसि, मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥ ६ ॥

अर्थ-प्रस्तोता की शङ्का का समाधान होने के अनन्तर उद्गाता नामक ऋत्विक् विनयपूर्वक ऋषि के समीप आकर बोले कि हे भगवन्! आपने मुझसे पूछा था कि हे उद्गाता! जो देवता उद्गीथ कर्म से सम्बन्ध रखता है उसको न जानता हुआ यदि तू उद्गीथ कर्म का आरम्भ करेगा ,तो तेरा अवश्य अनिष्ट होगा, सो हे भगवन्! कृपाकरके आप यह कथन करें कि उद्गीथ सम्बन्धी वह कौन देवता है ॥

सं०-अब उक्त ऋषि कथन करते हैं:-

आदित्य इति होवाच, सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यादित्यमुच्चैः सन्तं गायन्ति। सैषा देवतोद्गीथमन्वायत्ता ताञ्चेदविद्वानुदगास्यो मूर्द्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्यमयेति ॥ ७ ॥

अर्थ-वह प्रसिद्ध ऋषि बोले कि उद्गीथ सम्बन्धी देवता आदित्य है, निश्चयकरके यह सब प्राणी उसी सत्यस्वरूप आदित्य को उच्चस्वर से गाते हैं

वही यह देवता उद्गीथ सम्बन्धी है, यदि उसको न जानता हुआ गान करता तो मुझसे उक्त कथनानुसार तेरा शिर गिरजाता ॥

भाष्य-उपस्ति ऋषि ने उद्गाता को उत्तर दिया कि उद्गीथ कर्म का देवता आदित्य है अर्थात् "आसमन्तात् द्योतते प्रकाशते इति आदित्यः"= जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करे उसका नाम "आदित्य" है, सो यहां आदित्य नाम परमात्मा का है, जिसका वर्णन छवें खण्ड में भलेप्रकार कर आये हैं, सब प्राणीमात्र उसी सर्वत्रव्यापक आदित्य=ब्रह्म को उच्चस्वर से गाते हैं और वही यह प्रसिद्ध देवता उद्गीथ से सम्बन्ध रखता है सो हे उद्गाता! उसको तू न जानता हुआ मुझसे निवारित होने पर भी उद्गीथ का गायन करता तो तेरा शिर अवश्य गिरजाता अर्थात् तू बहुत लज्जित होता, सो तुमने अच्छा किया कि तुम अपने कर्म से विरत होगये ॥

सं०-अब "प्रतिहर्ता" नामक ऋत्विक् ऋषि से प्रश्न करता है:-

अथ हैनं प्रतिहर्तोपससाद, प्रतिहर्तर्या देवता प्रतिहारमन्वायत्ता। ताञ्चेदविद्वान् प्रतिहरिष्यसि मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥ ८ ॥

अर्थ-उद्गाता के प्रश्नानन्तर प्रतिहर्ता नामक ऋत्विक् उक्त ऋषि के निकट आकर विनयपूर्वक बोला कि हे भवगन्! आपने मुझसे कहा था कि हे प्रतिहर्ता! जो देवता प्रतिहार कर्म से सम्बन्ध रखता है उसको न जानता हुआ यदि तू प्रतिहारकर्म करेगा तो तेरे लिये अनिष्ट होगा सो कृपाकरके आप यह कथन करें कि वह प्रतिहार सम्बन्धी देवता कौन है ॥

सं०-अब ऋषि उक्त प्रश्न का उत्तर देते हैं:-

अन्नमिति होवाच, सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यन्नमेव प्रतिहरमाणानि जीवन्ति। सैषा देवता प्रतिहारमन्वायत्ता, ताञ्चेदविद्वान् प्रत्यहरिष्यो मूर्द्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति, तथोक्तस्य मयेति ॥ ९ ॥

अर्थ-वह प्रसिद्ध ऋषि बोले कि वह देवता अन्न है, क्योंकि निश्चयकरके यह सम्पूर्ण जीव अन्न को ही खाकर जीते हैं वही यह देवता प्रतिहार सम्बन्धी है, यदि उसको न जानता हुआ तू प्रतिहारकर्म करता तो मुझसे ठीक २ वर्णन होने पर तेरा शिर गिरजाता ॥

भाष्य-"तथोक्तस्य मयेति" पाठ दोबार खण्ड की समाप्ति के लिये

आया है, प्रतिहर्त्ता नामक ऋत्विक् के पूछने पर उषस्ति ऋषि ने उत्तर दिया कि प्रतिहारकर्म का देवता अन्न है अर्थात् उक्त ऋत्विक् परमात्मा से प्रार्थना करे कि हे परमात्मन्! आप हमको प्रभूत अन्न दें, क्योंकि यह सम्पूर्ण प्राणी अन्न को ही खाकर जीते हैं, प्रतिहार सम्बन्धी यही देव हैं, इसको न जानता हुआ यदि तू प्रतिहारकर्म करता तो वह अवश्य अनिष्ट का हेतु होता सो यह तुमने अच्छा किया कि मेरे कहने पर उक्त कर्म से उपरत होगये ॥

इति एकादशःखण्डः समाप्तः

अथ द्वादशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-एकादश खण्ड में उषस्ति ऋषि का प्राणरक्षार्थ उच्छिष्ट अन्न का भक्षण कथन करके अब इस खण्ड में एक आख्यायिका द्वारा प्रभूत अन्न के लाभार्थ सब जीव परमात्मा से प्रार्थना करते हैं :—

अथातः शौव उद्गीथस्तद्ध वकोऽदाल्भ्योऽ
ग्लावो वा मैत्रेयः स्वाध्यायमुद्वव्राज ॥१॥

अर्थ-इस श्लोक में अन्न की प्राप्ति के लिये सब जीव परमात्मा से प्रार्थना का आरम्भ करते हैं, वक्ता, अविनाशी, प्रसन्नचित्त तथा सबका सुहृद्, इत्यादि विशेषणयुक्त जीव प्रथम उस प्रसिद्ध स्वाध्याय को प्राप्त हुआ।

भाष्य-भाव यह है कि जबतक पुरुष स्वाध्याय नहीं करता तबतक उसका हृदय शुद्ध नहीं होता और न वह परमात्मपरायण होसक्ता है, परमात्मपरायण वही पुरुष होता है जो विद्वान् वेदवेत्ता गुरु द्वारा स्वाध्याय करता हुआ अपने कर्तव्य को समझता है, जैसाकि निम्नलिखित मंत्र में गुरुशिष्य का कर्तव्य कथन किया है कि :—

अतिद्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा।
अथापितृन् सुविदत्राँ उपेहि यमेन ये सधमादं मदन्ति ॥

ऋग्० १०। १४। १०.

अर्थ-हे शिष्य! वेदविहित कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड का अनुष्ठान कर जिनके यह वेदरूप चार साधन हैं जो शुद्ध, पवित्र और निर्दोष हैं इनका गुरूपदिष्टमार्ग से स्वाध्याय करो अर्थात् परमविज्ञानी पिता, आचार्य्यादिकों को प्राप्त होओ जो परमात्मपरायण होने के कारण परम आनन्द भोग रहे हैं, इस से सिद्ध है कि वेदों के पठनपाठन द्वारा ही पुरुष परमात्मपरायण होसक्ता है अन्यथा नहीं, और उपासन कर्मकाण्ड के अन्तर्गत होने से वेदों का पठनपाठन

सार्थक है इसीलिये उक्त श्लोक में वर्णन किया है कि उन जीवों ने परमात्मा की उपासना के लिये प्रथम स्वाध्याय करने की चेष्टा की ॥

तस्मै श्वा श्वेतः प्रादुर्बभूव तमन्येश्वान उपसमेत्योचुरन्नं नो भगवानागायत्वशनायाम वा इति ॥ २ ॥

अर्थ-उस परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करने के लिये साधनसम्पन्न शुद्ध अन्तःकरण जीव उपस्थित हुआ, उस मुख्य जीव से अन्य साधारण प्राणी बोले कि आप कृपाकरके हम लोगों के लिये भी परमात्मा से अन्न की प्रार्थना करें, क्योंकि हम लोग बुभुक्षित होरहे हैं ॥

तान् होवाचेहैवमाप्रातरुपसमीयातेति, तद्धवको दाल्भ्योऽग्लावो वा मैत्रेयःप्रतिपालयाञ्चकार ॥ ३ ॥

अर्थ-जब सब प्राणी एकत्रित होकर उस मुख्यजीव के समीप गये तब वह प्रधान जीव उनसे बोला कि तुम लोग प्रातःकाल इसी स्थान पर मेरे पास आओ और वह वक्ता, अविनाशी, प्रसन्नचित्त तथा सबका सुहृद् इत्यादि गुणविशिष्ट प्रधान जीव सब के प्रतिपालन की इच्छा करता हुआ वहीं पर स्थिर रहकर सबकी प्रतीक्षा करने लगा ॥

सं०-अब सब जीवों का मुख्य जीव के समीप जाना कथन करते हैं :—

तेह यथैवेदं बहिष्पवमानेन स्तोष्यमाणः संरब्धाः सर्पन्तीत्येवमाससृपुस्तेह समुपविश्य हिञ्चक्रुः ॥ ४ ॥

अर्थ-जिस प्रकार इस यज्ञादिकर्म में बहिष्पवमान नामक स्तोत्र द्वारा परमात्मा की स्तुति करने वाले उद्गाता आदि ऋत्विक् परस्पर मिलकर चलते हैं इसी प्रकार निश्चय करके वह सब जीव मिलकर चले, और उस प्रधान जीव के समीप बैठकर सामगान करने लगे ॥

भाष्य-प्रातःकाल सब जीव मिलकर साधनसम्पन्न जीव की आज्ञानुसार उसकी सेवा में उपस्थित हुए अर्थात् जिस प्रकार यज्ञादि कर्म में बहिष्पवमान नामक स्तोत्र द्वारा परमात्मा की स्तुति करते हुए उद्गाता आदि ऋत्विक् परस्पर मिलकर चलते हैं इसी प्रकार वह सब जीव सम्मिलित होकर उस प्रधान जीव के समीप पहुंचे और प्रभूत अन्न के लाभार्थ वहीं बैठकर सामगान द्वारा परमात्मा से प्रार्थना करने लगे, अहा! सत्य है, क्या ही अपूर्वभाव इस आख्यायिका में भरा है जो पुरुष शुद्धान्तःकरण द्वारा उस परमपिता परमात्माके समीप जाकर प्रार्थना करते हैं कि हे दयामय! हम अपने अज्ञान से पापी बनकर तुम्हारी शरण में आन पड़े हैं तुम्हारे विना कौन है जो हमको इस पापपिशाच से बचाकर पुण्य का मार्ग दिखलाये, हे सच्चिदानन्द अन्तर्यामिन् प्रभो! हम सब

पतित क्षुधातुर दीन दुःखी तुम्हारे द्वार पर आये हैं आप अपनी करुणा और परम कृपा से हमको अन्नवस्त्रादि दें जिससे हम सुखी रहकर तुम्हारी आज्ञा का पालन करें, तुम्हीं को प्रणाम करें तुम्हारी पूजा भक्ति तथा प्रेम हमारे जीवन का लक्ष्य हो, हम हाथ जोड़कर यही भिक्षा मांगते हैं।

स्मरण रहे कि यह अपूर्व ज्ञान तभी उपलब्ध होसक्ता है जब पुरुष किसी साधनसम्पन्न द्वारा स्वाध्याय करता हुआ परमात्मपरायण हो जैसाकि इस आख्यायिका में एक ब्रह्मवादी जीव को प्राप्त होकर अनेक साधारण जीवों का उद्धार हुआ॥

सं०-अब सब जीव मिलकर सामगान करते हैं :—

ओ३मदाऽमोंऽपिवाऽमोंऽदेवो वरुणः प्रजापतिःसविता २ऽ-न्नमिहा २ हरदन्नपते३ऽन्नमिहा २ऽऽहराऽऽहरो३मिति॥ ५॥

अर्थ-सम्पूर्ण जीव मिलकर इस साम द्वारा परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि हे परमात्मन्! आपके अनुग्रह से हम लोग सुखपूर्वक भोजन करें, हे जगत्पालक परमात्मन्! आपकी कृपा से पान करें, यह हम जीवों की आशा पूर्ण हो, हे भगवन्! आप देव, वरुण, प्रजापति और सविता हैं आप हमें अन्न प्रदान करें, हे अन्नपते! अन्न का दान दीजिये, अधिक क्या कृपाकरके आप अवश्य ही हमको अन्न प्रदान करें ताकि हम अन्न को भक्षण कर सन्तुष्ट रहें, यह हम वारम्वार आपसे विनयपूर्वक प्रार्थना करते हैं॥

इति द्वादशःखण्डः समाप्तः

अथ त्रयोदशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-द्वादशखण्ड में प्रभूत अन्न के लाभार्थ सब जीवों की प्रार्थना कथन करके अब इस खण्ड में "हाउ" "हई" आदि स्तोभाक्षर जो सामगान में आते हैं उनका रहस्य वर्णन करते हैं :—

अयं वाव लोको हा उकारो वायुर्हा इकारश्चन्द्रमा अथकार आत्मेहकारोऽग्निरीकारः॥ १॥

अर्थ—यह ही पृथिवी लोक "हाउकार" नामक स्तोभ है, वायव्य गुणों के उद्देश्य से "हाइकार" शब्द का गान होता है, चान्द्रमस गुणों के उद्देश्य से "अथकार" शब्द का गान होता है, आत्मोद्देश्य से "इहकार" शब्द का और आग्नेय पदार्थों के उद्देश्य से "ईकार" शब्द का गान होता है॥

भाष्य-पृथिवीलोक=पार्थिव गुणों के विज्ञानार्थ "हाउकार" शब्द का गान होता है अर्थात् उक्त शब्द द्वारा ऋत्विक् लोग परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि हे विद्यानिधे ! आप अपनी परम कृपा से हमको वह विज्ञान प्रदान करें कि जिसके द्वारा हम पार्थिव गुणों को जानें, इसी प्रकार "हाइकार" शब्द से यह प्रार्थना है कि आप अपनी कृपा से वायु सम्बन्धी गुणों का विकाश हमारे हृदय में करें, "अथकार" शब्द से चन्द्रमा सम्बन्धी गुणों के लिये तथा "इहकार" शब्द से आत्मोद्देश्य सम्बन्धी प्रार्थना कीजाती है कि हे महान् परमात्मन् ! आप अपनी कृपा से हमारी आत्मा को महान् करें जिससे हम उक्त तत्वों के गुणों को समझकर अपने में धारण कर सकें और "इकार" शब्द द्वारा अग्निसम्बन्धी गुणों की प्रार्थना से तात्पर्य्य है कि हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! आप अपनी करुणा से हमारे आत्मा में वह शक्ति प्रदान करें जिससे हम अग्निसम्बन्धी गुणों को भलेप्रकार जानकर उपयोग में लासकें, यह हमारी नम्रतापूर्वक प्रार्थना है, इसीप्रकार भिन्न २ गुणों के ज्ञानार्थ भिन्न २ शब्दों द्वारा परमपिता परमात्मा से प्रार्थना कीगई है जिसका आशय यह है कि पुरुष परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करता हुआ उक्त विद्याओं के जानने में प्रयत्नवान् हो तभी मनुष्यजीवन का उद्देश्य पूर्ण होसक्ता है अन्यथा नहीं ॥

आदित्य ऊकारो निहवएकारो विश्वेदेवा औहोइकारः प्रजापतिर्हिङ्कारः प्राणःस्वरोऽन्नं या वाग्विराट् ॥ २ ॥

अर्थ-द्युलोकस्थ गुणों के ज्ञानार्थ "ऊकार" आवाहनार्थ "एकार" सूर्य्यादि देवों के गुण ज्ञानार्थ "औहोइकार" याज्ञिक गुणों के ज्ञानार्थ "हिङ्कार" प्राण विद्या के ज्ञानार्थ "स्वर" अन्न प्राप्त्यर्थ प्रार्थना के लिये "या" और सम्पूर्ण जगत् के गुण ज्ञानार्थ "वाग्" नामा स्तोभ गाया जाता है ॥

भाष्य-द्युलोक सम्बन्धी गुणों के ज्ञानार्थ "ऊकार" नामक स्तोभ गाया जाता है अर्थात् उक्त स्तोभ द्वारा परब्रह्म परमात्मा से ऋत्विक् लोग प्रार्थना करते हैं कि हे परमात्मन् ! आप ऐसी कृपा करें कि जिससे हम लोग द्युलोकस्थ गुणों को जानें, इसी प्रकार आवाहन के लिये "एकार" सूर्य्यादि देवों के गुणज्ञानार्थ "औहोइकार" याज्ञिकगुण ज्ञानार्थ "हिङ्कार" प्राण विद्या के ज्ञानार्थ "स्वर" तथा अन्न की प्राप्ति के लिये "या" और सम्पूर्ण जगत् के गुण ज्ञानार्थ अथवा सबके कल्याणार्थ "वाग्" नामक

स्तोभ गाया जाता है, परमात्मा की प्रार्थना समय में जिन२ विषयों को लक्ष्य रखकर जिस २ साम से प्रार्थना कीजाती है उनका नाम "स्तोभ" है, स्मरण रहे कि प्रार्थना तभी सफल होती है जब उस विषय के लिये पूर्णरूप से योग्यता प्राप्त कीजाय अन्यथा नहीं ॥

सं०-अब ब्रह्मप्राप्त्यर्थ गानेवाले "स्तोभ" का कथन करते हैं :—

अनिरुक्तस्त्रयोदशः स्तोभः सञ्चरो हुङ्कारः ॥ ३ ॥

अर्थ-अनिर्वचनीय असीम ब्रह्म के ज्ञानार्थ अन्य सब स्तोभों से सम्बन्ध रखने वाला "हुंकार" नामक स्तोभ गाया जाता है ॥

भाष्य-इस खण्ड में पीछे पृथिवी, चन्द्रमा तथा सूर्य्यप्रभृति पदार्थों के ज्ञानार्थ (१) हा उकार (२) हा इकार (३) अथकार (४) इहकार (५) ईकार (६) ऊकार (७) एकार (८) औहो इकार (९) हिङ्कार (१०) स्वर (११) या (१२) वाक्, यह बारह "स्तोभ" कथन किये गये हैं, अब उक्त श्लोक में विद्यानिधि असीम परमपिता परमात्मा के ज्ञानार्थ यह तेहरवां "हुङ्कार" नामक स्तोभ कथन कियागया है जो सब स्तोभों से सम्बन्ध रखता है अर्थात् सब पदार्थों को जानते हुए अन्त में वही अनिरुक्त जिज्ञासनीय है, क्योंकि उस के विना जाने पुरुष का आत्मा कदापि शान्त नहीं होता और न उसका मनुष्य जीवन सफल होता है और सम्पूर्ण सामगान का तात्पर्य्य भी उसी से है ॥

सं०-अब अन्त में उक्त सामगान का फल कथन करते हैं :—

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं, यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति य एतामेवꣳसाम्नामुपनिषदं वेदोपनिषदं वेद इति ॥ ४ ॥

अर्थ-उक्त स्तोभों के ज्ञाता के लिये वाणी दुग्ध को दुहती है जो वाणी का दुग्ध है और वह अन्न वाला तथा अन्न का भोक्ता होता है जो सामवेद सम्बन्धी इस उपनिषद् को उक्त प्रकार से जानता है ॥

भाष्य-"उपनिषदं वेद इति" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता तथा खण्ड की समाप्ति के लिये आया है, वाणी स्वयं वाणीरूप दूध को दुहकर उस साधक को देती है जो उक्त त्रयोदश स्तोभों का ज्ञाता है अर्थात् उक्त ज्ञाता पुरुष की वाणी में ऐसा अमृतरूप मिठास आजाता है कि सम्पूर्ण संसार के प्राणी उससे प्यार करते हैं, संसार में उसका कोई अनिष्टचिन्तन करने वाला नहीं होता सम्पूर्ण संसार उसका सुहृद् होता है, इसी भाव को योगशास्त्र में इस प्रकार वर्णन

किया है कि "**सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्**" यो॰२।३६=परमात्मपरायण पुरुष की वाणी सत्य के सिद्ध होने पर क्रिया तथा फल का आश्रय होजाती है अर्थात् ऐसा पुरुष यदि अधार्मिक पुरुष को भी अपनी वाणी से "**धार्मिको भव**"=तू धार्मिक होजा, ऐसा कहदे तो वह धार्मिक होजाता है, और दुखी को "**सुखी भव**"=तू सुखी होजा, इस प्रकार कहदे तो वह उसके कथनानुसार आचरण करने से निश्चय सुखी होजाता है, ऐसे पुरुष की वाणी कभी व्यर्थ नहीं जाती किन्तु जो वह कथन करता है वही होजाता है, इसका विस्तारपूर्वक वर्णन "**योगार्य्यभाष्य**" में किया है विशेषाभिलाषी वहां देखलें, उक्त गुणसम्पन्न पुरुष ही ऐश्वर्य्यवान् तथा ऐश्वर्य्य का भोक्ता होता है जो सामवेद सम्बन्धी इस तत्व को जानता है ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे
छान्दोग्योपनिषदार्य्यभाष्ये
प्रथमः प्रपाठकः समाप्तः



ओ३म्

अथ द्वितीयः प्रपाठकः प्रारभ्यते

सं०-प्रथम प्रपाठक में उद्गीथरूप ब्रह्मोपासना का विस्तारपूर्वक वर्णन किया, अब इस प्रपाठक में साम सम्बन्धी विचार आरम्भ करते हुए प्रथम "साम" तथा "असाम" का लक्षण कथन करते हैं:-

समस्तस्य खलु साम्न उपासन ७ साधु, यत्खलुसाधु तत्सामेत्याचक्षते, यदसाधुतदसामेति ॥ १ ॥

अर्थ-निश्चयकरके सम्पूर्ण सामवेद का विचार कल्याणकर है, जो निश्चय करके कल्याणकर है उसको "साम" कहते हैं और जो अश्रेयस्कर है उसको "असाम" कहते हैं ॥

भाष्य-इस श्लोक में सामवेद की महिमा वर्णन कीगई है अर्थात् यह कथन किया गया है कि सम्पूर्ण सामवेद का विचार करना पुरुष के लिये कल्याणकारी है, जो निश्चयकरके कल्याणकारी हो उसको "**साम**" और जो अश्रेयस्कर है उसको "**असाम**" कहते हैं, यह विद्वानों ने इसका लक्षण किया है ॥

सं०-अब उक्त अर्थ को लौकिक उदाहरणों से स्पष्ट करते हैं:-

तदुताप्याहुः साम्नैनमुपागादिति साधुनैनमुपागादित्येव तदाहुरसाम्नैनमुपागादित्यसाधुनैनमुपागादित्येव तदाहुः॥२॥

अर्थ—उसको अन्य वेदवेत्ता भी कथन करते हैं कि साम से इसको प्राप्त हुआ, साधुभाव से इसको प्राप्त हुआ, निश्चयकरके यह कथन करते हैं, असाम से इसको प्राप्त हुआ, असाधुभाव से इसको प्राप्त हुआ, बुद्धिमान् पुरुष ऐसा ही कथन करते हैं ॥

भाष्य-उपरोक्त श्लोक के भाव को इस श्लोक में स्पष्ट किया है अर्थात् "साम" और "असाम" के अर्थ को स्पष्टतया दर्शाया है कि लोक में इनका व्यवहार किस प्रकार होता है, इस भाव को यह श्लोक इस प्रकार वर्णन करता है कि बुधजन उक्त शब्दों का प्रयोग लोक में इस प्रकार करते हैं कि "**साम से इसको प्राप्त हुआ**" जिसका अर्थ यह है कि "**साधुभाव से इसको**

प्राप्त हुआ" अर्थात् "असाधुभाव से इसको प्राप्त हुआ" ऐसा शास्त्रज्ञ पुरुष कथन करते हैं।

सार यह है कि साम के अर्थ "साधु" और असाम के अर्थ 'असाधु' हैं, "साधु" शब्द का अर्थ "उत्तम" और "असाधु" का अर्थ "अनुत्तम" है, जैसाकि लोक में सर्वत्र व्यवहार होता है कि बड़ी उत्तमता से इसको गाकर सुनाया अथवा अनुत्तम रीतिसे इसकेपास गाया इत्यादि, अधिक क्या लौकिक उदाहरणों से भी "साम" शब्द का अर्थ "साधु" ही सिद्ध कियागया है॥

सं०-अब उक्त अर्थ की सिद्धि में अन्य उदाहरण कथन करते हैं :—

अथोताप्याहुः साम नो बतेति यत्साधुभवति साधुबतेत्येव तदाहुरसाम नो बतेतियदसाधुभवत्यसाधु बतेत्येव तदाहुः ॥३॥

अर्थ—इसके अनन्तर और भी आचार्य्य कथन करते हैं कि जब किसी को जो उत्तम पदार्थ प्राप्त होता है तो वह कहता है कि हमको वह उत्तम पदार्थ उसकी कृपा से प्राप्त हुआ है, उत्तम पदार्थ प्राप्त हुआ है ऐसा ही कथन करता है, जब असाधु पदार्थ प्राप्त होता है तो वह यह कहता है कि हमको उसकी कृपा से वह असाम प्राप्त हुआ है, वह ऐसा ही कथन करता है॥

भाष्य-उक्त अर्थ को इस श्लोक में इस प्रकार स्फुट किया है कि जब किसी को कोई साधु=उत्तम पदार्थ प्राप्त होता है तो वह कहता है कि हमको यह साम=उत्तम पदार्थ उस परमात्मा की ओर से प्राप्त हुआ है, और इसके विपरीत असाधु=अकल्याणकर पदार्थ प्राप्त होता है तो वह कहता है कि हमको असाम=अकल्याणकर पदार्थ उसकी ओर से प्राप्त हुआ है अर्थात् असाधु प्राप्त हुआ है।

या यों कहो कि प्रजा के लिये जब कोई शुभ बात होती है तो प्रजा कहती है कि यह हमारे लिये "साम" है और जब अशुभ होता है तो सब कहते हैं कि हमारे लिये "असाम" है अर्थात् साधु नहीं असाधु है॥

सं०-अब उक्त सामज्ञान का फल कथन करते हैं :—

स य एतदेवं विद्वान् साधु सामेत्युपास्तेऽभ्याशो ह यदेनꣳसाधवो धर्मा आ च गच्छेयुरुप च नमेयुः ॥४॥

अर्थ—वह पुरुष जो इस साम को पूर्वोक्त प्रकार से मङ्गलमय जानता हुआ उपासना करता है निश्चय करके इस उपासक को शीघ्र ही जो मङ्गलमय धर्म हैं वह प्राप्त होते हैं और वह उसके स्वाभाविक होजाते हैं॥

भाष्य-इस श्लोक में यह भाव वर्णन कियागया है कि जो पुरुष सामवेद को पूर्वोक्त गुणों सहित मङ्गलमय जानता हुआ उपासता=विचारता है उस उपासक को शीघ्र ही मङ्गलमय धर्म प्राप्त होते हैं और वह धर्म उसके अपने होजाते

हैं अर्थात् फिर उससे संसार में कोई अनिष्ट नहीं होता, वह संसार के सब पदार्थों तथा प्राणियों को साधुदृष्टि से देखता है, या यों कहो कि केवल वेद में ही उसकी सामबुद्धि नहीं होती किन्तु ईश्वररचित सब पदार्थों में उसकी साधुदृष्टि होती है और वह आनन्दित होकर संसार में विचरता है ॥

इति प्रथमःखण्डः समाप्तः

अथ द्वितीयः खण्डः प्रारभ्यते

सं०-प्रथम खण्ड में "साम" का अर्थ तथा उसके ज्ञान का महत्व वर्णन करके अब इस खण्ड में पृथिवी आदि लोकलोकान्तरों में पंचविध साम की उपासना कथन करते हैं :—

लोकेषु पञ्चविधꣳसामोपासीत, पृथिवी हिङ्कारोऽग्निःप्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथ आदित्यः प्रतिहारो द्यौर्निधनमित्यूर्ध्वेषु ॥ १ ॥

अर्थ—पृथिवी आदि लोकों के मध्य पंचविध साम को विचारे, पृथिवी को हिङ्कार रूप से, अग्नि को प्रस्ताव रूप से, अन्तरिक्ष को उद्गीथ रूप से, आदित्य को प्रतिहाररूप से तथा द्युलोक को निधनरूप से विचारे और इस व्यवस्था को एक दूसरे से ऊपर समझे ॥

भाष्य—पृथिवी, अग्नि, अन्तरिक्ष, आदित्य और द्यौ इन पांच लोकलोकान्तरों के मध्य हिङ्कार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन, इस पांच प्रकार के साम को विचारे अर्थात् सामगीति के जो यह पांच विभाग हैं इनका भलेप्रकार चिन्तन करे, दो वा अधिक उद्गाता मिलकर जिस साम को गाते हैं उसका नाम "हिङ्कार" है, इस सामगान में उद्गाता लोग "हिं" वा "हुं" शब्द का अधिक उच्चारण करते हैं इसलिये भी इसको "हिङ्कार" कहते हैं, प्रस्तोता जिस साम को गाता है उसका नाम "प्रस्ताव" उद्गाता जिस साम को गाता है उसका नाम "उद्गीथ" प्रतिहर्त्ता जिसका गान करता है उसका नाम "प्रतिहार" और जिसको सब मिलकर गाते हैं उसका नाम "निधन" है, पृथिवीलोक को हिङ्काररूप से विचारने का तात्पर्य्य यह है कि इस पृथिवीलोक में उस परमपिता परमात्मा की विचित्र रचना का भलेप्रकार अनुसन्धान करता हुआ उसकी महिमा को सामगान द्वारा लोगों पर प्रकट करे जिससे लोग परमात्मपरायण होकर मनुष्यजीवन सफल करें अथवा इस पृथिवीलोक

की रचना के तत्व को विचारता हुआ सामगान द्वारा चित्त को प्रफुल्लित करके उसकी भक्ति में लगावे, इसी प्रकार फिर अग्नि के तत्व को विचारे, फिर अन्तरिक्ष लोक का चिन्तन करे पुनः आदित्यलोक फिर द्युलोक और सब से पश्चात् ऊर्ध्वलोक का चिन्तन करे, इस प्रकार क्रम से ऊपर२ विचारता जाय, ऐसा करने वाला परमात्मा को पालेता है और एक साथ उपरि लोकों का चिन्तन करने वाला वहां नहीं पहुँचसक्ता वह योगभ्रष्ट पुरुष की नाईं नीचे गिरकर पतित होजाता है, इससे सिद्ध है कि नियमानुसार पौढ़ी२ चढ़ने वाला ही पथ से पतित न होकर अपने लक्ष्य को प्राप्त होता है, यही भाव इस श्लोक में वर्णन कियागया है ॥

सं:—अब अधोमुख लोकविषयक कथन करते हैं :—

अथाऽऽवृत्तेषु, द्यौर्हिङ्कार आदित्यः प्रस्तावोऽन्तरिक्ष-मुद्गीथोऽग्निः प्रतिहारः पृथिवी निधनम् ॥ २ ॥

अर्थ—अब अधोमुख लोकों का क्रम कथन करते हैं कि द्युलोक को हिङ्कार रूप से, आदित्य लोक को प्रस्तावरूप से, अन्तरिक्ष को उद्गीथरूप से, अग्नि को प्रतिहार रूप से, और पृथिवी को निधन रूप से विचारे ॥

भाष्य—उपरोक्त श्लोक में ऊर्ध्वमुख लोकों का वर्णन करके इस श्लोक में अधोमुख लोकों का कथन किया है कि द्युलोक को हिङ्काररूप से विचारे जिसका तात्पर्य्य यह है कि जैसे उद्गाता लोग हिङ्कारविधि का सम्पादन करते हैं इसी प्रकार मानो द्युलोकस्थ तारागण तथा नक्षत्रादि सब मिलकर उसी महान् परमात्मा के ऐश्वर्य्य का गायन कर रहे हैं, इस भाव को विचारता हुआ पुरुष उसकी महिमा का सामगान द्वारा अनुसन्धान करे, इसी प्रकार आदित्यलोक को प्रस्तावरूप से विचारने का तात्पर्य्य यह है कि जिसप्रकार प्रस्तोता लोग सामगान द्वारा प्रस्ताव करते हैं कि उठो उस महान् परमपिता परमात्मा की शरण में आओ जिसका ऐश्वर्य्य सर्वत्र भासित होरहा है, एवं मानो सूर्य्य उदय होकर सब प्राणियों को उपदेश करता है कि उठो, जागो निद्रा का त्याग करके उस ईश्वर की महिमा का अवलोकन करो जो तुम्हारा नियन्ता और सर्वरक्षक है, इस प्रकार प्रस्ताव करता हुआ सूर्य्य उदय होता है, अन्तरिक्ष को उद्गीथरूप द्वारा चिन्तन करने का अभिप्राय यह है कि जिसप्रकार ऋत्विक् लोग उच्चस्वर से गान करते हुए उद्गीथ कर्म को समाप्त करते हैं इसी प्रकार अन्तरिक्षस्थ वायु, मेघ तथा विद्युत् आदि सब उच्चस्वर से उसकी महिमा को गाते हुए भासमान होरहे हैं, एवं अग्नि को प्रतिहार इस अभिप्राय से कथन किया है कि जिसप्रकार प्रतिहर्त्ता सामगान करता हुआ यज्ञशेष का वितरण करता है इसी प्रकार अग्नि हुत पदार्थों को यथाभाग बांट देता है, इस प्रकार अग्नि तत्व को विचारता हुआ परमात्मचिन्तन करे, एवं क्रमागत चिन्तन

करता हुआ सब से पीछे पृथिवी लोक को विचारे, क्योंकि अधोमुख लोकों में सब से ऊपर पृथिवी लोक है अर्थात् पृथिवी लोक में परमात्मा की महिमा का अनुसन्धान करता हुआ सामगान द्वारा परमात्मा में चित्त स्थिर करे, इसी भाव को अलङ्कार द्वारा अथर्व० ९। ३। ६ में इस प्रकार वर्णन किया है कि:—

तस्मा उषा हिङ्कृणोति सविताप्रस्तौति ॥१॥
बृहस्पतिरूर्जयोद्गायतित्वष्टापुष्ट्या प्रतिहरति
विश्वेदेवा निधनम् ॥ २ ॥

अर्थ—उस परमपिता परमात्मा के यश को गायन करने के लिये उषा=प्रातःकाल मानो हिङ्कारविधि को पूर्ण करता है, सूर्य्य प्रस्तावविधि, मध्यान्ह सूर्य्य पूर्ण ज्योतियुक्त होकर उद्गीथ विधि, अपरान्ह सूर्य्य पुष्टि प्रदान द्वारा प्रतिहार विधि और सायंकाल में विश्वेदेवा=सम्पूर्ण प्राणी मानो निधन साम को गाते हैं, क्योंकि निधन साम अन्त में गाया जाता है जिसका तात्पर्य्य यह है कि दिन की तप्त ज्वाला से संतप्त हृदय जगत् सन्ध्याकाल में सब कर्मों को समाप्त करके जो शान्ति लाभ करते हैं इसी का नाम "निधन" है॥

सं०-अब ऊर्ध्व तथा अधोमुख लोकों के ज्ञान का फल कथन करते हैं:—

कल्पन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चावृत्ताश्च । य एत-
देवं विद्वाँल्लोकेषु पञ्चविधꣳ सामोपास्ते ॥ ३ ॥

अर्थ-जो उपासक इस पांच प्रकार के साम को उक्त प्रकार से जानता हुआ पृथिवी आदि लोकरूप में विचारता है उसको निश्चयकरके ऊपर के लोक और नीचे के लोक प्राप्त होते हैं॥

भाष्य-इस श्लोक में उक्त पंचविध साम को पंचविध लोकों द्वारा विचारने का फल कथन किया है अर्थात् जो उपासक उक्त प्रकार से पंचविध साम को लोकलोकान्तरों द्वारा विचारता है वह ऊर्ध्व और आवृत्त सब लोकों का ज्ञान प्राप्त करलेता है अर्थात् वह दोनों प्रकार के सब लोकलोकान्तरों के तत्व को जानलेता है, यही कारण है कि प्राचीन लोग अनुष्ठानी होने के कारण तत्ववेत्ता होते थे और आजकल उस प्रथा के उठ जाने से लोग ईश्वरीय रचना का अनुसन्धान न करने के कारण तत्ववित् नहीं होते, अतएव सब पुरुषों को उचित है कि वह ईश्वरीय रचना का अनुसन्धान करते हुए परमपिता परमात्मा को प्राप्त हों, यही मनुष्य जीवन का एकमात्र उद्देश्य है॥

इति द्वितीयःखण्डः समाप्तः

अथ तृतीयःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-पृथिवी आदि लोकों में पंचविध सामोपासना का वर्णन करके अब इस खण्ड में वृष्टि द्वारा पंचविध साम का विचार कथन करते हैं :—

वृष्टौपञ्चविधᳬसामोपासीत, पुरोवातो हिङ्कारो मेघो जायते स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहारः ॥१॥

अर्थ-वृष्टि द्वारा पांच प्रकार के साम को विचारे, पुरोवात वायु का हिङ्कार-रूप से विचार करे और आकाश में जो मेघ उत्पन्न हुआ दीखता है उसको प्रस्तावरूप से, जो बर्षता है उसको उद्गीथरूप से, आकाश में जो विद्युत् चमकती और गरजता हैं उसको प्रतिहाररूप से विचारे॥

उद्गृह्णाति तन्निधनम्, वर्षति हास्मै वर्षयति ह। य एतदेवं विद्वान् वृष्टौ पञ्चविधᳬसामोपास्ते॥ २॥

अर्थ-वर्षा का जो उपसंहार करता है वह निधन है, निश्चयकरके जो पुरुष इसको उक्त प्रकार से जानता हुआ वृष्टि विषय में पांच प्रकार के साम का विचार करता है उस उपासक के लिये निश्चयकरके आनन्द की वृष्टि होती है और वह दूसरों के हृदय में भी आनन्द की वृष्टि करता है॥

भाष्य-उक्त श्लोकों में वृष्टि द्वारा पंचविध साम का विचार और उस विचार का फल कथन कियागया है अर्थात् हिङ्कार द्वारा पुरोवात वायु को विचारे, आकाश में जो मेघ चारो ओर से एकत्रित हो उत्पन्न होते हैं वह प्रस्ताव है अर्थात् उत्पन्न हुए मेघ को देखकर जो वृष्टि होने की आशा प्रजाओं में होती है वह मेघोन्नति वृष्टि का प्रस्ताव है, जो वर्षा होती है वह उद्गीथ है अर्थात् जैसे उद्गाता मन्द २ स्वर से उद्गीथ गान करते हैं इसी प्रकार मानो उद्गीथ कर्म का विधान करती हुई जलधारा मन्द २ स्वर से गिरती है, आकाश में जो विद्युत् प्रकाशित होती तथा गरजता है वह दोनों मिलकर प्रतिहार है और जो धीरे २ वर्षा समाप्त होती है अथवा जो वर्षा का उपसंहार करता है वह निधन है, जो पुरुष उक्त भाव को भलेप्रकार जानता हुआ वृष्टि विषय में पंचविध साम का विचार करता है उसके लिये कल्याण होता है और वह दूसरों को भी आनन्दित करता है॥

इति तृतीयःखण्डः समाप्तः

अथ चतुर्थःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब जलों में पंचविध साम का विचार कथन करते हैं :—

सर्वास्वप्सु पञ्चविध ँ सामोपासीत, मेघो यत् सम्प्लवते स हिङ्कारो यद्वर्षति स प्रस्तावो याः प्राच्यः स्यन्दन्ते स उद्गीथो याः प्रतीच्यः स प्रतिहारः समुद्रो निधनम् ॥ १ ॥

अर्थ-सब जलों में पंचविध साम को विचारे, जो मेघ चारो ओर से घिर घटाबांधकर उठते हैं वह हिङ्कार है, जो वर्षता है वह प्रस्ताव है. जो जल पूर्व मुख होकर बहते हैं वह उद्गीथ है, जो पश्चिम मुख होकर बहते हैं वह प्रतिहार है और समुद्र निधन है ॥

भाष्य-इस श्लोक में यह वर्णन कियागया है कि न ी, कूप तड़ागादि जलों में पंचविध साम का विचार करे अर्थात् जलों में भी सब दृश्यमान पदार्थों को देख ईश्वरीय विभूति की महिमा का अवलोकन करता हुआ परमात्मा में चित्त स्थिर करे, जैसाकि मेघ=बादल इधर उधर से घिर घटाबांधकर वर्षा की तैयारी करते हैं वह मानो "हिङ्कार" है, क्योंकि हिङ्कारविधि में भी सब ऋत्विक् लोग चारो ओर से एकत्रित हो परमात्मा का स्तवन करते हुए यज्ञ का प्रारम्भ करते हैं, जो वर्षता है वह मानो "प्रस्ताव" है, क्योंकि वर्षा होने से नदी आदि के बढ़ने का प्रस्ताव होता है, जो जल पूर्वमुख हो बहते हैं वह मानो "उद्गीथ" जो पश्चिम मुख हो बहते हैं वह "प्रतिहार" और सब जलों की समुद्र में समाप्ति होने से समुद्र को "निधन" कथन कियागया है ॥

सं०-अब उक्त जलों के ज्ञाता को फल कथन करते हैं :—

न हाप्सु प्रैत्यप्सुमान् भवति, य एतदेवं विद्वान् सर्वास्वप्सु पञ्चविध ँ सामोपास्ते ॥ २ ॥

अर्थ-जो पुरुष उक्त प्रकार से जानता हुआ सब जलों में इस पांच प्रकार के साम को विचारता है वह निश्चयकरके जलों में नहीं मरता, और वह जलों वाला होता है ॥

भाष्य-इस श्लोक में जलों के ज्ञान का फल कथन कियागया है अर्थात् जो पुरुष जलों में उक्तपंचविध साम का विचार करता है, या यों कहो कि जो जल की विद्या को भलेप्रकार जानता है वह कदापि जलों में डूबकर नहीं मरता प्रत्युत वह जलों का स्वामी होता है, अतएव सब पुरुषों को उचित है कि जलों की विद्या को भलेप्रकार जानें ताकि जलों द्वारा हमारी सब ओर से रक्षा हो ॥

इति चतुर्थःखण्डः समाप्तः

अथ पंचमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब ऋतुओं में पंचविध साम का विचार कथन करते हैं :-

ऋतुषु पञ्चविधꣳसामोपासीत, वसन्तो हिङ्कारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनम् ॥ १ ॥

अर्थ-ऋतुओं में पांच प्रकार की सामविधि को विचारे, वसन्तऋतु हिङ्कार, ग्रीष्म प्रस्ताव, वर्षा उद्गीथ, शरद् प्रतिहार और हेमन्त निधन है ॥

भाष्य-इस श्लोक में ऋतुओं द्वारा पंचविध साम का विचार वर्णन कियागया है कि वसन्तऋतु हिङ्कार है, क्योंकि जिसप्रकार वसन्तऋतु में विविध कुसुम तथा खेतों में अन्नादि के फूलने से सब प्रजायें प्रफुल्लित हो परमात्मा को धन्यवाद देती हुईं यज्ञादिक प्रारम्भ करती हैं इसी प्रकार हिङ्कारविधि को पूर्ण करते हुए सब ऋत्विक् लोग परमात्मा का स्तवन करते हुए आनन्द को प्राप्त होते हैं, ग्रीष्म ऋतु को प्रस्ताव इस अभिप्राय से वर्णन किया गया है कि वह वर्षा के भविष्यत् का प्रस्ताव करती है कि गरमी की अधिकता से आगे वर्षा होगी, वर्षा को उद्गीथ इस कारण कथन किया गया है कि जैसे उद्गाता लोग सामगान द्वारा प्रसन्न चित्त हो परमात्मा का स्तवन करते हैं इसी प्रकार मानो वर्षा का नाद परमात्मा का गान कररहा है, इसी प्रकार शरद् ऋतु प्रतिहार और हेमन्त ऋतु निधन है अर्थात् शरद् ऋतु कल्याण को लाता और हेमन्त ऋतु में सब जीव नीरोग होकर यज्ञादि द्वारा परमात्मपरायण होने के लिये यत्नवान होते हैं ॥

सं०-अब उक्त ऋतुओं के ज्ञान का फल कथन करते हैं :—

कल्पन्ते हास्मा ऋतव ऋतुमान्भवति । य एतदेवं विद्वानृतुषु पञ्चविधꣳसामोपास्ते ॥ २ ॥

अर्थ-जो पुरुष उक्त प्रकार से जानता हुआ ऋतुओं में इस पंचविध साम का विचार करता है उसके लिये निश्चयकरके सब ऋतुयें कल्याणकारी होती हैं और वह ऋतुमान् होता है ॥

भाष्य—जो पुरुष उक्त प्रकार से सब ऋतुओं में पंचविध साम का विचार करता है उसको सब ऋतुयें अनुकूल होती हैं अर्थात् सब ऋतुओं में उसके लिये कल्याण होता है और ऐसा पुरुष ही ऋतुमान् कहलाता है, या यों कहो कि शीतोष्ण वर्षा आदि का सहन करने वाला नीरोग रहता है उस पर कोई ऋतु अपना प्रभाव नहीं डालसक्ती ॥

इति पञ्चमःखण्डः समाप्तः

अथ षष्ठः खण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब पशुविषयक पंचविध साम का कथन करते हैं:—

पशुषु पंचविध ७ सामोपासीत, अजाः हिङ्कारोऽवयः प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वाप्रतिहारः पुरुषोनिधनम् ॥१॥

अर्थ—पशुओं में पंचविध साम का चिन्तन करे, बकरी हिङ्कार, भेड़ प्रस्ताव, गाय उद्गीथ, अश्व प्रतिहार और पुरुष निधन है ॥

सं०-अब उक्त विचार का फल कथन करते हैं :—

भवन्ति ह्यस्य पशवः पशुमान् भवति । य एतदेवं विद्वान् पशुषु पञ्चविध ँ सामोपास्ते ॥ २ ॥

अर्थ—जो पुरुष उक्त प्रकार से जानता हुआ पशुओं में इस पंचविध साम का विचार करता है उसके निश्चयकरके बहुत पशु होते हैं और वह पशुओं वाला होता है ॥

भाष्य—उक्त श्लोकों में पशुविषयक पंचविध साम का विचार तथा उसका फल वर्णन किया गया है कि मानो अजा हिंकार, अवि प्रस्ताव, गायें उद्गीथ, अश्व प्रतिहार और पुरुष निधन है, जो उपासक उक्त प्रकार से पशुओं में पंचविध साम को विचारता है उसके बहुत पशु होते हैं अर्थात् वह धनाढ्य होता है ॥

इति षष्ठःखण्डः समाप्तः

अथ सप्तमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब प्राणविषयक पंचविध साम का कथन करते हैं :—

प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः सामोपासीत । प्राणो हिङ्कारो वाक् प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं प्रतिहारो मनो निधनम्, परोवरीया ँ सि वा एतानि ॥१॥

अर्थ-प्राणों में पंचविध उत्तरोत्तर श्रेष्ठ साम को विचारे, प्राण हिङ्कार, वाणी प्रस्ताव, चक्षु उद्गीथ, श्रोत्र प्रतिहार तथा मन निधन है और निश्चयकरके यह सब उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं ॥

भाष्य–इस श्लोक में प्राणों द्वारा पंचविध साम का चिन्तन कथन किया गया है अर्थात् उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होने से घ्राणस्थ प्राण "हिङ्कार" और वाक्स्थित प्राण प्रस्ताव है, क्योंकि वाणी द्वारा ही प्रस्ताव कियाजाता है, चक्षुः उद्गीथ है, क्योंकि नेत्रों द्वारा ही परमात्मा की विभूति को देखकर उसमें श्रद्धाभक्ति उत्पन्न होती है और फिर सामगान द्वारा उसका महत्व अपने हृदय में धारण करते हैं, श्रोत्र को प्रतिहार इसलिये कथन किया है कि ब्रह्मवादी पुरुषों द्वारा उसका यशकीर्त्तन श्रवण करके उसमें अपनी भक्ति दृढ़ करते हैं और मन को निधन कथन करने का तात्पर्य्य यह है कि मन इन्द्रियों का राजा होने से सब इन्द्रियों द्वारा लाये हुए विषय मन को ही प्राप्त होते हैं, इस प्रकार यह सब प्राण उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं ॥

सं०–अब उक्त प्राणों के मनन का फल कथन करते हैं:—

परोवरीयो हास्य भवति परोवरीयसो ह लोकाञ्जयति । य एतदेवं विद्वान् प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः सामोपास्त इति तु पञ्चविधस्य ॥ २ ॥

अर्थ–जो पुरुष उक्त प्रकार से प्राणों में जानता हुआ इस उत्तरोत्तर श्रेष्ठ पंचविध साम का चिन्तन करता है निश्चयकरके उसका जीवन पवित्र हो जाता है, और वह निश्चयकरके सर्वोत्तम लोकों को जय करता है, यह पंचविध साम का वर्णन है ॥

भाष्य—इस श्लोक में यह वर्णन किया है कि जो पुरुष प्रथम श्लोक में वर्णित श्रेष्ठ प्राणों में पंचविध साम का चिन्तन करता है वह उच्च जीवन वाला तथा रोगरहित होकर परमात्मपरायण होता है, और निश्चयकरके वह सर्वोत्तम लोकों को जय करता है, "लोक" शब्द के अर्थ यहां अवस्था विशेष के हैं ॥

इति सप्तमःखण्डः समाप्तः

अथ अष्टमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०–उक्त खण्डों में पंचविध सामोपासना का वर्णन करके अब सप्तविध साम की उपासना कथन करते हैं :—

अथ सप्तविधस्य, वाचि सप्तविधꣳ सामोपासीत । यत्किञ्चवाचो हुमिति स हिङ्कारो यत्प्रेति स प्रस्तावो यदेति स आदिः ॥ १ ॥

अर्थ-अब सप्तविध साम का वर्णन करते हैं, वाणी विषयक सप्तविध साम का चिन्तन करे, वाणी विषयक जो कुछ "हुं" अक्षर है वह हिङ्कार, जो "प्र" अक्षर है वह प्रस्ताव है, जो "आ" अक्षर है वह आदि नामक साम है॥

यदुदिति स उद्गीथो यत्प्रतीति स प्रतिहारो यदुपेति स उपद्रवो यन्नीति तन्निधनम् ॥ २ ॥

अर्थ-जो "उत्" पद है वह उद्गीथ है, जो "प्रति" पद है वह प्रतिहार है, जो "उप" पद है वह उपद्रव है, जो "नि" अक्षर है वह निधन है ॥

भाष्य-इन दोनों श्लोकों में सप्तविध साम की उपासना कथन कीगई है अर्थात् हुं, प्र, आ, उत्, प्रति, उप, नि, यह सप्तप्रकार के साम हैं और यही प्रायः सम्पूर्ण गान में आते हैं, इन सब की सूक्ष्मता का चिन्तन करे, या यों कहो कि इन सबको भलेप्रकार विचारता हुआ सामगान द्वारा ईश्वर की महिमा का चिन्तन करता हुआ अन्यों पर भी प्रकट करे ॥

सं०-अब उक्त सप्तविध साम के विचारने वाले को फल कथन करते हैं :-

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहम्, यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति य एतदेवं विद्वान् वाचि सप्तविध ँ सामोपास्ते ॥ ३ ॥

अर्थ-उक्त पुरुष के लिये वाणी स्वयं दुग्ध को दुहती है जो वाणी का दुग्ध है, और वही प्रभूत अन्न वाला और भलेप्रकार खाने वाला होता है जो उक्त प्रकार से जानता हुआ वाणी में इस सप्तविध साम को विचारता है ॥

भाष्य-इस श्लोक में यह वर्णन कियागया है कि जो उक्त सप्तविध साम को वाणी में विचारता है उसके लिये वाणी स्वयं अपने दूध को दुहती है अर्थात् उसकी वाणी में दुग्धरूप ऐसा रस उत्पन्न होजाता है कि संसार में सब उससे प्यार करने वाले तथा उसके मित्र होते हैं, क्योंकि उसकी वाणी का मिठास सबको उसकी ओर आकर्षित करलेता है और जो पुरुष कटुभाषण करते हैं उनका संसार में कोई भी सुहृद् नहीं होता उनका जीवन मरण समान ही होता है, इसलिये पुरुष को मधुरभाषी होने के लिये सदा यत्नवान् होना चाहिये और ऐसा पुरुष ही ऐश्वर्य्य सम्पन्न तथा ऐश्वर्य्य का भोक्ता होता है जो उक्त सप्तविध साम को वाणी में विचारता है ॥

इति अष्टमःखण्डः समाप्तः

अथ नवमःखण्डःप्रारभ्यते

सं०-अब आदित्य और सप्तविध साम की समता कथन करते हैं :-

अथ खल्वमुमादित्य ँ सप्तविध ँ सामोपासीत। सर्वदा सम-

स्तेन साम, मां प्रति मां प्रतीति सर्वेण समस्तेन साम ॥ १ ॥

अर्थ-निश्चयकरके अब इस आदित्यसमान सप्तविध साम को विचारे जो सर्वकाल में तुल्य है इस कारण साम समान है, मेरे प्रति, मेरे प्रति, परस्पर एक दूसरे के प्रति समान है, इस कारण सब प्रकार से समान है, इस हेतु से वह साम आदित्य के तुल्य है ॥

भाष्य-आदित्य नाम सूर्य्य और हिङ्कार, प्रस्ताव, आदि, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव और निधन, यह सप्तविध साम कहता है, सूर्य्य और इस सप्तविध साम की इस श्लोक में समानता वर्णन कीगई है कि जिसप्रकार आदित्य सर्व काल में तुल्य है इसी प्रकार सप्तविध साम सर्वदा तुल्य है और परस्पर एक दूसरे के प्रति दोनों समान हैं, या यों कहो कि जिसप्रकार आदित्यरूप सूर्य्य मनुष्य से लेकर चींटी पर्य्यन्त सब जीवों को समान ही भासता है और सब प्राणी मेरा २ कहकर प्रसन्न होते हैं इसी प्रकार ज्ञानी अज्ञानी सभी सामगान श्रवण कर उसमें निमग्न होजाते हैं, अतएव जैसे सामगान सर्वप्रिय है इसी प्रकार आदित्य भी सर्वप्रिय होने के कारण दोनों समान हैं ॥

सं०-अब "हिङ्कार" विधि का कथन करते हैं:-

तस्मिन्निमानि सर्वाणि भूतान्यन्वायत्तानीतिविद्यात्तस्ययत्पुरोदयात्स हिङ्कारस्तदस्यपशवोऽन्वायत्तास्तस्मात्ते हिङ्कुर्वन्ति हिङ्कारभाजिनोह्येतस्य साम्नः ॥ २ ॥

अर्थ-उस आदित्य के यह सब भूतजात अधीन हैं ऐसा जानना चाहिये, उस सूर्य्य के उदय होने से पूर्व जो ब्रह्ममुहूर्त काल है वह हिंकार है, इस सूर्य्य के उस काल के अधीन पशु हैं इस कारण वह हिंकारविधि का अनुष्ठान करते हैं, क्योंकि इस सामगानरूप हिंकारविधि के पात्र पशु ही हैं ॥

सं०-अब "प्रस्ताव" विधि का कथन करते हैं:-

अथ यत्प्रथमोदिते स प्रस्तावस्तदस्य मनुष्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते प्रस्तुतिकामाः प्रशंसाकामाः प्रस्तावभाजिनोह्येतस्य साम्नः ॥ ३ ॥

अर्थ-अब प्रस्तावविधि कथन करते हैं, सूर्य्य के प्रथमोदय काल में जो मुहूर्त्त होता है वह प्रस्ताव है, क्योंकि इस सूर्य्य के उस मुहूर्त्त के अधीन मनुष्य हैं, इस कारण वह मनुष्य उस काल में स्तुति की कामना वाले और प्रशंसा की कामना वाले होते हैं, क्योंकि इस आदित्य समान सामवेद के प्रस्तावपात्र मनुष्य हैं ॥

सं०-अब "आदि" विधि का कथन करते हैं :—

अथ यत्सङ्गववेलायाᳪस आदिस्तदस्य वयाᳪस्यन्वायत्तानि। तस्मात्तान्यन्तरिक्षेऽनारम्भणान्यादायात्मानं परिपतन्त्यादिभाजीनिह्येतस्य साम्नः॥४॥

अर्थ-अब आदिविधि कथन करते हैं, सूर्य्य की किरण निकलने का जो काल है वह आदि है, पक्षीगण इस काल के अधीन हैं इस कारण यह पक्षीगण आकाश में आश्रयरहित हो अपने को लेकर चारो ओर उड़ते हैं, क्योंकि इस आदित्य समान साम की आदिविधि के पात्र वह पक्षीगण हैं॥

सं०-अब "उद्गीथ" विधि कथन करते हैं :—

अथ यत्सम्प्रतिमध्यन्दिने स उद्गीथस्तदस्य देवा अन्वायत्तास्तस्मात्ते सत्तमाः प्राजापत्यानामुद्गीथभाजिनो ह्येतस्य साम्नः॥ ५ ॥

अर्थ-अब उद्गीथविधि कथन करते हैं, सम्प्रति मध्यान्ह काल में जो मुहूर्त्त होता है वह उद्गीथ है, इस आदित्य सम्बन्धी उस मुहूर्त्त के अधीन विद्वान् गण हैं इस कारण वह विद्वान् परमात्मरचित पदार्थों में सर्वोत्तम हैं, क्योंकि इस आदित्यसमान साम की उद्गीथविधि के पात्र वही हैं॥

सं०-अब "प्रतिहार" विधि कथन करते हैं :—

अथ यदूर्ध्वं मध्यन्दिनात्प्रागपराह्णात्सप्रतिहारस्तदस्य गर्भा अन्वायत्तास्तस्मात्ते प्रतिहृता नावपद्यन्ते प्रतिहारभाजिनो ह्येतस्य साम्नः॥ ६॥

अर्थ-इसके अनन्तर मध्यान्ह काल के ऊपर अपराह्ण से पूर्व जो काल वह प्रतिहार है, इस काल के अधीन गर्भ होते हैं, इसकारण वह गर्भ स्थिर होकर गिरते नहीं, क्योंकि वह इस आदित्य समान साम की प्रतिहार विधि के भागी हैं॥

सं०-अब "उपद्रव" विधि का कथन करते हैं :—

अथ यदूर्ध्वमपराह्णात्प्रागस्तमयात्स उपद्रवस्तदस्यारण्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते पुरुषं दृष्ट्वा कक्षᳪश्वभ्रमित्युपद्रवन्त्युपद्रवभाजिनो ह्येतस्य साम्नः॥ ७॥

अर्थ-अब प्रतिहारविधि के अनन्तर अपराह्ण से ऊपर अस्त समय से पूर्व जो काल वह उपद्रव है, वन के पशु इस आदित्य सम्बन्धी उस काल के अधीन

होते हैं, इस कारण वह पशु पुरुष को देखकर वन को वा निज स्थान को भाग जाते हैं, क्योंकि वह इस साम की उपद्रव विधि के भागी हैं ॥

सं:—अब "निधन" विधि का कथन करते हैं:—

अथ यत्प्रथमास्तमिते तन्निधनम्, तदस्य पितरोऽन्वायत्तास्तस्मात्तान्निदधति निधनभाजिनो ह्येतस्य साम्न एवं खल्वमुमादित्य ँ सप्तविध ँ सामोपास्ते ॥८॥

अर्थ—अब उपद्रव के अनन्तर प्रथम अस्तकाल में जो मुहूर्त्त होता है वह निधन है मातापितादि पितर इस आदित्य सम्बन्धी मुहूर्त्त के अधीन कार्य्य करते हैं, इस कारण पुरुष उन पितरों को रक्षार्थ सन्निहित करते हैं, क्योंकि इस साम की निधनविधि के वह पात्र हैं, इस प्रकार निश्चय करके जो इस आदित्य के समान सप्तविध साम की उपासना करते हैं वह आदित्य के तत्वज्ञाता होते हैं ॥

इति नवमःखण्डः समाप्तः

अथ दशमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब मृत्यु को अतिक्रमण करने वाले परस्पर समान सप्तविध साम का कथन करते हुए प्रथम "हिङ्कार" तथा "प्रस्ताव" की समता वर्णन करते हैं:—

अथ खल्वात्मसम्मितमतिमृत्यु सप्तविध ँ सामोपासीत। हिङ्कार इति त्र्यक्षरं प्रस्ताव इति त्र्यक्षरं तत्समम् ॥ १ ॥

अर्थ—अब यह कथन करते हैं कि निश्चयकरके आपस में परस्पर समान मृत्यु को अतिक्रमण करनेवाले सप्तविध साम को विचारे "हिङ्कार" यह पद तीन अक्षरों का और "प्रस्ताव" पद भी तीन अक्षरों का है और यह दोनों समान हैं ॥

भाष्य—इस श्लोक में यह कथन किया गया है कि आपस में परस्पर समान यह जो मृत्यु को अतिक्रमण करने वाला सप्तविध साम है उसका चिन्तन करे, वह आपस में समान इस प्रकार हैं कि "हिंकार"=हिं+ का +र इन तीन अक्षरों का समुदाय है और "प्रस्ताव=प्र+स्ता+व इन तीन अक्षरों से मिलकर बना है, अतएव दोनों त्रिमात्रिक होने के कारण समान हैं ॥

सं०—अब "आदि" तथा "प्रतिहार" साम की समानता कथन करते हैं:—

आदिरिति द्व्यक्षरम्, प्रतिहार इति चतुरक्षरम्। तत इहैकं तत्समम् ॥ २ ॥

अर्थ-" आदि" पद दो अक्षरों का ' प्रतिहार" पद चार अक्षरों का है, उस प्रतिहार पद से एक अक्षर लेकर इस "आदि" पद में मिला देने से दोनों समान होजाते हैं ॥

भाष्य—इस श्लोक में 'आदि" साम और "प्रतिहार" साम की समानता वर्णन कीगई है कि "आदि" पद=आ+दि इन दो अक्षरों का और "प्रतिहार"=प्र+ति+हा+र इन चार अक्षरों का समुदाय है, इस प्रतिहार के उक्त चार अक्षरों में से एक अक्षर निकालकर "आदि" पद के दो अक्षरों में जोड़ देने से दोनों तीन २ अक्षरों के हो जाने से इनकी समानता होजाती है ॥

सं०—अब "उद्गीथ" तथा 'उपद्रव" साम की समता कथन करते हैं:-

उद्गीथ इति त्र्यक्षरमुपद्रव इति चतुरक्षरं त्रिभिस्त्रिभिः समं भवत्यक्षरमतिशिष्यते त्र्यक्षरं तत्समम् ॥ ३ ॥

अर्थ—उद्गीथ पद में तीन अक्षर, उपद्रव पद में चार अक्षर हैं, उक्त दोनों में तीन २ अक्षरों की समता है, एक अक्षर शेष रहजाता है अन्य तीन २ अक्षरों से वह समान हैं ॥

भाष्य-"उद्गीथ" पद=उद्+गी+थ इन तीन अक्षरों का समुदाय और "उपद्रव" पद=उ+प+द्र+व इन चार अक्षरों से मिलकर बना है, उक्त दोनों में तीन २ अक्षरों की समता है और एक अक्षर शेष रह जाता है सो एक को छोड़कर शेष अंश में दोनों समान हैं ॥

सं०—अब "निधन" साम की समता कथन करते हैं :—

निधनमिति त्र्यक्षरं तत्सममेव भवति । तानि ह वा एतानि द्वाविंशतिरक्षराणि ॥ ४ ॥

अर्थ—निधन साम तीन अक्षरों का है और वह समान ही होता है, निश्चय करके वह यह बाईस २२ अक्षर हैं ॥

भाष्य-इस श्लोक में "निधन" साम की समता वर्णन कीगई है कि "निधन" पद=नि+ध+न इन तीन अक्षरों का समुदाय है और वह समान ही होता है, यह सब मिलकर सम्पूर्ण साम में २२ अक्षर हैं अर्थात् पूर्व खण्ड में जो साम के हिङ्कार, प्रस्ताव, आदि, प्रतिहार, उद्गीथ, उपद्रव और निधन, यह सात विभाग वर्णन कर आये हैं इन सात पदों में २२ अक्षर हैं, इनमें से उपद्रव का एक अक्षर छोड़ दियाजाय तो २१ अक्षर शेष रहजाते हैं और इन को सात विभागों में विभक्त करने से प्रत्येक विभाग में तीन २ अक्षर होने के कारण सब की समता जाननी चाहिये ॥

सं०-अब शेष एक अक्षर द्वारा उस परज्योति की प्राप्ति कथन —

एकविंशत्यादित्यमाप्नोत्येकविंशो वा इतोऽसावादित्यो द्वाविंशेन परमादित्याज्जयति तन्नाकं तद्विशोकम् ॥ ५ ॥

अर्थ–इक्कीस अक्षरों से आदित्यरूप मृत्यु को प्राप्त होता है, निश्चयकरके यहां से यह आदित्य इक्कीसवां है, बाईसवें अक्षर द्वारा आदित्य से परज्योति को जय करता है, वह ज्योति आनन्दमय तथा शोकरहित है ॥

भाष्य–इस श्लोक का भाव यह है कि जिस प्रकार साम के उक्त सात विभाग २१ अक्षर के हैं इसी प्रकार आदित्य भी यहां से इक्कीसवां है अर्थात् १२ मास, ५ ऋतु, * ३ लोक और एक आदित्य यह सब मिलकर एकविंशत्यात्मक आदित्य कहलाता है, और यही आदित्य मृत्यु है, क्योंकि आदित्य ही दिन रात्रि के विभाग से इस जगत् को मारता है, इससे बचने का उपाय उक्त साम सम्बन्धी सात विभागों का ज्ञान है उसी से पुरुष मृत्यु का अतिक्रमण करजाते हैं अर्थात् बाईसवां अक्षर जो शेष रहजाता है उसी के द्वारा पुरुष आदित्य से परज्योति को प्राप्त होता है जो आनन्दमय तथा मृत्यु से रहित है ॥

सं०–अब उक्त ज्ञान का फल कथन करते हैं :—

आप्नोतीहादित्यस्य जयं परो हास्यादित्यजयाज्जयो भवति। य एतदेवं विद्वानात्मसम्मितमतिमृत्यु सप्तविधंसामोपास्ते सामोपास्ते ॥ ६ ॥

अर्थ–जो पुरुष आपस में परस्पर समान सप्तविध इस साम को उक्त प्रकार से जानता हुआ विचारता है वह मृत्यु से अतिक्रमण करजाता है, निश्चयकरके इस लोक में आदित्य की जय प्राप्त करता और आदित्य की जय से जो परे जय है उसको भी प्राप्त करता है ॥

भाष्य–" सामोपास्ते " पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता तथा खण्ड की समाप्ति के लिये आया है, इस श्लोक में उक्त सप्तविध साम के मनन करने वाले को यह फल कथन किया है कि जो पुरुष आपस में परस्पर समान इस सप्तविध साम को जानता हुआ भलेप्रकार विचारता है वह आदित्य पर विजय प्राप्त करलेता है और आदित्य के विजय से परे जो विजय है उसको भी प्राप्त करता है अर्थात् वह पुरुष वार २ जन्म मरण में नहीं आता वह आदित्य से परे जो परज्योति परमात्मा है उसको प्राप्त होकर आनन्द भोगता है ॥

इति दशमःखण्डः समाप्तः

---

* यहां शिशिर ऋतु हेमन्त के अन्तर्गत होने के कारण पांच ऋतुयें गिनी हैं वास्तव में ऋतु छः हैं।

अथ एकादशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब "गायत्र" साम का कथन करते हैं :—

मनो हिङ्कारो वाक् प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं प्रतिहारः प्राणोनिधनमेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतम् ॥ १ ॥

अर्थ-मन हिङ्कार, वाणी प्रस्ताव, चक्षु उद्गीथ, श्रोत्र प्रतिहार और प्राण निधन है, यह गायत्र नामक साम प्राणों में ओत प्रोत है ॥

भाष्य-प्राण=इन्द्रियों का रक्षक होने के कारण इसका नाम "गायत्र" साम है, जिसप्रकार इन्द्रियों में मन प्रथम है, क्योंकि मन के विना कोई इन्द्रिय अपने व्यापार को स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं करसकती, इसी प्रकार सप्तविध साम में "हिंकार" प्रथम है, इसी के द्वारा यज्ञ सम्बन्धी सब कार्य्य प्रारम्भ होते हैं और जिस प्रकार मन से विचार कर वाणी द्वारा किसी विषय का प्रस्ताव होता है अर्थात् मन से दूसरे स्थान पर वाणी है इसी प्रकार हिङ्कार से दूसरे स्थान पर प्रस्ताव कथन किया गया है, एवंविध चक्षुः उगद्गीथ, श्रोत्र प्रतिहार और प्राण को निधन जानना चाहिये, अधिक क्या उक्त पंचविध साम पंचविध इन्द्रियों में ओतप्रोत है जिसको प्राणों की रक्षार्थ जानना परमावश्यक है ॥

सं०-अब उक्त ज्ञान का फल कथन करते हैं :—

स य एवमेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतं वेद, प्राणी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या महामनाः स्यात्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

अर्थ-जो पुरुष प्राणों में ओत प्रोत इस गायत्र साम को उक्त प्रकार से जानता है वह प्राणों वाला होता है, सम्पूर्ण आयु को प्राप्त होता है, पवित्र जीवन वाला होकर जीता है, सन्तान और पशु आदिकों से वृद्धि को प्राप्त होता है, बड़ी कीर्ति वाला होता है, उसका यह व्रत है कि वह उदारचित्त हो ॥

भाष्य-जो पुरुष प्राणों में ओत प्रोत इस "गायत्र" साम को जानता है वह प्राणों से युक्त होता है अर्थात् उसकी इन्द्रियों में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता और न वह अंग भंग होता है, सम्पूर्ण आयु को प्राप्त होता है, पवित्र जीवन वाला तथा सन्तान, पशु आदि ऐश्वर्य्ययुक्त होता है, और बड़ी कीर्ति वाला होता है, उसका यह व्रत है कि वह उदारचित्त हो ॥

इति एकादशःखण्डः समाप्तः

अथ द्वादशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब "रथन्तर" नामक साम का कथन करते हैं:—

अभिमन्थति स हिङ्कारो धूमो जायते स प्रस्तावो ज्वलति स उद्गीथोऽङ्गारा भवन्ति स प्रतिहार उपशाम्यति तन्निधन ँ स ँ शाम्यति तन्निधनमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतम् ॥ १ ॥

अर्थ-याज्ञिक लोग अरणि नामक काष्ठ को मथन करके जो अग्नि निकालते हैं वह हिङ्कार, अग्नि से जो धूम निकलता है वह प्रस्ताव, समिधाओं में जो अग्नि प्रज्वलित होती है वह उद्गीथ; अग्नि से जो चिङ्गारे निकलते हैं वह प्रतिहार, अग्नि का जो धीरे २ बुझना आरम्भ होता है वह निधन अथवा अग्नि का जो पूर्णरूप से बुझ जाना है वह निधन है, यह रथन्तर नामक साम अग्नि में ओत प्रोत है ॥

भाष्य-इस श्लोक में रथन्तर साम का वर्णन कियागया है कि ऋत्विक् लोग यज्ञार्थ अरणि नामक काष्ठ से जो अग्नि निकालते हैं वह "हिङ्कार" अग्नि से जो धूम उत्पन्न होता है वह "प्रस्ताव" अग्नि का प्रज्वलित होना "उद्गीथ" अग्नि से जो चिङ्गारे निकलते हैं वह "प्रतिहार" और अग्नि का जो धीरे २ शान्त होना आरम्भ होता है वह "निधन" अथवा अग्नि का बिलकुल बुझ जाना "निधन" है, यह रथन्तर नामक साम अग्नि में ओत प्रोत है ॥

सं०-अब उक्त साम के ज्ञाता को फल कथन करते हैं:-

स य एवमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतं वेद, ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति सर्वमायुरेतिज्योग्जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या, न प्रत्यङ्ङग्निमाचामेन्न निष्ठीवेत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

अर्थ—वह पुरुष जो इस रथन्तर साम को उक्त प्रकार से अग्नि में ओत प्रोत जानता है वह तेजस्वी और ऐश्वर्य्य का भोक्ता होता है, सम्पूर्ण आयु को प्राप्त होता है, संसार में उत्तम जीवन वाला होकर जीवन व्यतीत करता है,

सन्तान और पशुओं से महान् होता है, बड़े यशवाला होता है, उसका यह व्रत है कि वह अग्नि के अभिमुख होकर आचमन न करे और न थूके ॥

भाष्य-इस श्लोक में रथन्तर साम के जानने वाले को यह फल कथन किया है कि वह तेजस्वी और ऐश्वर्य्य का भोगने वाला होता है सम्पूर्ण आयु को पाता है अर्थात १०० वर्ष से कम आयु वाला नहीं होता, जैसाकि मनुजी ने भी लिखा है कि "सदाचारेण पुरुषः शतवर्षाणि जीवति "=आचारसम्पन्न पुरुष १०० वर्ष तक जीता है; और उसका जीवन पवित्र होता है; प्रजा और पशुओं से महान् होता है, यश वाला होता है, ऐसे पुरुष के लिये यह व्रत है कि वह अग्नि के अभिमुख होकर न आचमन करे और न उसमें थूके ॥

इति द्वादशःखण्डः समाप्तः

अथ त्रयोदशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब "वामदेव्य" साम का कथन करते हैं :–

उपमन्त्रयते स हिङ्कारो ज्ञपयते स प्रस्तावः स्त्रिया सह शेते स उद्गीथः प्रति स्त्री सह शेते स प्रतिहारः कालंगच्छति तन्निधनं पारं गच्छति तन्निधनमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतम् ॥१॥

अर्थ-विवाह विषयक जो पुरुष को निमंत्रण दिया जाता है वह हिङ्कार, विज्ञापन देकर वेद मंत्रों द्वारा जो परस्पर प्रतिज्ञायें कराई जाती हैं वह प्रस्ताव, स्त्री पुरुष को एकस्थान में जो एकत्रित करना है वह उद्गीथ, जो स्त्री के साथ शयन करना है वह प्रतिहार, जो परस्पर प्रेम प्रीति से काल का बिताना है वह निधन अथवा उक्त प्रकार से जो आयु के पार को प्राप्त होना है वह निधन है, यह वामदेव्य साम मिथुन में ओतप्रोत है ॥

भाष्य-इस श्लोक में "वामदेव्य" साम का कथन किया गया है अर्थात् सद्गृहस्थ बनने के लिये एक उत्तमालङ्कार द्वारा यह वर्णन किया है कि पुरुष को विवाह सम्बन्धी जो निमंत्रण देना है वह हिङ्कार, विज्ञापन देकर वेदमंत्रों द्वारा जो परस्पर प्रतिज्ञायें कराई जाती हैं कि हम दोनों यावदायुष गृहस्थाश्रम में प्रेम प्रीति से वर्तेंगे वह प्रस्ताव, प्रतिज्ञाओं के पश्चात् जो दोनों का सहवास है वह उद्गीथ, जो अपने घर आकर एकत्रित शयन करना है वह प्रतिहार तथा गृहस्थाश्रम में निवास करते हुए परमप्रीति से जो काल का व्यतीत करना है वह निधन अथवा दोनों का आनन्द भोगते हुए जो आयु को पूर्ण करना है, या

यों कहो कि जो आयु के पार को प्राप्त होना है वह निधन है, यह वामदेव्य साम मिथुन=स्त्री पुरुष रूप जोड़े में ओत प्रोत है ॥

स०-अब उक्त साम के ज्ञाता को फल कथन करते हैं :-

स य एवमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतं वेद, मिथुनी भवति मिथुनान्मिथुनात्प्रजायते सर्वमायुरेति ज्योग् जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या न काञ्चन परिहरेत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

अर्थ-वह पुरुष जो इस वामदेव्य साम को उक्त प्रकार से स्त्री पुरुष के सम्बन्ध में ओत प्रोत जानता है वह अमोघवीर्य्य होता है और मिथुन २ से सन्तति वाला होता है, सम्पूर्ण आयु को प्राप्त होता है, उत्तम जीवन वाला होकर जीता है, प्रजा और पशुओं से महान् होता है, बड़ी कीर्तिवाला होता है, उक्त जोड़ा एक दूसरे को न छोड़े यह उनका व्रत है ॥

भाष्य-जो पुरुष उक्त वामदेव्य साम को भलेप्रकार जानता है अर्थात् विवाह में कीहुई प्रतिज्ञाओं का पूर्ण प्रकार से पालन करता है वह दृढ़प्रतिज्ञ तथा बड़ा बलवान् होता है, मिथुन २ से सन्तति वाला होता है, या यों कहो कि उसका वीर्य्य व्यर्थ नहीं जाता, सम्पूर्ण आयु को भोगता है, पवित्र जीवन वाला तथा प्रजा और पशुओं से महान् होता है, ऐसे पुरुष का यह व्रत है कि वह यावदायुष अपनी स्त्री का परित्याग न करे, यहां स्त्री का न छोड़ना उपलक्षण-मात्र है जिसका आशय यह है कि पुरुष स्त्री का और स्त्री पुरुष का त्याग न करते हुए दोनों परस्पर मिलकर रहें।

कई एक टीकाकारों ने उक्त श्लोक का यह अर्थ किया है कि समागम के लिये आई हुई किसी स्त्री का त्याग न करे, यह उनका कथन ठीक नहीं, क्योंकि यहां स्त्री पुरुष के सम्बन्ध का वर्णन करके उससे फलप्राप्ति कथन कीगई है कि उनमें से परस्पर कोई त्याग न करे, जो लोग उक्त भाव को उपनिषदों में भरते हैं वह उपनिषदों में भी वाममार्ग का बीज बोते हैं, इसलिये उक्त अर्थ सर्वथा निन्दित है ॥

और जिनका यह कथन है कि सगाई के लिये आई हुई जैसी कैसी स्त्री क्यों न हो उसका त्याग न करे, यह इसलिये ठीक नहीं कि जब मनुजी ने धर्मशास्त्र में परस्पर गुणकर्मस्वभाव मिलनेवाली स्त्री से विवाह कथन किया है तो फिर छानबीन क्यों न करे, अवश्य छानछीन करके विवाह होना चाहिये ताकि पीछे स्त्री पुरुष में किसी प्रकार का वैमनस्य न हो, अतएव सिद्ध है कि यह प्रकरण स्त्री पुरुष के संयोग का है इसको किसी घृणित सम्बन्ध में लगाना तथा प्रकृति जीव विषयक लगाना अनर्थ है, इसलिये यही अर्थ ठीक है कि जो जोड़ा

परस्पर विज्ञापन से वेद मंत्रों द्वारा प्रतिज्ञायें करके मिला है वह एक दूसरे का त्याग न करके यावदायुष सहायक रहें ॥

इति त्रयोदशःखण्डः समाप्तः

अथ चतुर्दशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब "बृहत्" नामक साम का कथन करते हैं:--

उद्यन्हिङ्कार उदितः प्रस्तावो मध्यन्दिन उद्गीथोऽपराह्णः प्रतिहारोऽस्तंयन्निधनमेतद्बृहदादित्ये प्रोतम् ॥ १ ॥

अर्थ—उदय होता हुआ सूर्य्य हिंकार, उदित सूर्य्य प्रस्ताव, मध्यान्ह सूर्य्य उद्गीथ, अपराह्ण सूर्य्य प्रतिहार और अस्त होता हुआ सूर्य्य निधन है, यह बृहत् नामा साम है जो आदित्य में ओतप्रोत है ॥

भाष्य-उदय होता हुआ सूर्य्य "हिङ्कार" साम का, उदित सूर्य्य "प्रस्ताव" साम का, मध्यान्ह सूर्य्य उद्गीथ साम का, अपराह्ण सूर्य्य प्रतिहार साम का और अस्त होता हुआ सूर्य्य निधन साम का अनुष्ठान करता है, जैसाकि अथर्व० ९।६।५।४ में वर्णन कियागया है कि "**तस्मा उद्यन्सूर्य्यो हिङ्कृणोति संगवः प्रस्तौति**"=ब्रह्म की कीर्ति गायन करता हुआ सूर्य्य प्रातः उदय होता हुआ हिङ्कारविधि का अनुष्ठान करता है, इस भाव को छान्दो० २।२।१ में वर्णन कर आये हैं, इसलिये यहां विशेष लिखने की आवश्यक्ता नहीं ॥

सं०-अब उक्त साम के ज्ञाता को फल कथन करते हैं :—

स य एवमेतद्बृहदादित्ये प्रोतं वेद, तेजस्व्यन्नादो भवति, सर्वमायुरेति, ज्योग् जीवति, महान् प्रजया पशुभिर्भवति, महान् कीर्त्या, तपन्तं न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

अर्थ-वह पुरुष जो आदित्य में ओत प्रोत इस बृहत् साम को उक्त प्रकार से जानता है वह तेजवाला अन्न का भोक्ता होता है, सम्पूर्ण आयु को प्राप्त होता है, उत्तम जीवन वाला होकर जीता है, प्रजा और पशुओं से महान् होता है, बड़ी कीर्तिवाला होता है, उसका यह व्रत है कि वह जगत् को तपाने वाले सूर्य्य की निन्दा न करे ॥

भाष्य-इस श्लोक में बृहत् नामा साम के ज्ञाता को यह फल वर्णन किया गया है कि वह तेजस्वी और अन्न का भोक्ता होता है, सम्पूर्ण आयु को प्राप्त होता है, पवित्र

जीवन वाला होता है; प्रजा और पशुओं से युक्त होकर महान् कीर्ति वाला होता है, उसका यह व्रत है कि वह तपते हुए सूर्य्य की निन्दा न करे, जिसका भाव यह है कि ईश्वरीयसृष्टि में प्रत्येक पदार्थ के अभिप्राय का अन्वेषण करना चाहिये निन्दा नहीं ॥

इति चतुर्दशःखण्डः समाप्तः

अथ पंचदशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब "वैरूप" साम का कथन करते हैं:—

अभ्राणिसंप्लवन्ते स हिङ्कारो मेघो जायते स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहार उद्गृह्णाति तन्निधनमेतद्वैरूपंपर्जन्ये प्रोतम् ॥ १ ॥

अर्थ-आकाश में जो अभ्र=धुंध होती है वह हिङ्कार, जो आकाश में मेघ बनते हैं वह प्रस्ताव, जो वर्षता है वह उद्गीथ, जो बिजुली चमकती तथा मेघ गर्जता है वह प्रतिहार और धीरे २ वर्षा का बन्द होना निधन है, इसका नाम वैरूप साम है जो मेघ में ओतप्रोत है ॥

सं०-अब उक्त साम के जानने वाले को फल कथन करते हैं:—

स य एवमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतं वेद, विरूपाᳪश्च सुरूपाᳪश्च पशूनवरुन्धे, सर्वमायुरेति, ज्योग् जीवति, महान् प्रजया पशुभिर्भवति, महान् कीर्त्या, वर्षन्तं न निन्देत्तद्व्रतम् ॥२॥

अर्थ-जो पुरुष इस मेघ सम्बन्धी वैरूप साम को उक्त प्रकार से जानता है वह सब प्रकार के विरूप सुरूप वाले पशुओं को प्राप्त होता है, पूर्ण आयु को भोगता है, पवित्र जीवन वाला होकर जीता है, प्रजा और पशुओं से महान् होता है और बड़े यश वाला होता है, उसके लिये यह व्रत है कि बरसते हुए मेघ की निन्दा न करे ॥

इति पंचदशःखण्डः समाप्तः

अथ षोडशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब "वैराज" नामक साम का कथन करते हैं:—

वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मःप्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनमेतद्वैराजमृतुषुप्रोतम् ॥ १ ॥

अर्थ-वसन्त ऋतु हिङ्कार, ग्रीष्म ऋतु प्रस्ताव, वर्षा उद्गीथ, शरत् प्रतिहार और हेमन्त ऋतु निधन है, यह वैराज नामक साम ऋतुओं में ओत प्रोत है ॥

सं०-अब उक्त साम के ज्ञाता को फल कथन करते हैं :—

स य एवमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतं वेद, विराजति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन, सर्वमायुरेति, ज्योग् जीवति, महान् प्रजया पशुभिर्भवति, महान् कीर्त्या ऋतून्ननिन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

अर्थ-वह पुरुष जो ऋतुओं में ओत प्रोत इस वैराज मास को उक्त प्रकार से जानता है वह प्रजा, पशु तथा ब्रह्मतेज से विशेषतया सुशोभित होता, सम्पूर्ण आयु को पाता और पवित्र जीवन वाला होकर जीता है, प्रजा और पशुओं से महान् होता है, बड़ी कीर्ति वाला होता है, ऋतुओं की निन्दा न करे यह उसका व्रत है ॥

इति षोडशःखण्डः समाप्तः

अथ सप्तदशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब 'शक्करी" साम का कथन करते हैं:—

पृथिवी हिङ्कारोऽन्तरिक्षं प्रस्तावो द्यौरुद्गीथो दिशःप्रतिहारः समुद्रो निधनमेताः शक्कर्यो लोकेषु प्रोताः ॥ १ ॥

अर्थ-पृथिवी हिंकार, अन्तरिक्ष प्रस्ताव, द्युलोक उद्गीथ, दिशायें प्रतिहार और समुद्र निधन है, यह शक्करी साम कहाता है जो पृथिव्यादि लोकों में ओतप्रोत है ॥

सं०-अब उक्त साम के ज्ञाता को फल कथन करते हैं:—

स य एवमेताः शक्कर्यो लोकेषु प्रोता वेद, लोकी भवति सर्वमायुरेति, ज्योग् जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति

महान् कीर्त्या, लोकान्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

अर्थ-वह पुरुष जो पृथिव्यादि लोकों में ओतप्रोत इस शक्वरी नामक साम को उक्त प्रकार से जानता है वह पृथिव्यादि लोकों का स्वामी होता है, पूर्ण आयु को प्राप्त होता है, पवित्र जीवनवाला होकर जीता है, प्रजा और पशुओं से महान् होता है, बड़े यश वाला होता है, लोकों की निन्दा न करे उसका यह व्रत है ॥

भाष्य-पृथिव्यादि लोकों की विद्या के विज्ञानार्थ उक्त साम का वर्णन किया गया है, जो पुरुष पृथिव्यादि लोकों में ओतप्रोत इस शक्वरी नामा साम को भलेप्रकार जानता है वह पूर्ण आयु को भोगता है, पवित्र जीवन वाला होता है सन्तान, पशु आदिकों से महान् होता है, बड़ी कीर्तिवाला होता है, उसका यह व्रत है कि विद्या को पूर्णरीति से समझकर ज्ञानवान् हो, ऐसा पुरुष ही लोकों का स्वामी होता है ॥

इति सप्तदशःखण्डः समाप्तः

अथ अष्टादशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब "रेवती" नामक साम का कथन करते हैं:—

अजा हिङ्कारोऽवयः प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वा प्रतिहारः पुरुषो निधनमेता रेवत्यः पशुषु प्रोताः ॥ १ ॥

अर्थ-बकरी हिङ्कार, भेड़ें प्रस्ताव, गायें उद्गीथ, अश्व प्रतिहार और पुरुष निधन है, यह रेवती नामक साम पशुओं में ओतप्रोत है अर्थात् यह पशुविद्या के ज्ञानार्थ है ॥

सं०-अब उक्त साम के ज्ञाता को फल कथन करते हैं:—

स य एवमेता रेवत्यः पशुषु प्रोता वेद, पशुमान् भवति सर्वमायुरेति, ज्योग् जीवति, महान् प्रजया पशुभिर्भवति, महान् कीर्त्या, पशून्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

अर्थ-वह पुरुष जो पशुओं में ओतप्रोत इस रेवती नामक साम को उक्त प्रकार से जानता है वह पशुओं वाला होता है, सम्पूर्ण आयु को प्राप्त होता है, उत्तम जीवन वाला होकर जीता है, प्रजा और पशुओं से महान्, होता है, बड़ी कीर्ति वाला होता है, पशुओं की निन्दा न करे उसका यह व्रत है ॥

इति अष्टादशःखण्डः समाप्तः

अथ एकोनविंशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब " यज्ञायज्ञिय " नामक साम का कथन करते हैं :—

लोमहिङ्कारस्त्वक्प्रस्तावो माꣳसमुद्गीथोऽस्थि प्रतिहारो मज्जानिधनमेतद्यज्ञायज्ञियमङ्गेषु प्रोतम् ॥ १ ॥

अर्थ-लोम हिङ्कार, त्वचा प्रस्ताव, मांस उद्गीथ, अस्थि प्रतिहार, मज्जा निधन है, यह यज्ञायज्ञीय साम शरीर के अवयवों में ओतप्रोत है ॥

सं०-अब उक्त साम के ज्ञान का फल कथन करते हैं :—

सय एवमेतद्यज्ञायज्ञियमङ्गेषुप्रोतं वेद, अङ्गी भवतिनाङ्गेनविहूर्च्छति, सर्वमायुरेति, ज्योग् जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या, संवत्सरं मज्ज्ञोनाश्नीयात्तद्व्रतं मज्ज्ञोनाश्नीयादितिवा ॥२॥

अर्थ-वह पुरुष जो अवयवों में ओतप्रोत इस यज्ञायज्ञीय साम को उक्त प्रकार से जानता है वह दृढ़ अङ्गों वाला होता है, किसी अङ्ग से अंगभंग नहीं होता, सम्पूर्ण आयु को प्राप्त होता है, पवित्र जीवन वाला होकर जीता है, प्रजा और पशुओं से महान् होता है, बड़ी कीर्त्ति वाला होता है, कभी वर्ष में भी मांस न खाय निश्चय करके मांस नहीं खाय यह उसका व्रत है ॥

भाष्य-लोम हिंकार, त्वचा प्रस्ताव, मांस उद्गीथ, अस्थि प्रतिहार और मज्जा निधन है, यह यज्ञायज्ञीय साम शरीरावयव सम्बन्धी है अर्थात् जो पुरुष इस साम को उक्त प्रकार से अवयवों में ओत प्रोत जानता है वह दृढ़ अङ्गों वाला तथा पूर्ण अङ्गों वाला होता है अंग भंग नहीं होता, सम्पूर्ण आयु को प्राप्त होता है, पवित्र जीवन वाला होता है, सन्ततिरूप प्रजा तथा पशु और कीर्ति से महान् होता है, उसका यह व्रत है कि वर्ष में कभी मांसभक्षण न करे, फिर दृढ़ता के लिये दुहराते हैं कि वह कभी भी मांस न खाय ॥

भाव यह है कि इसमें किसी नियत समय के लिये मांस का निषेध नहीं किन्तु सदा के लिये निषेध है, क्योंकि यदि किसी कालविशेष के लिये निषेध होता तो " संवत्सरं मज्ज्ञोनाश्नीयात् " इतना ही कथन होता पर इससे अनन्तर जो " मज्ज्ञोनाश्नीयात् " यह कथन किया है, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि कभी भी मांस न खाय, वर्ष का व्रत केवल मांस में लोलुप चित्त वाले के लिये कथन किया है वस्तुतः निषेध में तात्पर्य्य है ॥

इति एकोनविंशःखण्डः समाप्तः

अथ विंशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब "राजन" नामक साम का कथन करते हैं:—

अग्निर्हिङ्कारो वायुः प्रस्ताव आदित्यउद्गीथो नक्षत्राणि प्रतिहारश्चन्द्रमा निधनमेतद्राजनं देवतासु प्रोतम् ॥ १ ॥

अर्थ—अग्नि हिंङ्कार, वायु प्रस्ताव, आदित्य उद्गीथ, नक्षत्र प्रतिहार और चन्द्रमा निधन है, यह "राजन" साम अग्न्यादि देवताओं में ओतप्रोत है अर्थात् यह अग्न्यादि विद्याओं के ज्ञानार्थ है ॥

सं०—अब उक्त साम के ज्ञाता को फल कथन करते हैं:—

स य एवमेतद्राजनं देवतासु प्रोतं वेदैतासामेव देवताना१ँ सलोकता१ँ सार्ष्टिता१ँ सायुज्यं गच्छति, सर्वमायुरेति, ज्योग्जीवति, महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्त्या ब्राह्मणान्न निन्देत्तद्व्रतं ॥२॥

अर्थ—वह पुरुष जो देवताओं में ओतप्रोत इस राजन साम को उक्त प्रकार से जानता है वह इन्हीं देवताओं की समीपता, समानता और उनके प्रयोग विज्ञान को प्राप्त होता है, सम्पूर्ण आयु पाता है, उत्तम जीवन वाला होकर जीता है, प्रजा और पशुओं से महान् होता है, बड़ी कीर्ति वाला होता है, ब्राह्मणों की निन्दा न करे, उसका यह व्रत है ॥

भाष्य—उक्त श्लोकों में "राजन" साम का वर्णन तथा उसका फल कथन कियागया है, यह देवता सम्बन्धी साम है, जैसाकि कथन किया है कि अग्नि हिङ्कार, वायु प्रस्ताव, आदित्य उद्गीथ, नक्षत्र प्रतिहार और चन्द्रमा निधन है, जो तत्ववेत्ता पुरुष उक्त देवताओं में ओतप्रोत इस साम को जानता है वह अग्नि, वायु आदि देवताओं की सलोकता=समीपता को प्राप्त होता है अर्थात् उनके भावों को यत्किञ्चित् जानना प्रारम्भ करदेता है, सार्ष्टिता=समीपता को प्राप्त होता है अर्थात् उक्त देवताओं के भावों का साक्षात्कार करलेता है कि यह इन २ पदार्थों से मिलकर बना है, इसका यह गुण है, इत्यादि, सायुज्यता=उनके प्रयोग विज्ञान को प्राप्त करता है अर्थात् आग्नेय, वायव्य नक्षत्रादि विद्याओं को भलेप्रकार जानकर उनसे उपयोग लेता है, जैसाकि आग्नेयास्त्रादिकों की विद्या प्रसिद्ध है जो आजकल भी यत्किञ्चित् वर्ताव में आरही है, इन विद्याओं को प्राप्त होता है, पूर्ण आयु को

पाता है, पवित्र जीवन वाला होकर जीता है, अपनी सन्ततिरूप प्रजा तथा पशुओं से महान् होता है और बड़ी कीर्तिवाला होता है, ब्राह्मण=वेदविद् पुरुषों की निन्दा न करे जो इस विद्या के जानने वाले हैं यही उसका व्रत है ॥

इति विंशःखण्डः समाप्तः

अथ एकविंशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों में ओतप्रोत साम का कथन करते हैं:—

त्रयीविद्या हिङ्कारस्त्रय इमे लोकाः स प्रस्तावोऽग्निवायुरादित्यः स उद्गीथो नक्षत्राणि वयाᳫं सि मरीचयः स प्रतिहारः सर्पागन्धर्वाःपितरस्तन्निधनमेतत्साम सर्वस्मिन्प्रोतम् ॥ १ ॥

अर्थ—वेद हिङ्कार, जो यह तीनों लोक हैं वह प्रस्ताव, अग्नि, वायु, आदित्य उद्गीथ, नक्षत्र पक्षी, किरणें प्रतिहार, सर्प, गन्धर्व और जो पितर हैं वह निधन हैं, यह साम सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में ओतप्रोत है ॥

भाष्य—कर्म, उपासना तथा ज्ञान यह त्रयीविद्यात्मक जो वेद है वह "हिङ्कार" पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्यौ यह तीनों लोक "प्रस्ताव" अग्नि, वायु, आदित्य यह तीन देवता "उद्गीथ" नक्षत्र, पक्षी तथा किरणें "प्रतिहार" सर्प, गन्धर्व=गानविद्या में कुशल और पितर=माता, पिता, आचार्य्यादि "निधन" हैं, क्योंकि इन्हीं के द्वारा पुरुष स्वाध्याय करके उक्त साम को प्राप्त होता है जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में ओतप्रोत है ॥

सं०—अब उक्त साम के ज्ञाता को फल कथन करते हैं:—

स य एवमेतत्साम सर्वस्मिन् प्रोतं वेद सर्वᳫं ह भवति ॥ २ ॥

अर्थ—वह पुरुष जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में ओतप्रोत इस साम को उक्त प्रकार से जानता है वह निश्चयकरके सबका स्वामी होता है ॥

भाष्य—जो पुरुष सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में ओतप्रोत उक्त साम को जानता है, या यों कहो कि वेद द्वारा जिसको भलेप्रकार परमात्मा का साक्षात्कार होगया है वह पुरुष सबका पूज्य होने के कारण स्वेच्छानुसार उसको सब पदार्थ प्राप्त होते हैं, क्योंकि सब लोग उसको अपने स्वामी की दृष्टि से देखते हैं ॥

सं०—अब उक्त साम को सर्वोपरि कथन करते हैं :—

तदेष श्लोको यानि पञ्चधात्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति ॥ २ ॥

अर्थ—उस पूर्वोक्त श्लोक में जो पंचविध साम में तीन २ त्रिक कथन किये गये हैं उन त्रिकों से वड़ा और सर्वोत्तम अन्य साम नहीं है ॥

भाष्य-जिसमें तीन पदार्थ हों उसको "त्रिक" कहते हैं, प्रथम श्लोक के हिङ्कार, प्रस्ताव, उगद्गीथ, प्रतिहार और निधन विभाग में जो तीन २ त्रिक= कर्म, उपासना तथा ज्ञान यह तीन विद्यायें, पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यौ यह तीन लोक, इत्यादि त्रिक कथन कियेगये हैं इनसे वड़ा और उत्कृष्ट अन्य कोई साम न होने से यह सर्वोत्तम है ॥

सं०—अब उक्त साम के ज्ञाता को फल वर्णन करते हुए उसका व्रत कथन करते हैं :—

यस्तद्वेद स वेद सर्वꣳसर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति सर्वमस्मीत्युपासीत, तद्व्रतं तद्व्रतम् ॥ ४ ॥

अर्थ-जो पुरुष उक्त साम को जानता है वह सब पदार्थों का ज्ञाता होता है, उसके लिये सब दिशाओं के पुरुष भेट लेकर आते हैं, मैं सब कुछ करने को समर्थ हूं, ऐसा विचारे यह उसका व्रत है ॥

भाष्य-"तद्व्रतम्" पाठ दोबार उक्त अर्थ की दृढ़ता तथा खण्ड की समाप्ति के लिये आया है, जो उपासक उक्त साम को भलेप्रकार जानता है उसको जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होजाता है, या यों कहो कि संसार में कोई ऐसा पदार्थ नहीं जिसको वह पूर्णरीति से न जानता हो, ऐसे पुरुष के लिये चारो ओर से लोग भेट लेकर आते हैं अर्थात् उसको भोग्य पदार्थ अर्पण करते हैं, ऐसा ही पुरुष विद्वान् कहलाता है, जिसके द्वारा ईश्वर, जीव और जगत् का यथार्थ ज्ञान हो वह "विद्या" और उस विद्या का जानने वाला "विद्वान्" कहलाताहै, "मैं सब कुछ कर सकता हूं" उसमें ऐसा आत्मिक बल होता है और यही उसका व्रत है ॥

इति एकविंशःखण्डः समाप्तः

अथ द्वाविंशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—पूर्व खण्डों में विविध सामगान तथा उसके फलों का वर्णन करके अब इस खण्ड में सामगान के उपदेष्टाओं के नाम और उनकी प्रकृति कथन करते हैं :—

विनर्दि साम्नो वृणे पशव्यमित्यग्नेरुद्गीथोऽनिरुक्तः प्रजापतेर्निरुक्तः सोमस्यमृदुश्लक्ष्णं वायोः श्लक्ष्णं बलवदिन्द्रस्यक्रौञ्चं बृहस्पतेरपध्वान्तं वरुणस्य तान्सर्वानेवोपसेवेत वारुणन्त्वेव वर्जयेत् ॥ १ ॥

अर्थ-पशुओं के नाद सदृश नाना स्वरयुक्त सामगान को स्वीकार करता हूं, यह उद्गीथ सामगान अग्नि का है, प्रजापति का अनिरुक्त, सोम का निरुक्त, वायु का कोमल और मीठा, इन्द्र का मृदु और बलवान्, बृहस्पति का क्रौञ्च समान, वरुण का ध्वनिरहित है, उन सभी गानों को यज्ञ में गावे केवल वरुण के सामगान को त्याग दे ॥

भाष्य—जिस गान में पशुओं के नाद समान स्वर हो उसका नाम "विनर्दि" अथवा जिस गान में विशेष नाद हो उसका नाम "विनर्दि" है, यह विनर्दि पशव्य सामगान अग्नि नामक ऋषि का है अर्थात् इस सामगान का ऋषि "अग्नि" है, अनिरुक्त=अनुपम अर्थात् जो अकथनीय हो, या यों कहो कि जिसका वर्णन करना अति कठिन हो उसको "अनिरुक्त" कहते हैं, इस सामगान के ऋषि "प्रजापति" हैं, निरुक्त=जो स्पष्ट प्रकार से समझ में आवे और जो श्रोत्रों को प्रिय लगे अथवा जिसको श्रवण कर पुरुष गद्गद् हो परमात्मा के यशकीर्तन में ध्यान लगावे उसका नाम "निरुक्त" है, इस सामगान के ऋषि "सोम" हैं, मृदु=मीठा, श्लक्ष्ण=रसयुक्त अर्थात् मीठा जिसके गान से रस चुए उसका नाम "मृदु, श्लक्ष्ण" है, इस साम के ऋषि "वायु" हैं, श्लक्ष्ण=रसीला, बलवत्=बलवान् अर्थात् जो रसीला और जिसके गान से आत्मिक बल प्राप्त हो उसका नाम "श्लक्ष्ण, बलवत्" है, इस सामगान के उपदेष्टा महर्षि "इन्द्र" हैं, क्रौञ्च = कूंज नामक पक्षी जो आकाश में भ्रमण करता है उसके नाद सदृश जिसका गान हो उसका नाम "क्रौंच" है, इस सामगान के उपदेष्टा महर्षि "बृहस्पति" हैं, और जो अपध्वान्त=ध्वनिरहित अर्थात् जो ध्वनि श्रोत्रों को प्यारी न लगे, जैसे कि फूटे कांस्यपात्र की घां घां होती है तद्वत् ध्वनि करने वाले का नाम

"अपध्वान्त" है, इस सामगान के उपदेष्टा महर्षि "वरुण" हैं, इस वारुण सामगान को छोड़कर शेष सब सामगान अर्थात् विनर्दि, अनिरुक्त निरुक्त, मृदुश्लक्ष्ण, श्लक्ष्ण, बलवत् और क्रौंच इन सब सामगानों को यज्ञ में गावे ॥

सं०— अब उक्त सामगान का उद्देश्य कथन करते हैं:—

अमृतत्वं देवेभ्य आगायानीत्यागायेत्स्वधां पितृभ्य आशां मनुष्येभ्यस्तृणोदकं पशुभ्यः स्वर्गं लोकं यजमानायान्नमात्मन आगायानीत्येतानि मनसाध्यायन्न प्रमत्तः स्तुवीत॥२॥

अर्थ—देवताओं के लिये अमृत को गान करूं, पितरों के लिये स्वधा को, मनुष्यों के लिये आशा को, पशुओं के लिये तृण और जल को, यजमान के लिये परम सुखकारक स्थान को, अपने लिये अन्न को गाऊं और इसी प्रकार सब गावें, इन सब गानों द्वारा मन से परमात्मा का ध्यान करता हुआ सावधान चित्त से परमात्मा की स्तुति करे ॥

भाष्य—इस श्लोक में सामगान का उद्देश्य कथन किया गया है कि उद्गाता अमुक २ उद्देश्य से सामगान करे अर्थात् देवता = विद्वान् पुरुषों के लिये अमृत को गावे कि हे परमात्मन् ! सब विद्वान् पुरुष पूर्ण आयु भोगें, पिता पितामह आदि पितरों के लिये यह प्रार्थना करे कि यह लोग उच्चपद को प्राप्त होते रहें ताकि जगत् का कल्याण हो, साधारण मनुष्यों के लिये यह प्रार्थना करें कि हे सर्वरक्षक परमपिता परमात्मन् ! आप ऐसी कृपा करें कि इनकी शुभ आशायें पूर्ण हों, पशुओं के लिये तृण और जल की प्रार्थना करे, यजमान के लिये परमसुखकारक उत्तम स्थान तथा उत्तम अवस्थाविशेष की प्रार्थना करे कि हे सर्वरक्षक पितामह ! मेरा यजमान जिस स्थान वा अवस्था में रहे सदा सुखी रहे, और अपने लिये उस महान् परमात्मा से अन्न वस्त्र की प्रार्थना करे, इत्यादि भावों को लक्ष्य रखकर उद्गाता परमपिता परमात्मा से सब के लिये प्रार्थना करता हुआ यह भी प्रार्थना करे कि हे महाराज ! आप अन्य ऋत्विकों के हृदय में भी ऐसा भाव उत्पन्न करें कि जिसप्रकार मैं इनके हितार्थ सामगान करता हूं इसी प्रकार वह सब भी गावें अर्थात् अन्य सब ऋत्विक् भी परमात्मा से यही प्रार्थना करें, इसप्रकार मन से उस परमपिता परमात्मा का ध्यान करता हुआ अप्रमत्त चित्त से उसी की स्तुति करे ॥

सं:—अब स्वरादि वर्ण तथा उनके उपदेष्टाओं का कथन करते हैं:—

सर्वेस्वरा इन्द्रस्यात्मानः सर्व ऊष्माणः प्रजापतेरात्मानः सर्वे स्पर्शा मृत्योरात्मानस्तं यदि स्वरेषूपालभेतेन्द्रँ शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रतिवक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात् ॥ ३ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण स्वर इन्द्र की आत्मा हैं, सब ऊष्मा प्रजापति की आत्मा हैं, सब स्पर्श महर्षि मृत्यु की आत्मा हैं, यदि कोई पुरुष उद्गाता वा अन्य ऋत्विक् के प्रति स्वरों के उच्चारण में उपालम्भ देवे तो वह इस उपालम्भ का यह उत्तर दे कि मैं इन्द्र की शरण को प्राप्त हुआ हूं वही तुमको उत्तर देवेंगे ॥

भाष्य—अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ, यह नव "स्वर" वर्ण हैं, इनके उपदेष्टा तथा तत्वज्ञाता महर्षि "इन्द्र" हैं, श, ष, स, ह, यह "ऊष्मा" वर्ण हैं, इनके उपदेष्टा महर्षि "प्रजापति" हैं, क, ख, ग, घ, ङ। च, छ, ज, झ, ञ। ट, ठ, ड, ढ, ण। त, थ, द, ध, न। प, फ, ब, भ, म, यह सब "स्पर्श" वर्ण हैं, इनके उपदेष्टा तथा तत्वज्ञाता महर्षि "मृत्यु" हैं, यदि उद्गाता वा अन्य ऋत्विक् को कोई पुरुष स्वरों के उच्चारण में उपालम्भ देवे अर्थात् यह कथन करे कि हे उद्गाता! तुम स्वरों का उच्चारण यथायोग्य नहीं करते अशुद्ध करते हो, ऐसा करने से तुम दोष के भागी होगे और यजमान को भी अनिष्ट होगा, इस उपालम्भ का उत्तर उद्गाता यह देवे कि मैंने स्वरों का उच्चारण "इन्द्र" से सीखा है वही तुमको उत्तर देवेंगे, आप उनके शिष्य सम्प्रदाय के समीप जावें अर्थात् उनकी शिक्षानुसार पठनपाठन करें तब आपको इनका यथार्थ ज्ञान होगा, यदि आप हठात् निन्दा करेंगे तो अप्रतिष्ठित होंगे, क्योंकि "स्वरों" के तत्ववेत्ता महर्षि इन्द्र ही हैं अन्य नहीं, सो तुम उन्हीं से इनके उच्चारण की जिज्ञासा करो ॥

सं०—अब " ऊष्मा " तथा " स्पर्श " वर्णों की अशुद्ध्यादि विषयक कथन करते हैं:—

अथ यद्येनमूस्मसूपालभेत प्रजापतिꣳशरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रति पेक्ष्यतीत्येनं ब्रूया-
दथ यद्येनꣳस्पर्शेषूपालभेत मृत्युꣳशरणं प्रप-
न्नोऽभूवं स त्वा प्रतिधक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात् ॥ ४ ॥

अर्थ—स्वर वर्णों के अनन्तर यदि इस उद्गाता ऋत्विक् को ऊष्मा वर्णों के विषय में कोई उपालम्भ दे तो इसको ऋत्विक् कहे कि मैं प्रजापति की शरण को प्राप्त हुआ हूं वह आपके प्रति कथन करेंगे, अब यदि इस उद्गाता को स्पर्श वर्ण विषयक कोई उपालम्भ दे तो उसको वह कथन करे कि मैं मृत्यु की शरण को प्राप्त हुआ हूं वह आपके प्रति कथन करेंगे ॥

भाष्य—इस श्लोक में यह कथन कियागया है कि यदि उद्गातादि ऋत्विकों को " ऊष्मा " वर्णों की अशुद्धि विषय में कोई उपालम्भ दे कि आपने अमुक

वर्ण अशुद्ध उच्चारण किया है तो उसको उद्गाता यह उत्तर दे कि मैंने महर्षि प्रजापति की शिक्षानुसार उक्त वर्णों का उच्चारण सीखा है आप उनको प्राप्त हों अर्थात् उनकी शिक्षानुसार पठनपाठन करें तब आपको इन वर्णों का बोध होगा, यदि आप उनकी शिक्षानुसार पठनपाठन न करके निन्दा करेंगे तो उक्त महर्षि की शिक्षानुसर पठनपाठन करने वाले तुझको अप्रतिष्ठित कहेंगे, क्योंकि तू उक्त भाव को भलेप्रकार नहीं जानता, इसी प्रकार यदि कोई " स्पर्श " वर्ण विषयक उद्गातादि ऋत्विकों से कथन करे तो वह उसको यही उत्तर देवे कि मैंने महर्षि मृत्यु की शिक्षानुसार उक्त वर्णों का उच्चारण सीखा है आप उनको प्राप्त हों अर्थात् उन्हीं की शिक्षानुसार पठनपाठन करें तब आपको बोध होगा, क्योंकि उक्त वर्णों के तत्ववेत्ता महर्षि मृत्यु ही हैं अन्य नहीं, सो तुम उनसे ही इनके उच्चारण की जिज्ञासा करो ॥

सं०–अब प्रतिपक्षी का " इन्द्रादि " देवों को प्राप्त होना कथन करते हैं :—

सर्वेस्वराघोषवन्तो बलवन्तो वक्तव्या इन्द्रे बलं ददानीति सर्व ऊष्माणो अग्रस्ता निरस्ता विवृत्ता वक्तव्याः प्रजापतेरात्मानंपरिददानीति सर्वे स्पर्शालेशेनानभिनिहिता वक्तव्या मृत्योरात्मानं परिहराणीति ॥ ५ ॥

अर्थ–सम्पूर्ण स्वर उच्चनाद वाले तथा बल से उच्चारण करने योग्य हैं, इन्द्र प्रचारित विद्या के रक्षणार्थ अपने बल को प्रदान करूं, सम्पूर्ण ऊष्मा वर्ण ग्रस्त तथा निरस्त धर्म से रहित खुले मुख से उच्चारण करने योग्य हैं, प्रजापति को अपना आत्मा भलेप्रकार अर्पण करूं, सम्पूर्ण स्पर्श वर्ण शनैः २ पृथक् २ उच्चारण करने योग्य हैं, महर्षि मृत्यु को अपना आत्मा भलेप्रकार अर्पण करूं ॥

भाष्य–सम्पूर्ण स्वर जिनको पीछे वर्णन कर आये हैं वह बलपूर्वक उच्च स्वर से उच्चारण योग्य हैं, क्योंकि व्यंजन स्वर की सहायता से बोले जाते हैं, इस कारण अन्य को बल देने से वह विशेष बलवान् हैं, सो उपरोक्त प्रतिपक्षी महर्षि इन्द्र प्रचारित स्वरों के गुणज्ञान से मोहित होकर परमात्मा से प्रार्थना करता है कि हे परमात्मन् ! आप ऐसी कृपा करें कि इन्द्र प्रचारित विद्या के रक्षणार्थ ही अपने सम्पूर्ण बल को प्रदान करूं, एवं सम्पूर्ण ऊष्म वर्ण जो ग्रस्त=पकड़े हुए, निरस्त=फेंके हुए धर्म से रहित खुले हुए मुख से शुद्ध उच्चारण करने योग्य हैं, सो प्रतिपक्षी इन ऊष्माक्षरों के गुणज्ञान से मोहित होकर परमात्मा से प्रार्थना करता है कि हे परमपिता ! आप मेरे में ऐसी शक्ति प्रदान करें कि मैं इनके उपदेष्टा महर्षि प्रजापति को अपना आत्मा अर्पण करूं अर्थात् प्रजापति प्रचारित विद्या के रक्षणार्थ अपने सम्पूर्ण बल को प्रदान करूं, इसी प्रकार सम्पूर्ण स्पर्श वर्ण जो शनैः २ पृथक् २ उच्चारण योग्य हैं, सो प्रतिपक्षी महर्षि मृत्यु

से जो इनके उपदेष्टा हैं इनके गुणों की शिक्षा ग्रहण करके परमात्मा से प्रार्थना करता है कि हे परमात्मन् ! आप मेरे आत्मा में ऐसा बल प्रदान करें कि मैं उक्त महर्षि प्रचारित विद्या के रक्षण में ही अपना सर्वस्व अर्पण करूं ॥

इति द्वाविंशःखण्डः समाप्तः

अथ त्रयोविंशः खण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब धर्म के मुख्यस्कन्ध वर्णन करते हुए ब्रह्मनिष्ठ पुरुष को मुक्ति की प्राप्ति कथन करते हैं:—

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनंदानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्य्याचार्य्यकुलवासो तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्य्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवंति ब्रह्मसꣳस्थोऽमृतत्वमेति ॥१॥

अर्थ—धर्म के स्कन्ध तीन हैं, जिनमें से यज्ञ, अध्ययन और दान यह तीनों मिलकर प्रथम स्कन्ध, तप ही दूसरा स्कन्ध है, अपने आपको अतिशय क्षीण करता हुआ आचार्य्यकुलवासो ब्रह्मचारी आचार्य्यकुल में जो निवास करताहै वही तीसरा स्कन्ध है, यह सब आश्रमी पुण्यलोक वाले होते हैं, और जो इनमें से ब्रह्मनिष्ठ होता है वह मुक्ति को प्राप्त होता है ॥

भाष्य—महर्षियों ने धर्म को मुख्य तीन भागों में विभक्त किया है जिनमें यज्ञ, अध्ययन और दान करना प्रथम स्कन्ध तथा केवल तप करना ही द्वितीय स्कन्ध और ब्रह्मचारी बनकर यमनियमादिकों द्वारा तपश्चरण करते हुए आचार्य्य-कुल में निवास करना धर्म का तीसरा स्कन्ध है, स्कन्ध तथा भाग यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, यह सब आश्रमी पुण्यलोक वाले अर्थात् धार्मिक होते हैं परन्तु इनमें जो ब्रह्मनिष्ठ=परमात्मपरायण होता है वही मुक्त को प्राप्त होता है अन्य नहीं ॥

सं०—अब लोकलोकान्तरों तथा वेदों की उत्पत्ति कथन करते हैं:—

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत् तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयी विद्या सम्प्रास्रवत्तामभ्यतपत्तस्या अभितप्ताया एता-न्यक्षराणि सम्प्रास्रवन्त भूर्भुवः स्वरिति ॥ २ ॥

अर्थ—परमात्मा ने सम्पूर्ण लोकों को प्रकाशित किया उनके प्रकाशित होने के अनन्तर वेद आविर्भूत हुए उनको ऋषियों द्वारा प्रकाशित किया, उस वेद के प्रकाशित होने के अनन्तर यह अक्षर भूः, भुवः, स्वः प्रकट हुए ॥

भाष्य—प्रजापति परमात्मा ने प्रथम सम्पूर्ण लोकलोकान्तरों को प्रकाशित किया इसके अनन्तर अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा द्वारा त्रयीविद्या, कर्म

उपासना तथा ज्ञानरूप वेद उत्पन्न हुए, वेदों के प्रकाशित होने के अनन्तर भूः, भुवः स्वः यह तीन व्याहृति प्रकट हुईं जिनका अर्थ यह है कि भूः=प्राण,भुवः= दुःख विनाशक, स्वः=सुखस्वरूप तथा अपने उपासकों को सुख की प्राप्ति कराने वाला इत्यादि गुणविशिष्ट परमात्मा ने सम्पूर्ण लोकलोकान्तरों को प्रकाशित किया ॥

सं०—अब परमात्मा की सर्वव्यापकता कथन करते हैं:—

तान्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्य ओङ्कारः सम्प्रास्रवत्तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि सन्तृण्णान्येवमोङ्कारेण सर्वा वाक् सन्तृण्णोङ्कार एवेदꣳसर्वमोङ्कार एवेदꣳसर्वम् ॥ ३ ॥

अर्थ—उक्त व्याहृतियों को प्रजापति परमात्मा ने प्रकाशित किया, उनके प्रकाशित होने के अनन्तर ब्रह्म स्वयं प्रकाशित हुआ इस कारण जैसे नाल से सब पत्र छिदे हुए होते हैं इसी प्रकार परमात्मा से सब वाणियें छिदी हुई हैं और परमात्मा इन सब में व्याप्त है ॥

भाष्य—"**ओङ्कार एवेदंसर्वम्**" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, ब्रह्म ने सम्पूर्ण लोकलोकान्तरों को प्रकाशित करने के अनन्तर तीन व्याहृतियों को प्रकाशित किया और व्याहृतियों के प्रकाशानन्तर ब्रह्म प्रकाशित हुआ अर्थात् ब्रह्म का अर्थ ज्ञात हुआ, सो जिसप्रकार पर्णनाल से सम्पूर्ण पत्रःछिदे हुए होते हैं वा जिसप्रकार रथ के पहिये में आरे लगे हुए होते हैं इसीप्राकर ओंङ्कार में सम्पूर्ण वाणियें व्याप्त हैं, या यों कहो कि ओंङ्कार ही इस सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त होकर सबको धारण कररहा है ॥

इति त्रयोविंशःखण्डः समाप्तः

अथ चतुर्विंशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब तीन देवों के तीन सवन कथन करते हैं:—

ब्रह्मवादिनो वदन्ति यद्वसूनां प्रातः सवनꣳ रुद्राणांमाध्यन्दिनꣳसवनमादित्यानाञ्च विश्वेषाञ्च देवानां तृतीयसवनम् ॥ १ ॥

अर्थ—ब्रह्मवादी कथन करते हैं कि जो प्रातःसवन है वह वसुओं का, जो माध्यन्दिन सवन है वह रुद्रों का और जो तीसरा सवन है वह सूर्य्यादिकों और सम्पूर्ण देवों के हितार्थ होता है ॥

भाष्य-" तिस्र एव देवता "=वसु, रुद्र और आदित्य यह तीन ही देवता हैं, जिनके सवन इस प्रकार हैं कि वसुओं का प्रातःसवन, रुद्रों का माध्यन्दिन=दुपहर सवन और आदित्यादि अन्य सब देवों का तृतीय=सायंकाल सवन है अर्थात् " वासयन्ति भूतानि इति वसवः "=भूतों के निवास स्थान का नाम " वसु " है और वह अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र यह आठ वसु हैं, इनका प्रातःसवन तथा गायत्री छन्द है, अन्तरिक्षस्थ वायु, मेघ तथा विद्युदादि को " रुद्र " कहते हैं, इनका माध्यन्दिन सवन और त्रिष्टुप्छन्द है और आदित्य तथा विश्वेदेव का सायंसवन और जगती छन्द है, इस प्रकार क्रमशः लोकों का ज्ञान प्राप्त करता हुआ यजमान यज्ञ करे ॥

सं०-अब अज्ञानी यजमान के लिये यज्ञ का निषेध कथन करते हैं :—

क्व तर्हि यजमानस्य लोक इति स यस्तं न विद्यात्कथं कुर्यादथ विद्वान् कुर्यात् ॥ २ ॥

अर्थ-यजमान का लोक कहां है जो वह उसको नहीं जानता तो कैसे यज्ञ करे, यदि जानता है तो यज्ञ करे ॥

भाष्य-इस श्लोक में ज्ञानपूर्वक कर्मों का विधान किया है कि यज्ञ के अनुष्ठान करने वाले यजमान को जबतक यह ज्ञात न हो कि इस कर्म के करने से मुझको किस अवस्था की प्राप्ति होगी अथवा इस कर्म के करने से क्या फल होगा तबतक वह कर्म करने में प्रवृत्त न हो और जब भलेप्रकार ज्ञान होजाय कि अमुक कर्म का यह फल होता है तथा इस कर्म का करने वाला अमुक अवस्था को प्राप्त होता है तब वह कर्म करने में प्रवृत्त हो ॥

सं०-अब सुबोध यजमान के लिये प्रातःसवन की विधि कथन करते हैं: —

पुराप्रातरनुवाकस्योपाकरणाज्जघनेनगार्हपत्यस्योदङ्मुख उपविश्य स वासवꣳसामाभिगायति ॥३॥

अर्थ-प्रातरनुवाक के प्रारम्भ करने से पूर्व गार्हपत्याग्नि के पीछे उत्तराभिमुख बैठकर वह यजमान " वासव " नामक साम का गान करे ॥

भाष्य-प्रातःकाल में जिसके द्वारा परमात्मविभूति की गान से प्रशंसा कीजाय उसका नाम " प्रातरनुवाक " है, स्तोत्र, स्तव, स्तोम तथा प्रातरनुवाक यह सब पर्य्याय शब्द हैं, जिस कुण्ड में गार्हपत्याग्नि स्थापित रहती है उसके पीछे उत्तराभिमुख बैठकर यजमान " वासव " नामा साम द्वारा परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करे कि हे परमात्मन् ! आप मुझे इस संसार में अभ्युदय प्राप्त

करावें अर्थात् सब प्रकार का ऐश्वर्य्य प्रदान करें, मेरा शरीर तथा मेरी सन्तति नीरोग रहे, सब ऋतुयें, जल वायु आदि मेरे अनुकूल हों और मैं सब प्रकार से ऐश्वर्य्य का भोगने वाला होऊँ, पृथिवी और पृथिवी के आश्रितपदार्थों का नाम "वसु" और वसुओं के स्वामी परमात्मा का नाम "वासव" है, सो उक्त सामगान द्वारा यजमान परमात्मा से प्रार्थना करे कि पृथिवीस्थ सब पदार्थ मुझको प्राप्त हों, यही इस श्लोक का आशय है ॥

सं०—अब "वासव" साम का कथन करते हैं :—

लो३कद्वारमपावा३र्ण ३ ३ पश्येम त्वावय॰रा ३ ३ ३ ३ ३ हुं ३ आ ३ ३जा ३ यो ३ आ ३ १ १ १ इति ॥४॥

अर्थ—इस लोक के द्वार को खोलदें, हम लोग आपको ऐश्वर्य्य के अर्थ देखें ॥

भाष्य—"वासव" सामगान द्वारा यजमान परमात्मा से प्रार्थना करता है कि हे परमपिता परमात्मन्! आप अपनी असीम कृपा तथा दया से अभ्युदय की प्राप्ति के लिये इसलोक के द्वार को खोलदें अर्थात् सब प्रकार का ऐश्वर्य्य हमको प्राप्त करायें, इसी कारण हमलोग यजन करते हैं, आपके अनुग्रह के बिना संसार का कोई पदार्थ हमको उपलब्ध नहीं होसक्ता, आप आनन्दमय हैं हमें भी आनन्दित कीजिये कि हम लोग आपके समीप आने के लिये योग्यता प्राप्त करें, यह आपसे बारम्बार विनयपूर्वक प्रार्थना है ॥

सं०—अब प्रार्थना के पश्चात् यजमान का हवन करना कथन करते हैं :—

अथ जुहोति नमोऽग्नये पृथिवीक्षिते लोकक्षिते लोकं मे यजमानाय विन्दैष वै यजमानस्य लोक एतास्मि ॥ ५ ॥

अर्थ—अब यजमान हवन करता है, हे पृथिवीपते तथा अन्य लोकों के स्वामी प्रकाशस्वरूप आपको मेरा नमस्कार हो, यजमान के लिये उत्तम अवस्था प्राप्त कीजिये, निश्चय करके यही यजमान का लोक होगा उसी को मैं प्राप्त होऊंगा ॥

भाष्य—प्रार्थना के पश्चात् यजमान गार्हपत्याग्नि में हवन करता है कि हे लोकलोकान्तरों के स्वामी अथवा हे सर्वव्यापक प्रकाशस्वरूप परमात्मन्! आपको मेरा नमस्कार हो, आप अपनी परम कृपा से मुझ यजमान को उत्तम अवस्था प्राप्त करायें, हे परमात्मन्! जिस अवस्था में आप रखेंगे उसी अवस्था को मैं प्राप्त होऊंगा, मैं सर्वथा आपके अधीन हूं आप मेरे रक्षक स्वामी हैं सो आप कृपा करके मुझको उत्तम स्थान प्रदान करें ॥

सं०—अब हवन के पश्चात् यजमान की प्रार्थना कथन करते हैं:—

अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहाऽपजहि परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति तस्मै वसवः प्रातः सवन॰ संप्रयच्छन्ति ॥ ६ ॥

अर्थ—हे परमात्मन् ! आप आशीर्वाद दें कि मैं यजमान इस जीवन के पश्चात् इसी अवस्था में रहूं, हे भगवन् ! अविद्या को दूर करो, ऐसा कथन करके वहां से उठजाय, परमात्मा प्रातःकालिक यज्ञ का फल उस यजमान को देते हैं ॥

भाष्य—प्रातःसवन का हवन करने के पश्चात् यजमान परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करता है कि हे परमात्मन् ! आप ऐसी कृपा करें कि मरण के अनन्तर भी मुझको यही मनुष्य योनि प्राप्त हो, हे परमपिता परमात्मन् ! आनन्द की निवारक अविद्या को मुझ से सदा के लिये पृथक् कीजिये ताकि मैं सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करसकूं, इस प्रकार प्रार्थना करके यजमान वहां से उठजाय, ऐसे अनुष्ठानशील यजमान को परमात्मा प्रातःकालिक यज्ञ का फल देते हैं ॥

सं०-अब माध्यन्दिन सवन की विधि कथन करते हैं:—

पुरा माध्यन्दिनस्य सवनस्योपाकरणाज्जघनेनाऽऽग्नीध्रीय-स्योदङ्मुख उपविश्य स रौद्र ँ सामाभिगायति ॥ ७ ॥

अर्थ—वह यजमान माध्यन्दिन सवन के प्रारम्भ से पूर्व आग्नीध्रीय अग्नि के पीछे उत्तराभिमुख बैठकर रौद्र साम को भलेप्रकार विचारे ॥

भाष्य—इस श्लोक में माध्यन्दिन सवन की विधि कथन करते हुए यह वर्णन किया है कि यजमान माध्यन्दिन सवन के प्रारम्भ से पूर्व आग्नीध्रीय जिसको दक्षिणा भी कहते हैं उसके पीछे उत्तराभिमुख बैठकर " रौद्र " नामक साम का विचार करे ॥

सं०—अब " रौद्र " नामक साम का कथन करते हैं:—

लो३कद्वारमपावा ३र्णू ३ ३ पश्येम त्वा वयं वै रा ३३३३३हुं३आ३३ज्या ३यो ३आ ३२१११ इति ॥८॥

अर्थ-इस सुखलोक के द्वार को खोलदें, हम लोग आपको ऐश्वर्य्य की प्राप्ति के लिये देखें ॥

भाष्य-हे परमपिता परमात्मन् ! आप कृपाकरके इस लोक के ऐश्वर्यरूप द्वार को खोलदें अर्थात् ऐसी कृपा करें कि हम लोग आपकी महती विभूति का अवलोकन करते हुए ऐश्वर्य्यसम्पन्न तथा ऐश्वर्य्य के भोगने वाले हों, यह आप से हमारी विनयपूर्वक प्रार्थना है ॥

सं०-अब यजमान का हवन करना कथन करते हैं:—

अथ जुहोति नमो वायवेऽन्तरिक्षक्षिते लोकक्षिते लोकं मे यजमानाय विन्दैष वै यजमानस्य लोक एतास्मि ॥ ९ ॥

अर्थ-अब यजमान हवन करता है, अन्तरिक्ष में व्यापक, अन्य लोकलोकान्तरों में व्यापक प्राणस्वरूप ब्रह्म को नमस्कार हो, मुझ यजमान के लिये इस लोक का

ऐश्वर्य्य प्राप्त करायें, निश्चयकरके यह लोक मुझ यजमान का हो, यह मुझको प्रदान करें ॥

भाष्य-परमात्मा की प्रार्थना के अनन्तर उक्त मंत्र द्वारा यजमान हवन करता है कि हे जगतपिता, हे सब लोकलोकान्तरों में व्यापक परमात्मन्, हे प्राणदाता और सर्वरक्षक दयामय ! आपको नमस्कार हो, आप ऐसी कृपा करें कि इस लोक का ऐश्वर्य्य मुझको प्राप्त हो और मैं न्यायपूर्वक इस ऐश्वर्य्य का भोक्ता होऊं, यह मेरी आप से प्रार्थना है ॥

सं०—अब हवन के अनन्तर यजमान की प्रार्थना कथन करते हैं:—

अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहाऽपजहि परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति तस्मै रुद्रा माध्यन्दिनᳪसवनᳪ सम्प्रयच्छन्ति ॥ १० ॥

अर्थ-हे परमात्मन् ! आप आशीर्वाद दें कि मैं यजमान इस जीवन के पश्चात् इसी अवस्था में रहूं, इस अविद्यारूप अर्गल को मुझसे दूर करें, इस प्रकार प्रार्थना करके वहां से उठ जाय, उस यजमान को परमात्मा माध्यन्दिनसवन का फल देते हैं ॥

भाष्य-हवनानन्तर यजमान यह प्रार्थना करे कि हे जगत्स्रष्टा, हे जगत्पालक परमात्मन् ! आप ऐसी कृपा करें कि मैं इस जीवन के पश्चात् भी उत्तम अवस्था में वर्त्तमान रहूं अर्थात् मुझको मनुष्ययोनि प्राप्त हो, हे परमपिता ! इस अविद्यारूप अर्गल को मुझसे दूर करें ताकि विद्या ही में मेरा वास हो, इत्यादि, इस प्रकार प्रार्थना करके यजमान वहां से उठजाय, ऐसे कर्मकाण्डी यजमान को परमात्मा माध्यन्दिन सवन का फल प्रदान करते हैं ॥

सं०—अब तृतीय सवन की विधि कथन करते हैं :—

पुरा तृतीयसवनस्योपाकरणाज्जघनेनाऽऽहवनीयस्योदङ्मुख उपविश्य स आदित्यᳪस वैश्वदेवᳪ सामाभिगायति ॥ ११ ॥

अर्थ-वह यजमान तीसरे सवन के प्रारम्भ से पूर्व आहवनीयाग्नि के पीछे उत्तराभिमुख बैठकर आदित्य को और वैश्वदेव साम को विचारे ॥

भाष्य-प्रातःसवन तथा माध्यन्दिन सवन का वर्णन करने के अनन्तर इस श्लोक में तृतीयसवन का कथन किया है कि यजमान तृतीयसवन के आरम्भ से पूर्व आहवनीयाग्नि के पीछे अर्थात् जहां उक्त अग्नि स्थापित है उसके भूमिभाग में उत्तराभिमुख बैठकर "आदित्य" और "वैश्वदेव" साम को भलेप्रकार मन से विचारे ॥

सं०—अब "आदित्य" साम का कथन करते हैं:—

लो३कद्वारमपावा ३ र्णू ३ ३ पश्येमत्वा

वय ७ स्वारा ३३३३३ हुं ३ आ ३ ३
ज्या ३ यो ३ आ ३२१११ इति ॥ १२ ॥

अर्थ-इस लोक के ऐश्वर्य्यरूप द्वार को खोलदें, हमलोग आपको ऐश्वर्य्य की प्राप्ति के लिये देखें ॥

सं०—अब "वैश्वदेव" साम का कथन करते हैं :-

आदित्यमथ वैश्वदेवं लो३कद्वारमपावा३र्णू३३पश्येम त्वा वय ॐ
साम्रा ३३३३३ हुं ३३ ज्या३यो३ आ ३२१११ इति ॥ १३ ॥

अर्थ-और हे सर्वत्रदीप्तिमान, हे विश्व के देव ! इस ऐश्वर्य्यरूप लोक के द्वार को खोलदें ताकि हम लोग आपको ऐश्वर्य्य की प्राप्ति के लिये देखें ॥

सं०-अब यजमान का हवन करना कथन करते हैं :—

अथ जुहोति नम आदित्येभ्यश्च विश्वेभ्यश्च देवेभ्यो दिवि-
क्षिद्भ्यो लोकक्षिद्भ्यो लोकं मे यजमानाय विन्दत ॥ १४ ॥

अर्थ—प्रार्थनानन्तर यजमान हवन करता है कि यह हुतद्रव्य आदित्यस्थ जीवों को, सम्पूर्ण विश्व के देवों को, द्युलोकस्थ जीवों को और अन्यलोक निवासियों को प्राप्त हो और मुझ यजमान के लिये इस लोक को प्राप्त करायें ॥

सं०—अब हवनानन्तर यजमान की प्रार्थना कथन करते हैं:-

एष वै यजमानस्य लोकं एताऽस्म्यत्र यजमानः परस्ता-
दायुषः स्वाहाऽपहत परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति ॥ १५ ॥

अर्थ-हे परमपिता परमात्मन् ! आप आशीर्वाद दें कि मुझ यजमान को यह लोक प्राप्त हो, निश्चयकरके मैं यजमान इस आयु के पीछे इसी अवस्था में रहूं, अविद्यारूप अर्गल को मुझसे दूर कीजिये, यह प्रार्थना कर यजमान वहां से उठजाय ॥

भाष्य-हे परमपिता परमात्मन् ! आप कृपाकरके ऐसा आशीर्वाद दें कि मुझ यजमान की यह अवस्था उत्तम रीति से पूर्ण हो और मैं इस आयु के पीछे अर्थात् मरणानन्तर भी इसी अवस्था में रहकर आपका यश कीर्तन करता रहूं, हे परमेश्वर ! आपही का सर्वत्र आधिपत्य है आपही सब कर्मफलों के दाता और विद्या के प्रदान करनेवाले हैं, सो हे पिता ! ऐसी कृपा करें कि यह अविद्यारूप अर्गल मुझसे दूर हो और मैं विद्या के मार्ग पर चलता हुआ आपकी आज्ञा का पालन करूं, इस प्रकार प्रार्थना कर यजमान वहां से उठजाय ॥

सं०—अब उक्त सवन का फल कथन करते हैं:—

तस्मा आदित्याश्चविश्वे च देवास्तृतीय सवनꣳ सम्प्रयच्छन्त्येष ह वै यज्ञस्य मात्रां वेद य एवं वेद य एवं वेद ॥ १६ ॥

अर्थ—उस यजमान को आदित्य और सम्पूर्ण विद्वान् तृतीय सवन का फल देते हैं, निश्चय करके प्रसिद्ध है कि यह यजमान यज्ञ के तत्व को जानता है, जो इस प्रकार जानता है ॥

भाष्य—"य एवं वेद" पाठ दो वार उक्त अर्थ की दृढ़ता तथा प्रपाठक की समाप्ति के लिये आया है, तृतीयसवन के अनुष्ठाता यजमान को आदित्य और सम्पूर्ण विद्वान् उक्त कर्म का फल देते हैं अर्थात् आदित्यस्थ पदार्थों में व्यापक तथा उनका स्वामी प्रकाशस्वरूप परमात्मा और सम्पूर्ण विद्वान् उसको आशीर्वाद देते हैं कि तेरा कल्याण हो, तेरी मनोकामना पूर्ण हो, ऐसा ही यजमान निश्चयकरके तत्व का ज्ञाता होता है और उसी को इस जन्म में उच्च अवस्था प्राप्त होती है ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे
छान्दोग्योपनिषदार्य्यभाष्ये
द्वितीयः प्रपाठकः समाप्तः



ओ३म्

अथ तृतीयः प्रपाठकः प्रारभ्यते

सं०-अब रूपकालङ्कार द्वारा परमात्मा का महत्व वर्णन करते हुए उसकी प्राप्ति कथन करते हैं :—

असौ वा आदित्यो देवमधु, तस्य द्यौरेव तिरश्ची-
नवꣳशोऽन्तरिक्षमपूपो मरीचयः पुत्राः ॥ १ ॥

अर्थ-निश्चयकरके यह प्रकाशस्वरूप परमात्मा विद्वानों के लिये अमृत है, उसका द्युलोक ही तिरछा बांस हैं, अन्तरिक्ष मधुमक्षिकाओं का छत्ता और नाना प्रकार की ज्योतिवाले नक्षत्र उस छत्ते के पुत्रस्थानीय हैं ॥

तस्य ये प्राञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्राच्यो मधु-
नाड्य ऋच एव मधुकृत ऋग्वेद एव पुष्पं ता
अमृता आपस्ता वा एता ऋचः ॥ २ ॥

अर्थ-उस ब्रह्मरूप मधु के जो पूर्व की किरणें हैं वही इस मधु की पूर्वदिक्स्थ मधुनालियें हैं, ऋचायें ही मधु के बनाने वाली मक्खियां हैं, ऋग्वेद ही पुष्प है, वह पुष्प अमृतरूप जल है, निश्चयकरके उन ऋचाओं ने, इसका आगे के श्लोक से सम्बन्ध है ॥

एतमृग्वेदमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज
इन्द्रियं वीर्य्यमन्नाद्यꣳ रसोऽजायत ॥ ३ ॥

अर्थ-इस ऋग्वेदरूप पुष्प को जब तपाया तब उस अभितप्त पुष्प से यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य्य, खाद्यपदार्थ और रस उत्पन्न हुए ॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा
एतद्यदेतदादित्यस्य रोहितꣳरूपम् ॥४॥

अर्थ-उन यशादिकों को विशेषरूप से ब्रह्म चारो ओर से आश्रय किये हुए है, निश्चयकरके वही यह उस परमात्मा का महत्व है जो यह स्पष्टरूप से भासित होरहा है ॥

भाष्य-इस खण्ड के उक्त चारो श्लोकों में रूपकालङ्कार द्वारा परमात्मा का महत्व वर्णन करते हुए यह कथन किया है कि वह परमपूज्य परमात्मा विद्वानों के लिये अमृत है अर्थात् विद्वान् पुरुष ही उसके समीप जाकर अमृतपान करते

हैं अन्य नहीं, जैसाकि "तद्दूरे तद्वन्तिके" यजु० ४०।५ में वर्णन किया है कि वह विद्वानों के अतिनिकट और मूर्खों से अतिदूर है, "आसमन्ताद्-द्योतते प्रकाशते इति आदित्यः" =जो चारो ओर से प्रकाश करे उसका नाम "आदित्य" है अथवा "आसमन्तात् स्तुत्यः पूज्येति आदित्यः" =जो सब ओर से स्तुति करके पूजा जाता है उसका नाम "आदित्य" है, सो यह गुण परमपिता परमात्मा में ही घटते हैं किसी जड़ पदार्थ में नहीं, इत्यादि गुणयुक्त जो परमात्मा है उसको इस श्लोक में देवमधु वर्णन कियागया है "मदयते तर्पयति यत्तन्मधु"=जो मधुवत् आनन्द का देनेवाला हो उसका नाम "मधु" है, सो यहां परमात्मा को मधु वर्णन करते हुए अलङ्कार द्वारा यह कथन किया है कि द्युलोक ही तिरछा वांस है, अन्तरिक्ष मधुमक्षिकाओं का छत्ता और उसमें नाना प्रकार की ज्योति वाले नक्षत्र पुष्पस्थानीय हैं।

और जो उस सर्वत्र व्यापक परमात्मा के पूर्वदिक् की ओर किरण समान ज्ञान है वही इस मधु को प्राचीदिक्स्थ मधुनालियें हैं जिनके द्वारा प्राचीदिशा में ज्ञान विस्तृत होता है, ऋतुयें मधु को बनाने वाली मक्खियां तथा ऋग्वेद पुष्प है और वह पुष्प अमृतरूप जल है अर्थात् ऋचाओं में मधुरूप अमृत वास करता है जिसको पानकर मनुष्य अमृत होजाता है और ऋग्वेद को पुष्पस्थानीय इस कारण वर्णन किया है कि जिस प्रकार पुष्पों से रस लेकर मक्षिकायें मधु बनाती हैं इसी प्रकार ऋग्वेदरूप पुष्पों से ज्ञानरूप रस ऋचायें लेती हैं और ऋचाओं से मनुष्य ग्रहण कर तृप्त होता है, उन ऋचाओं ने इस ऋग्वेदरूप पुष्प को जब तपाया, या यों कहो कि उनसे ज्ञान मन्थन किया तब उस ज्ञान से यश, तेज, इन्द्रिय, पराक्रम, खाद्यपदार्थ और रस उत्पन्न हुए, जिसका भाव यह है कि जब पुरुष उस अमृतरूप मधु का पान करता है तब वह यशस्वी, तेजस्वी, प्राणों वाला, पराक्रमी, भोक्ता, अन्नवान्, अन्नाद और रसरूप अमृत का पान करनेवाला होता है और उक्त यश, तेजादिकों को परमात्मा सब ओर से व्याप्त किये हुए है अर्थात् यह सब परमपिता परमात्मा के आश्रित हैं जिस पर उसकी महती कृपा होती है उसीको उक्त पदार्थ प्राप्त होते हैं, या यों कहो कि जो पुरुष उस परमपिता परमेश्वर की आज्ञा पालन करते हैं उन्हीं को उक्त पदार्थ प्राप्त होते हैं अन्य को नहीं, और यही परमात्मा का महत्व है कि वह कर्मानुसार न्यायपूर्वक फल देता है, उसकी आज्ञा का पालन करना ही अमृत की प्राप्ति और उससे विमुख होना ही मृत्यु है, अतएव मनुष्यमात्र का कर्तव्य है

कि वह परमपिता परमात्मा की आज्ञा का पालन करता हुआ उसके निकट जाकर मधुरूप अमृत को पान कर मुक्ति को प्राप्त हो ॥

इति प्रथमःखण्डः समाप्तः

अथ द्वितीयःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब यजुर्वेद के मननशील को फल कथन करते हैं:—

अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मयस्ता एवास्य दक्षिणा मधुनाड्यो यजूꣳष्येव मधुकृतो यजुर्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपः ॥ १ ॥

अर्थ—और इस ब्रह्म के जो दक्षिण दिशा में रश्मिरूप तेज है वही इस ब्रह्मरूप मधु की दक्षिण दिशा वाली मधुनालियें हैं, यजुर्वेद की ऋचा ही मधु बनाने वाली मक्खियां तथा यजुर्वेद ही फूल है और वह फूल अमृतरूप जल है ॥

तानि वा एतानि यजूꣳष्येतं यजुर्वेदमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्य्यमन्नाद्यꣳरसोऽजायत ॥ २ ॥

अर्थ—निश्चयकरके वह मधुमक्खियां इस यजुर्वेदरूप पुष्प को मथन करती हैं, उन मथन किये हुए पुष्पों से यश, तेज, इन्द्रिय, पराक्रम, भोग्यपदार्थ और रस उत्पन्न होते हैं ॥

भाष्य—प्रथम खण्ड में रूपकालङ्कार से प्राची दिक्स्थ मधुनालियों द्वारा ऋग्वेदरूप पुष्पों का मधुरूप अमृत तथा उसके पान का फल वर्णन करके इस द्वितीय खण्ड में यह कथन किया है कि आदित्यरूप ब्रह्म की जो दक्षिण दिशा-वाली मधुरूप नालियें हैं उन नालियों में रस प्रवाहण करने वाली यजुर्वेद की ऋचायें हैं, यजुर्वेद पुष्परूप है और वह पुष्प जलरूप अमृत है, यजुर्वेद के ज्ञाता ही मक्षिकारूप भ्रमर हैं जो उक्त ऋचाओं से ज्ञानरूप रसपान करते हैं, इस प्रकार यजुः मथन करके जो ज्ञानरूप पान करते हैं वह यशस्वी, तेजस्वी, प्राणों वाले, पराक्रमी, अन्नवान् तथा अन्न के भोक्ता और रस रूप अमृत के पान करने वाले होते हैं ॥

सं०—अब परमात्मा की महिमा का वर्णन करते हैं:—

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य शुक्लꣳरूपम् ॥ ३ ॥

अर्थ—वह यशादि सर्वत्र फैलकर ब्रह्म के ही सब ओर से आश्रित रहते हैं, निश्चय करके यही प्रकाशस्वरूप ब्रह्म का महत्व है और वह महत्व शुभ्रदीप्ति वाला है ॥

भाष्य—उस मधुपान करने वाले जिज्ञासु को जो यश, तेज, पराक्रमादि मिलते हैं वह सर्वत्र फैल जाते हैं अर्थात् उसकी चारो ओर से रक्षा करते हैं पर वास्तव में उक्त यशादि परमात्मा के ही आश्रित रहते हैं, जिस पर उनकी परम कृपा होती है उसको उक्त पदार्थ मिलते हैं, या यों कहो कि जो पुरुष परमात्मा की आज्ञा का पालन करते हैं अर्थात् वेद में कथन किये नियमानुसार श्रवण, मनन, निदिध्यासनादि करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं उन्हीं को यश आदि की प्राप्ति होती है. ऐसे पुरुष ही संसार में अमर रहते और सूर्य्य के समान चमकते हैं, यही परमात्मा का महत्व है जो शुभ्रदीप्ति वाला चहुंदिक् भासमान होरहा है ॥

इति द्वितीयः खण्डः समाप्तः

अथ तृतीयः खण्डः प्रारभ्यते

स०—अब सामवेद के मनन करने वाले जिज्ञासु को फल कथन करते हैं:—

अथ येऽस्य प्रत्यञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्रतीच्यो मधुनाड्यः सामान्येव मधुकृतः सामवेद एव पुष्पं ता अमृता आपः ॥१॥

अर्थ—और इस ब्रह्म के जो पश्चिम दिक्स्थ रश्मिरूप नालियें हैं वही इस ब्रह्मरूप मधु की पश्चिमदिशस्थ मधुनालियें हैं, सामवेद की ऋचा ही मधुरूप मक्खियां हैं, सामवेद ही पुष्प और वही अमृतरूप जल है ॥

तानि वा एतानि सामन्येतँसामवेदमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्य्यमन्नाद्यꣳरसोऽजायत ॥ २ ॥

अर्थ—निश्चयकरके वह सामवेद की ऋचारूप मक्खियां इस सामवेदरूप पुष्प का मथन करती हैं उसके मथन से यश, तेज, प्राण, पराक्रम, अन्नाद्य और मधुरूप अमृत उत्पन्न होते हैं ॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्य-देतदादित्यस्य कृष्णꣳरूपम् ॥ ३ ॥

अर्थ—वह यशादि सर्वत्र फैले हुए सब आदित्यरूप ब्रह्म के ही चारो ओर आश्रित हैं, निश्चयकरके वही यह ब्रह्म का महत्व है जो कृष्णदीप्ति वाला सर्वत्र भासमान है ॥

भाष्य—उस ब्रह्मरूप मधु की जो सामऋचारूप पश्चिमदिशस्थ नालियें हैं अर्थात् पश्चिमदिशा में जो उसका ज्ञान विस्तृत होरहा है वही ऋचारूप मधुमक्षिका हैं, सामवेद पुष्प है, और वही पुष्प अमृतरूप जल है जिसको जिज्ञासु

पान करते ही अमृत होजाता है अर्थात् जब ऋचारूप मक्खियां सामवेदरूप पुष्प का मथन करती हैं तब उसके मथन करने से उक्त अमृतरूप जल निकलता है जिसको ऋचायें ग्रहण करती हैं और ऋचाओं से जिज्ञासु ज्ञानरूप रस पान करके यशस्वी, तेजस्वी आदि गुण सम्पन्न होते हैं, पर स्मरण रहे कि उक्त यशादि ब्रह्म के ही आश्रित रहते हैं और परमपिता परमात्मा की जिन पर महती कृपा होती है उन्हीं को उक्त पदार्थ उपलब्ध होते हैं अन्य को नहीं, और यही परमात्मा का महत्व है जो चहुंदिक् भासमान होरहा है, या यों कहो कि सामवेद के मननशील पुरुष को उक्त पदार्थ उपलब्ध होते हैं, अतएव सबका कर्तव्य है कि वेदरूप ज्ञान को बड़े प्रयत्न से उपलब्ध करें ताकि परमात्मा की प्रसन्नता से हमको उत्तम२ पदार्थ प्राप्त हों ॥

इति तृतीयःखण्डः समाप्तः

अथ चतुर्थःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब अथर्ववेद के मनन करने वाले जिज्ञासु को फल कथन करते हैंः—

अथ येऽस्योदञ्चो रश्मयस्ता एवास्योदीच्यो मधुनाड्योऽथर्वाङ्गिरस एव मधुकृत इतिहासपुराणं पुष्पं ता अमृता आपः ॥१॥

अर्थ—और जो इस ब्रह्म के उत्तर दिशा में रश्मिरूप नालियें हैं वही इस ब्रह्मरूप मधु की उत्तरदिशस्थ मधुनालियें हैं, अथर्ववेद ही मधु की मक्खियें हैं, इतिहास और पुराण ही पुष्प हैं वही अमृतरूप जल है ॥

ते वा एतेऽथर्वाङ्गिरस एतदितिहासपुराणमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्य्यमन्नाद्यꣳरसोऽजायत ॥ २ ॥

अर्थ—निश्चयकरके जो जिज्ञासु उन अथर्ववेद की ऋचाओं और इस इतिहास तथा पुराण का मन्थन करता है उसके मन्थन करने से यश, तेज, प्राण, पराक्रम, भोग्यशक्तिऔर मधुरूप अमृत उत्पन्न होते हैं ॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य परं कृष्णꣳरूपम् ॥ ३ ॥

अर्थ—वह यशादि सर्वत्र फैले हुए प्रकाशस्वरूप ब्रह्म के ही सब ओर से आश्रित हैं, निश्चयकरके वह ब्रह्म की महिमा है जो यह अत्यन्त कृष्ण रूप है ॥

भाष्य—इस खण्ड के श्लोकों का भी वही भाव है जो पूर्व के खण्डों में वर्णन कियागया है अर्थात् अथर्ववेद के मन्थन करने वाले जिज्ञासु को यश, तेज, प्राणादि प्राप्त होते हैं और ऐसा ही पुरुष मधुरूप अमृत का अधिकारी होता है ॥

भाव यह है कि जो पुरुष अंग और उपाङ्गों सहित एक एक वेद का भी श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन करता है उसका जीवन पवित्र होजाता है और उसीको अभ्युदय तथा निःश्रेयस की प्राप्ति होती है, अतएव सब जिज्ञासुओं को उचित है कि ब्रह्मचर्य्यपूर्वक वेद का ही पठन पाठन करें जो अमृत पद को प्राप्त कराने वाला है ॥

इति चतुर्थः खण्डः समाप्तः

अथ पंचमः खण्डः प्रारभ्यते

सं०–अब वैदिक शिक्षाओं के मनन करने वाले जिज्ञासु को फल कथन करते हैंः—

अथ येऽस्योर्ध्वारश्मयस्ता एवास्योर्ध्वा मधुनाड्यो गुह्या एवाऽऽदेशा मधुकृतो ब्रह्मैव पुष्पं ता अमृता आपः ॥ १ ॥

अर्थ–और इस ब्रह्म के जो उपरिस्थ रश्मिरूप नालियें हैं वही इस ब्रह्मरूप मधु की ऊर्ध्वगामिनी मधुनालियें हैं, गुह्य वैदिक शिक्षायें ही मधुरूप मक्खियां हैं, वेद ही पुष्प हैं और वही अमृतरूप जल है ॥

ते वा एते गुह्या आदेशा एतद्ब्रह्माभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्य्यमन्नाद्यꣳ रसोऽजायत ॥ २ ॥

अर्थ–निश्चय करके जो यह गूढ़ वैदिक शिक्षा के लिये इस वेद को मन्थन करते हैं उस मन्थन करने वालों को यश, तेज, प्राण, पराक्रम, भोग्य पदार्थ और मधुरूप अमृत उत्पन्न होता है ॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्य-देतदादित्यस्यमध्ये क्षोभत इव ॥ ३ ॥

अर्थ–वह यशादि सब ओर फैले हुए ब्रह्म के चारो ओर से आश्रित हैं, निश्चय करके वही यह ब्रह्म का महत्व है जो बीच में शोभायमान होरहा है ॥

ते वा एते रसानाꣳरसा वेदा हि रसास्तेषामेते रसास्तानि वा एतान्यमृतानाममृतानि वेदा-ह्यमृतास्तेषामेतान्यमृतानि ॥ ४ ॥

अर्थ–निश्चय करके वह यशादि रसों के रस हैं क्योंकि वेदरूप रस अमृत

है उन वेदों के यह रस हैं निश्चयकरके वह यज्ञादि अमृतों के अमृत हैं, क्योंकि वेद अमृत हैं और उन वेदों के यह अमृत हैं ॥

भाष्य-इन पांच खण्डों में मधुविद्या का वर्णन किया गया है अर्थात् रूपकालङ्कार द्वारा वर्णन किया है कि ब्रह्म ही मधु है और उसके पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण और ऊपर, नीचे सब ओर मधु की नालियें वह रही हैं, चारों वेदों की ऋचायें मधुमक्षिकारूप हैं जिनसे जिज्ञासु मधु पान कर अमृत होते हैं, क्योंकि यह मधु अमृतरूप हैं, और अमृत नाम मोक्ष का है अतः यह मोक्ष स्वरूप परमानन्द रूप धाम निखिलदुःख रहित है, इसी कारण इस अन्तिम श्लोक में वर्णन किया है कि यह यज्ञादि अमृतों के अमृत हैं, क्योंकि वेद अमृत हैं और यह वेदों के रस होने के कारण अमृतों के भी अमृत हैं और यह अमृतों के अमृत उसी जिज्ञासु पुरुष को प्राप्त होते हैं जो अमृतरूप ब्रह्म का विचार करता हुआ उस परमपिता परमात्मा की शरण में जाता है अन्य को नहीं ॥

इति पंचमः खण्डः समाप्तः

अथ षष्ठः खण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब "वसु" संज्ञक ब्रह्मचारी की गति कथन करते हैं:—

तद्यत्प्रथमममृतं तद्वसव उपजीवन्त्यग्निनामुखेन । न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

अर्थ-उन अमृतों में जो प्रथम अमृतस्वरूप ब्रह्म है उसको प्राप्त होकर देदीप्यमान मुख से ब्रह्मचारी सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं, निश्चयकरके दिव्य गुण सम्पन्न न खाते हैं न पीते हैं, निश्चय करके इस अमृत को साक्षात् कर तृप्त रहते हैं ॥

भाष्य—जो ब्रह्मचारी २५ वर्ष पर्य्यन्त आचार्य्यकुल में वास करते हुए अंग और उपाङ्गों सहित वेदों का अध्ययन कर समावर्तन करते हैं उनकी "वसु" संज्ञा होती है, यह वसुसंज्ञक ब्रह्मचारी जिनके चेहरे अग्नि के समान देदीप्यमान होरहे हैं उनका जीवन सुखपूर्वक व्यतीत होता है, या यों कहो कि ऐसे ब्रह्मचारी ही उस अमृतरूप मधु के अधिकारी होते हैं जिसका पीछे के खण्डों में वर्णन कर आये हैं, ऐसे ब्रह्मचारी जिन्होंने नियमपूर्वक वेदों का अध्ययन किया है वह उस अमृतरूप मधु को पाकर तृप्त रहते हैं केवल शरीरयात्रा के लिये उनका खान पान होता है किसी अन्य भाव से नहीं ॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ २ ॥

अर्थ—वह ब्रह्मचारी इस ही ब्रह्म को सब ओर से अनुभव करते हुए इसी ब्रह्मोपासना के कारण सर्वत्र उदय होते हैं ॥

भाष्य—वह "वसु" संज्ञक ब्रह्मचारी सब ओर से ब्रह्म को प्राप्त करके तृप्त होते हैं फिर उनको अपना कोई कर्तव्य दृष्टिगत नहीं होता, वह परमात्मा के अपहतपाप्मादि गुणों को धारण कर आनन्दमय होजाते हैं और सर्वत्र=सब लोकलोकान्तरों में कामचारी होते हैं ॥

स य एतदेवममृतं वेद वसूनामेवैकोभूत्वाग्निनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति।३।

अर्थ—वह पुरुष जो निश्चयकरके इस अमृत को उक्त प्रकार से जानता है वह वसुओं में एक होकर देदीप्यमान मुख से निश्चयकरके इस अमृत को अनुभव करता हुआ तृप्त होकर इसी महत्व को चारो ओर अनुभव करता और इसी अमृत के प्रभाव से सर्वत्र उदय होता है ॥

सं०—अब उक्त जिज्ञासु के लिये फल कथन करते हैं :—

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता वसूनामेव तावदाधिपत्यꣳ स्वाराज्यं पर्य्येता ॥ ४ ॥

अर्थ—सूर्य्य जब तक पूर्वदिशा में उदय होता रहेगा, पश्चिम दिशा में अस्त होता रहेगा तबतक वसुओं के ही मध्य सुखरूपराज्य के अधिकार को पाकर वह जिज्ञासु सब ओर विचरता रहेगा ॥

भाष्य—जो जिज्ञासु निश्चयरूप से इस अमृतरूप मधु को जानता है वह सब वसुओं के मध्य देदीप्यमान होकर इसी अमृतरूप मधु को अनुभव करता हुआ आनन्दित=परमसुख को प्राप्त होता है, या यों कहो कि उस आनन्द को चारो ओर से अनुभव करता है और इसी अमृत के प्रभाव से सर्वत्र उदय=प्रकाशित होता है अर्थात् सब वसुओं में प्रतिष्ठा पाता है, अधिक क्या जब तक सूर्य्य और चांद रहेंगे तबतक वह वसुओं के ही मध्य स्वतन्त्रतापूर्वक विचरता रहेगा, अतएव सिद्ध है कि जो पुरुष इस संसार में आनन्द को उपलब्ध करना चाहे वह ब्रह्मचर्य्यपूर्वक साङ्गोपाङ्ग वेदों का अध्ययन करे, वेदवेत्ता पुरुष ही संसार के दुःखों से छूटकर अमृत पद को प्राप्त होता, वही सूर्य्य की भांति सर्वत्र चमकता और स्वेच्छाचारी होकर सर्वत्र विचरता है ॥

इति षष्ठःखण्डः समाप्तः

अथ सप्तमः खण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब "रुद्र" संज्ञक ब्रह्मचारी की गति कथन करते हैं:—

अथ यद्द्वितीयममृतं तद्रुद्रा उपजीवन्तीन्द्रेणमुखेन । न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

अर्थ—जो द्वितीय अमृत ब्रह्म है उसको पाकर प्रकाशित मुख से रुद्राख्य ब्रह्मचारी सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं, निश्चयकरके वह विद्वान् न खाते और न पीते हैं, इसी अमृत को साक्षात्कार करके तृप्त रहते हैं ॥

भाष्य—इस खंड में द्वितीय अमृत कथन किया गया है कि जो ब्रह्मचारी यजुर्वेद द्वारा उस परमात्मा को प्राप्त करते हैं अर्थात् आचार्य्यकुल में वास करते हुए साङ्गोपाङ्ग यजुर्वेद का अध्ययन करते हैं वह प्रकाशित मुख से सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए परमात्मा को साक्षात्कार कर तृप्त रहते हैं और वह ऐश्वर्य्यवान् होने के कारण "इन्द्रमुख" कहलाते हैं ॥

त एतदेवरूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ २ ॥

अर्थ—वह रुद्रसंज्ञक ब्रह्मचारी इस ही ब्रह्म को सब ओर से अनुभव करते हैं और इसी उपासना के कारण सर्वत्र प्रकाशित होते हैं ॥

स य एतदेवममृतं वेद रुद्राणामेवैको भूत्वेन्द्रेणैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति । स एतदेवरूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

अर्थ—वह पुरुष जो उक्त प्रकार से इस अमृत को जानता है वह रुद्रों में ही एक होकर निश्चय करके दीप्ति वाले मुख से प्रकाशित हो इसी अमृत को अनुभव करके तृप्त रहता है, वह इसी महत्व को चारो ओर अनुभव करता हुआ इसी ज्ञान के प्रभाव से प्रकाशित होता है ॥

भाष्य—वह ४४ वर्ष के रुद्र संज्ञक ब्रह्मचारी जिन्होंने यजुर्वेद द्वारा ज्ञान सम्पादन किया है वह ब्रह्म ही को सब ओर से अनुभव करते और इसी उपासना के कारण सर्वत्र प्रकाशित होकर मुक्ति के सुख का आनन्द लेते हैं ।

जो पुरुष उक्त प्रकार से इस अमृतरूप मधु को यजुर्वेद द्वारा जानता है वह रुद्रों में ही एक होता है उसका मुख बड़ी दीप्ति वाला होता और वह इसी अमृत को पाकर तृप्त रहता है, वह परमात्म महत्व को ही चारो ओर अनुभव करता हुआ सब प्रकार से संतुष्ट रहता और इसी ज्ञान के प्रभाव से वह संसार में उदय होता है ॥

सं०—अब उक्त ज्ञान का फल कथन करते हैं :—

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता द्विस्तावद्दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता रुद्राणामेवतावदाधिपत्यꣳस्वाराज्यं पर्य्येता ॥ ४ ॥

अर्थ—जितने काल सूर्य्य पूर्व दिशा में उदित होता रहेगा, पश्चिम दिशा में अस्त होता रहेगा उससे द्विगुण काल दक्षिण दिशा में उदित होता रहेगा, उत्तर दिशा में अस्त होता रहेगा उतने काल वह जिज्ञासु रुद्रों के बीच में ही सुखमय अधिकार प्राप्त कर स्वेच्छाचारी हो विचरता रहेगा ॥

भाष्य—इस श्लोक में रुद्ररूप ब्रह्मचारी के पद को प्राप्त जिज्ञासु के लिये यह फल कथन किया है कि जबतक पूर्व दिशा में सूर्य्य उदय होता रहेगा तथा पश्चिम दिशा में अस्त होता रहेगा और उसके द्विगुणकाल पर्य्यन्त दक्षिण दिशा में उदय होता रहेगा तथा उत्तरदिशा में अस्त होता रहेगा उतने काल पर्यन्त वह जिज्ञासु रुद्रों के मध्य सुखमय आधिपत्य प्राप्त कर स्वेच्छाचारी हो विचरता रहेगा।

यहां पर जो सूर्य का दक्षिण दिशा में उदय और उत्तर दिशा में अस्त होना कथन किया है वह सापेक्ष है अर्थात् अपनी २ अपेक्षा से सूर्य्य का उदय अस्त माना जाता है वास्तव में न सूर्य्य उदय होता और न अस्त होता है, इसलिये उक्त कथन में कोई दोष नहीं ॥

इति सप्तमःखण्डः समाप्तः

अथ अष्टमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब "आदित्य" संज्ञक ब्रह्मचारी की गति कथन करते हैं:—

अथ यत्तृतीयममृतं तदादित्या उपजीवन्ति वरुणेन मुखेन । न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

अर्थ—अब जो तीसरा अमृत ब्रह्म है उसको पाकर आदित्य संज्ञक ब्रह्मचारी वरुणरूप मुख से ब्रह्म के समीप आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं, वह विद्वान् निश्चयकरके न खाते, न पीते हैं, इसी अमृत को साक्षात्कार कर तृप्त रहते हैं ॥

भाष्य—इस श्लोक में आदित्य संज्ञक ब्रह्मचारी "जिसने ४८ वर्ष पर्य्यन्त साङ्गोपाङ्ग सामवेद का अध्ययन किया है" उसका महत्व वर्णन किया गया है

कि सामवेद प्रतिपादित जो ब्रह्म उसको पाकर उक्त ब्रह्मचारी जिसके मुख की कान्ति परमशोभायमान है वह ब्रह्म की समीपता का अनुभव करता हुआ आनन्द पूर्वक जीवन व्यतीत करता है, देवा=वह आदित्य संज्ञक ब्रह्मचारी न खाता है न पीता है किन्तु इसी अमृत पद रूप ब्रह्म को प्राप्त होकर तृप्त रहता है।

जो उक्त ब्रह्मचारियों के विषय में खान पान का निषेध करके ज्ञानमात्र से तृप्ति कथन की है वह इस अभिप्राय से है कि वह ब्रह्मचारी अन्य लोगों के समान खान पान में रत नहीं रहते किन्तु एक मात्र ब्रह्मामृत से ही तृप्त रहते हैं, वह खान पान केवल जीवन यात्रा के लिये करते हैं॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ २ ॥

अर्थ-वह आदित्य संज्ञक ब्रह्मचारी इसी ब्रह्म को सब ओर अनुभव करते और उसी की उपासना के प्रभाव से सर्वत्र उदय होते हैं अर्थात् उनका यश सर्वत्र फैल जाता है॥

स य एतदेवममृतं वेदादित्यानामेवैको भूत्वा
वरुणेनैव मुखेनैतदेवामृतंदृष्ट्वा तृप्यति। स
एतदेवरूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

अर्थ- वह पुरुष जो उक्त प्रकार से इस अमृतरूप ब्रह्म को जानता है वह आदित्यों में ही एक होकर निश्चयकरके उत्तम छवि वाले मुख से इसी अमृत रूप ब्रह्म का साक्षात्कार करके तृप्त रहता है, वह पुरुष इसी ब्रह्म को सब ओर से प्राप्त होकर इसी ब्रह्म की कृपा से सर्वत्र कामचारी होता है॥

भाष्य-इस श्लोक में जिज्ञासु के लिये यह कथन किया गया है कि जो जिज्ञासु उक्त प्रकार से सामवेदविषयक इस अमृतरूप ब्रह्म को जानता है वह उन्हीं आदित्यों में एक होकर उस अमृतरूप ब्रह्म को साक्षात्कार करके तृप्त होजाता है और वह सर्वत्र उसी परमात्मा को देखता है अर्थात् एकमात्र वही परमात्मा उसके लिये लक्ष्य होता है और उसी की उपासना के प्रभाव से सर्वत्र स्वेच्छाचारी होकर विचरता है॥

सं०—अब उक्त जिज्ञासु के लिये फल कथन करते हैं:—

स यावदादित्यो दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता
द्विस्तावत्पश्चादुदेतापुरस्तादस्तमेताऽऽदित्यानामेव
तावदाधिपत्यꣳस्वाराज्यं पर्य्येता ॥ ४ ॥

अर्थ-जबतक सूर्य्य दक्षिण दिशा में उदय होता रहेगा, उत्तर दिशा में अस्त होता रहेगा उससे द्विगुण काल पश्चिम दिशा में उदित तथा पूर्व में

अस्त होता रहेगा तबतक आदित्यों के मध्य सुखपूर्वक अधिकार प्राप्त कर स्वेच्छाचारी हो विचरता रहेगा ॥

भाष्य—इस श्लोक में सामवेद के मनन करने वाले पुरुष को यह फल वर्णन किया है कि जबतक सूर्य्य दक्षिण से उदय तथा उत्तर में अस्त होता रहेगा उस से द्विगुण काल पश्चिम में उदय और पूर्व में अस्त होता रहेगा तबतक वह जिज्ञासु आदित्यों के मध्य सुखपूर्वक स्वेच्छाचारी होकर विचरता रहेगा अर्थात् ऐसा ऊर्ध्वरेत ब्रह्मचारी जिसने ४८ वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्यपूर्वक वेदों का अध्ययन किया है उसका यश संसार में चिरकालस्थायी होता है ॥

इति अष्टमःखण्डः समाप्तः

अथ नवमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब "मरुत्" पद प्राप्त ब्रह्मचारी की गति कथन करते हैं :-

अथ यच्चतुर्थममृतं तन्मरुत उपजीवन्ति सोमेन मुखेन।
न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥१॥

अर्थ—जो चतुर्थ अमृत है उस ब्रह्म से मरुत पद को पाकर चन्द्रसदृश मुख से ब्रह्म के समीप आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं वह विद्वान् निश्चयकरके न खाते, न पीते हैं, इसी अमृतपद ब्रह्म को साक्षात्कार करके तृप्त रहते हैं ॥

भाष्य—इस श्लोक में चतुर्थ अमृत पद का वर्णन किया है अर्थात् "मरुत्" संज्ञक ब्रह्मचारी जिसने ४८ वर्ष से ऊपर ब्रह्मचर्य्यरूप तप करते हुए साङ्गोपाङ्ग चतुर्थ अथर्ववेद का अध्ययन किया है उसका महत्व यहां इस प्रकार वर्णन किया है कि ऐसे ब्रह्मचारी चन्द्रसदृश मुख से शोभायमान होते हुए ब्रह्म के समीप परमानन्द लेते हुए उत्तम प्रकार से अपना जीवन व्यतीत करते हैं, यह ब्रह्मचारी मरुत् नाम से पुकारे जाते हैं, न वह वहां कुछ खाते और न पीते हैं, वह इसी अमृतस्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार करके तृप्त रहते हैं ॥

त एतदेवरूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ २ ॥

अर्थ—वह मरुत संज्ञक ब्रह्मचारी इस ही ब्रह्म को चारो ओर अनुभव करते और इसी ब्रह्म की कृपा से सर्वत्र कामचारी होते हैं ॥

स य एतदेवममृतं वेद मरुतामेवैको भूत्वा सोमे-
नैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव-
रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

अर्थ-वह पुरुष जो उक्त प्रकार से इस अमृतरूप ब्रह्म को जानते हैं वह मरुतों में ही एक होकर कान्ति वाले मुख से शोभायमान इसी अमृतरूप ब्रह्म को साक्षात्कार करके तृप्त रहते हैं और वह पुरुष इस ही ब्रह्म को चारो ओर से अनुभव करते हुए इसी रूप से उदय होते हैं ॥

सं०-अब उक्त पुरुष के लिये फल कथन करते हैं :—

स यावदादित्यः पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेताद्धि-
स्तावदुत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता मरुतामेव-
तावदधिपत्यꣳ स्वाराज्यं पर्य्येता ॥ ४ ॥

अर्थ-जब तक सूर्य्य पश्चिम दिशा में उदय पूर्व दिशा में अस्त होता रहेगा उससे द्विगुण काल उत्तर दिशा में उदित और दक्षिण दिशा में अस्त होता रहेगा तब तक वह पुरुष मरुतों के मध्य में ही सुखमय राज्यरूप अधिकार प्राप्त कर स्वेच्छाचारी हो विचरता रहेगा ॥

इति नवमःखण्डः समाप्तः

अथ दशमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब "साध्य" पद प्राप्त ब्रह्मचारी की गति कथन करते हैं :—

अथ यत्पञ्चममृतं तत्साध्या उपजीवन्ति
ब्रह्मणामुखेन । नवै देवा अश्नन्ति न
पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

अर्थ—अब जो पंचम अमृत है उसको पाकर ब्रह्मतेज वाले मुख से साध्य पद प्राप्त ब्रह्मचारी ब्रह्म के समीप निवास करते हुए निश्चयकरके दिव्यगुण सम्पन्न ब्रह्मचारी न खाते, न पीते किन्तु इसी अमृत ब्रह्म का साक्षात्कार करके तृप्त रहते हैं ॥

भाष्य—इस श्लोक में "साध्य" पद प्राप्त ब्रह्मचारी का कथन किया गया है अर्थात चारो वेदों की शिक्षाओं से जो शिक्षित ब्रह्मचारी उसी को यहां पंचम अमृत पद का अधिकारी विधान किया है, ऐसे ब्रह्मचारी ब्रह्मतेज वाले मुख से "साध्य" पदवी प्राप्त कर परमात्मा के समीप जीवन व्यतीत करते हैं और उस अवस्था में न वह खाते न पीते किन्तु इसी अमृत पद ब्रह्म का साक्षात्कार कर तृप्त रहते हैं ।

भाव यह है कि उक्त चारो वेद मुख्यतया ब्रह्मविचार में ही प्रवृत्त हैं, वेद प्रति

पादक और ब्रह्म प्रतिपाद्य है, एक २ वेद से विज्ञात ब्रह्म एक २ अमृत कहलाता है अर्थात् ऋग्वेद प्रतिपादित ब्रह्म प्रथम अमृत, यजुर्वेद प्रतिपादित ब्रह्म द्वितीय अमृत, इसी प्रकार साम और अथर्व प्रतिपादित ब्रह्म तृतीय और चतुर्थ अमृत जानना चाहिये और चारो वेदों द्वारा प्रतिपादित जो ब्रह्म वह पांचवां अमृत कहलाता है और उसी का इस खण्ड में वर्णन किया गया है, जो ब्रह्मचारी साङ्गोपाङ्ग वेदों का अध्ययन करते हैं वह "साध्य" पदवी वाले कहलाते हैं, ऐसे ब्रह्मचारी ब्रह्मतेज से युक्त होकर परमात्मा के समीप सुशोभित होते हैं॥

त एतदेवरूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ २ ॥

अर्थ-वह साध्य पदवी युक्त ब्रह्मचारी इसी अमृतरूप ब्रह्म को चारो ओर अनुभव करते हुए इसी ज्ञान के प्रभाव से सर्वत्र उदय होते हैं॥

स य एतदेवममृतं वेद साध्यानामेवैको भूत्वा ब्रह्मणैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेवरूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

अर्थ—वह जिज्ञासु जो उक्त प्रकार से इस अमृतरूप वेद को जानता है वह साध्यों में ही एक होकर निश्चयकरके ब्रह्ममुख से इसी अमृतरूप ब्रह्म का साक्षात्कार करके तृप्त रहता है, वह पुरुष इसी ब्रह्म को चारो ओर से भले प्रकार प्राप्त कर इसी ज्ञान के प्रभाव से सर्वत्र उदय होता है॥

सं०-अब उक्त जिज्ञासु के लिये फल कथन करते हैं:—

स यावदादित्य उत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता द्विस्तावदूर्ध्वमुदेताऽर्वागस्तमेता साध्यानामेव तावदाधिपत्यꣳ स्वाराज्यं पर्य्येता ॥ ४ ॥

अर्थ-जबतक सूर्य्य उत्तर दिशा में उदय दक्षिण दिशा में अस्त होता रहेगा उससे द्विगुण काल ऊर्ध्वदेश में उदित और अधःस्थित देश में अस्त होता रहेगा तब तक वह पुरुष साध्यों के मध्य में ही सुखमय अधिकार प्राप्त कर स्वेच्छाचारी होकर विचरता रहेगा॥

इति दशमःखण्डः समाप्तः

अथ एकादशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब पञ्चम अमृत से ऊर्ध्वगति कथन करते हैं:—

अथ तत ऊर्ध्व उदेत्य नैवोदेता नास्तमेतै कल एव मध्ये स्थाता तदेष श्लोकः ॥ १ ॥

अर्थ-इसके अनन्तर पंचम अमृत से ऊपर उदय होकर फिर न तो उदय होता और नाही अस्त होता किन्तु एक ब्रह्म के मध्य में ही स्थित होता है उस विषय में यह श्लोक है ॥

भाष्य-उपरोक्त श्लोकों में यह वर्णन कियागया है कि ऋग्वेद का जानने वाला ब्रह्मचारी जितने काल तक अमृत को भोगता है उससे द्विगुण काल पर्य्यन्त यजुर्वेद का ज्ञाता, उससे द्विगुण काल पर्य्यन्त सामवेद का ज्ञाता, उससे द्विगुण काल तक अथर्ववेद का ज्ञाता और उससे द्विगुण काल पर्य्यन्त साध्य पदवी प्राप्त ब्रह्मचारी जिन्होंने सब अङ्गोपाङ्ग सहित वेदों का अध्ययन करके उनके आदेशानुसार अनुष्ठान किया है वह अमृत को प्राप्त होकर उदय, अस्त=जन्म, मरण को प्राप्त होते हैं परन्तु जिसने परब्रह्मरूप तत्व का साक्षात्कार किया है वह कृतकृत्य होकर कल्प पर्य्यन्त ब्रह्म में स्थिर रहता है, इसी लिये कथन किया है कि वह फिर नहीं आता, ऐसा पुरुष बहुकाल तक ब्रह्म के साथ आनन्द भोगता हुआ कल्प के अन्त में फिर लौटता है, उक्त विषय में यह निम्नलिखित श्लोक है ॥

न वै तत्र न निम्लोच नोदियाय कदाचन । देवास्ते-नाहꣳसत्येन मा विरोधिषि ब्रह्मणेति ॥ २ ॥

अर्थ-उस अवस्था में निश्चयकरके दुःखादि क्लेश नहीं होते, और वहां पर सूर्य्य न अस्त होता न कभी उदय होता है, हे विद्वानो! उस सत्यस्वरूप ब्रह्म से मैं विरोध न करूं ॥

भाष्य—उस अवस्था में जीव दुःखादि क्लेशों के अभाव द्वारा सुखस्वरूप ब्रह्म के साथ मिलकर आनन्द भोगता है, वहां पर न सूर्य्य उदय होता और न अस्त होता किन्तु सदा एकरस रहता है, मुक्त पुरुष जो मुक्ति से लौटकर आया है उसका कथन है कि हे विद्वानो=वेदों के ज्ञाता पुरुषो! उस सत्यस्वरूप=त्रिकालाबाध्य ब्रह्म से हम लोग कभी विरोध न करें किन्तु उसकी आज्ञा का पालन करते हुए उसकी समीपता को प्राप्त होकर आनन्द भोगें ॥

इस स्थल में स्वा० शङ्कराचार्य्य का भी मुक्ति से लौटना माने विना निर्वाह नहीं, वह लिखते हैं कि "अतोऽहंब्रह्मलोकादागतः"=जिस कारण मैं

ब्रह्मलोक से आया हूं, इत्यादि इस विषय को आगे विस्तारपूर्वक स्फुट करेंगे ॥

सं०—अब ब्रह्म के ज्ञाता को फल कथन करते हैं :-

न ह वा अस्मा उदेति न निम्लोचति सकृद्दिवा हैवास्मै भवति य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद ॥ ३ ॥

अर्थ-जो पुरुष इस ब्रह्मज्ञानप्रद उनिषद् को उक्त प्रकार से जानता है उसके लिये निश्चयकरके न तो सूर्य्य उदय होता और न अस्त होता उसके प्रति सर्वदा दिन ही होता है ॥

भाष्य—जो पुरुष इस ब्रह्मज्ञानप्रद उपनिषद् को उक्त प्रकार से जानता है उस के लिये न तो सूर्य्य उदय होता और न कभी अस्त होता है अर्थात् उसके हृदय में ज्ञानरूप प्रकाश होने से सदा दिन ही रहता है अन्धकार = अज्ञान का लेशमात्र भी नहीं रहता, ऐसा पुरुष ही परमात्मा का प्यारा होता और वह उनकी गोद में बैठकर विश्राम लेता है ॥

सं०—अब उक्त विषय में इतिहास वर्णन करते हैं:—

तद्धैतद्ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्यस्तद्धै तदुद्दालकायाऽऽरुणये ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रोवाच ॥ ४ ॥

अर्थ-प्रसिद्ध है कि ब्रह्मा नामक ऋषि ने इस विज्ञान का प्रजापति ऋषि को उपदेश किया प्रजापति ने मनु को, मनु ने प्रजाओं को उपदेश किया, और प्रसिद्ध है कि इसी विज्ञान का उद्दालक के पिता ने आरुणि उद्दालक नामक अपने ज्येष्ठ पुत्र को ब्रह्म का उपदेश किया ॥

इदं वावतज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात् प्राणाय्याय वाऽन्तेवासिने ॥ ५ ॥

अर्थ-निश्चयकरके पिता अपने ज्येष्ठ पुत्र से अथवा प्राण समान शिष्य से इस ब्रह्मज्ञान का उपदेश करे ॥

भाष्य-ब्रह्मज्ञान के उपदेष्टाओं का इतिहास इस प्रकार है कि ब्रह्मा ने प्रजापति जिसका दूसरा नाम कश्यप है उसको उपदेश किया, कश्यप ने मनु को और मनु ने अन्य सब प्रजाओं को उपदेश किया, और अरुण ने अपने ज्येष्ठपुत्र उद्दालक को ब्रह्म का उपदेश किया, और इसी प्रकार सब पिता वा आचार्य्यों को उचित है कि वह अपने ज्येष्ठ पुत्र तथा परमप्रिय शिष्य के प्रति इस ब्रह्मज्ञान का उपदेश करते रहें ताकि गुरुशिष्य परम्परा द्वारा इस विज्ञान का प्रचार हो और पुरुष परमात्मप्रिय होकर दुःखों से छूट परमानन्द भोगें ॥

सं०—अब ब्रह्मज्ञानोपदेष्टा आचार्य्य का नियम कथन करते हैं:—

नान्यस्मै कस्मैचन, यद्यप्यस्मा इमामद्भिः परिगृहीतां धनस्य

पूर्णां दद्यादेतदेव ततोभूय इत्येतदेव ततो भूय इति ॥ ६ ॥

अर्थ—यद्यपि चाहे समुद्र से परिगृहीत धनों से पूर्ण इस पृथिवी को उक्त आचार्य्य को देवे तो भी अन्य किसी को ब्रह्म का उपदेश न करे, क्योंकि उस पृथिवी से यही बड़ा है ॥

भाष्य-" एतदेवततोभूय इति " पाठ दो वार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है. इस श्लोक में यह कथन किया गया है कि ब्रह्मज्ञानोपदेष्टा अधिकारी प्रति ब्रह्म का उपदेश करे अनधिकारी को कदापि ब्रह्म का उपदेश न करे अर्थात् साधन सम्पन्न पुरुष जिसने यमनियमादिकों द्वारा तपश्चरण करके अपने अन्तःकरण को निर्मल बनालिया है वही ब्रह्मज्ञान का अधिकारी है उसको आचार्य्य प्राणों से प्रिय मानता हुआ उपदेश करे और इससे भिन्न पुरुष जिसने अपने आपको अधिकारी नहीं बनाया वह चाहे धनों से पूर्ण समुद्र पर्य्यन्त इस पृथिवी का दान आचार्य्य को देवे तो भी उसको ब्रह्म का उपदेश न करे, क्योंकि उस पृथिवी के दान से ब्रह्मविद्या का दान अधिकतर है ॥

इति एकादशःखण्डः समाप्तः

अथ द्वादशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब " गायत्री " का महत्व वर्णन करते हुए इसी द्वारा ब्रह्म की उपासना कथन करते हैं :—

गायत्री वा इदꣳसर्वं भूतं यदिदं किञ्च। वाग्वै गायत्री वाग्वा इदꣳसर्वं भूतम्, गायति च त्रायते च ॥ १ ॥

अर्थ-निश्चयकरके गायत्री यह सब भूत हैं, यह जो कुछ है सब गायत्री है, वाणी ही गायत्री है, क्योंकि वाणी ही इन सब भूतों को गाती और रक्षा करतीहै ॥

भाष्य-चारो वेदों में जो छन्द हैं उनमें गायत्री की प्रधानता है, क्योंकि इसी छन्द से वेदों में ब्रह्म की अधिकता से स्तुति कीगई है, इसी कारण ब्रह्मसाधनों में प्रधान होने के कारण गायत्री छन्द का इस श्लोक में माहात्म्य वर्णन किया गया है कि गायत्री ही सब भूत हैं, यह सब कुछ स्थावर जंगम जगत् है सब गायत्री है, क्योंकि इसी के ज्ञान से बुद्धि की वृद्धि होकर सब पदार्थों का बोध होता है, पदार्थों के बोध से प्रकृति का बोध होता है, गायत्री ही वाणी है, क्योंकि वाणी ही इन सब भूतों को गाती और परमात्मा की प्रार्थना द्वारा रक्षा करती है ॥

भाव यह है कि "गायन्तं त्रायते इति गायत्री"=जो अध्ययन कर्त्ता को रक्षा करे उसका नाम "गायत्री" है, इस छन्द की विशेषता इस अभिप्राय से भी वर्णन कीगई है कि जिसप्रकार ईश्वरोपासक को यह गायत्री छन्द रक्षा करता है इस प्रकार अन्य छन्द नहीं करते, क्योंकि इस मंत्र में परमात्मा से एकमात्र बुद्धि की प्रार्थना कीगई है कि हे परमपिता परमात्मन्! आप हमारी बुद्धि को पवित्र करें और उत्तम कामों में प्रेरें, बुद्धि ही मनुष्य का सर्वोपरि धन और यही सर्वोपरि रक्षक है, इसी को पवित्रता से पुरुष अमृत पद को प्राप्त होता है जो उच्च से उच्च पद है, इसी भाव को एक नीतिवाक्य में इस प्रकार वर्णन किया है कि "बुद्धिर्यस्य बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्"=जिसके पास बुद्धि है उसी के पास बल है निर्बुद्धि संसार में बलहीन होकर मरे हुए के समान जीता है, इस प्रकार गायत्री मन्त्र सर्वोपरि बुद्धि विषयक प्रार्थना का अभिधायक होने से सब पदार्थों का आत्मभूत है, और वाणी को गायत्री इस अभिप्राय से कथन किया है कि जिस प्रकार सुप्रयुक्त वाक् वक्ता की रक्षा करती है इसी प्रकार गायत्री छन्द वक्ता का रक्षक होता है, इसलिये मनुष्यमात्र को उचित है कि अपनी रक्षार्थ गायत्री छन्द द्वारा परमात्मा का सदा स्तवन करते हुए उसकी शरण को प्राप्त हों॥

सं०-अब गायत्री और पृथिवी की समता कथन करते हैं:-

या वै सा गायत्रीयं वाव सा येयं पृथिव्यस्याᳬ हीदᳬ सर्वं भूतं प्रतिष्ठितमेतामेव नातिशीयते ॥२॥

अर्थ-निश्चयकरके जो वह गायत्री है वह यही है जो यह पृथिवी है, क्योंकि इसी पृथिवी पर यह सब भूत प्रतिष्ठित हैं, निश्चयकरके इस पृथिवी को कोई अतिक्रमण नहीं करसक्ता॥

भाष्य-इस श्लोक में गायत्री को पृथिवी सदृश इसलिये कथन किया है कि जिस प्रकार सब पदार्थों की प्रतिष्ठा=ठहरने का आश्रय पृथिवी है इसी प्रकार गायत्री भी सब छन्दों की प्रतिष्ठा है, क्योंकि प्रायः सभी छन्द गायत्री छन्द के अधीन हैं और मनुष्य भी इसी को आश्रय बनाकर जगत् में प्रतिष्ठित होते और अन्त में इसी के द्वारा ब्रह्म में प्रतिष्ठित होते हैं, अतएव दोनों समान हैं॥

सं०-अब पृथिवी और शरीर की समता कथन करते हैं:-

या वै सा पृथिवीयं वाव सा यदिदमस्मिन्पुरुषे शरीरमस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते ॥३॥

अर्थ-निश्चयकरके जो वह पृथिवी है सो वह यही है जो इस पुरुष में यह शरीर है; क्योंकि इस शरीर में जो यह प्राण प्रतिष्ठित हैं, इस शरीरगत प्राण अतिक्रमण नहीं करसकते॥

सं०-अब शरीर और हृदय की समता कथन करते हैं :—

यद्वै तत्पुरुषे शरीरमिदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे हृद-
यमस्मिन्हीमेप्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते ॥४॥

अर्थ-पुरुष का निश्चयकरके जो शरीर है वह यही है जो इस अन्तःपुरुष में यह हृदय है, इसी में यह प्राण प्रतिष्ठित हैं क्योंकि इस हृदय को प्राण छोड़कर नहीं रहसकते ॥

भाष्य-पुरुष का जो यह शरीर है वह यही है जो इस अन्तःकरण में हृदय है, क्योंकि इसमें प्राण प्रतिष्ठित हैं, इसको प्राण त्याग नहीं करसकते, इसीप्रकार शरीरवत् गायत्री हृदयरूपा होने से दोनों समान हैं ॥

सं०-अब गायत्री को ब्रह्मबोधक कथन करते हैं :—

सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री तदेतदृचाभ्यनूक्तम् ॥ ५ ॥

अर्थ-वह यह चार पादों वाली गायत्री छः प्रकार की है, यह विषय मन्त्र द्वारा भले प्रकार प्रकट है ॥

भाष्य-गायत्री में २४ अक्षर होते हैं * और छः २ अक्षरों का एक पाद होता है, सो चार पाद वाली गायत्री वाणी, भूत, पृथिवी, शरीर, हृदय और प्राण, इस भेद से छः प्रकार की है जैसाकि पीछे इनकी समता वर्णन कर आये हैं, इसी के द्वारा प्रकाशित होने से गायत्री के अनुगत ब्रह्म है, क्योंकि वेदमन्त्रों के बिना ब्रह्म का ज्ञान नहीं होसकता, इस कारण ऋषियों ने वेदमन्त्रों को ब्रह्म-प्राप्ति का द्वार माना है और गायत्री मन्त्र सम्यग् प्रकार से ब्रह्म का प्रकाश करने के कारण अतिश्रेष्ठ है, अतएव गायत्री को ब्रह्मबोधक मानना समीचीन है ॥

सं०—अब गायत्रीप्रदर्शित परमात्मा का महत्व वर्णन करते हैं:—

एतावानस्य महिमा ततो ज्यायाꣳश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति ॥ ६ ॥

अर्थ—इस ब्रह्म का महत्व यह संसार है और उससे पुरुष बड़ा है, सब भूत इस ब्रह्म का एकपादस्थानीय और इसके तीनपाद द्युलोक में अमृत हैं ॥

भाष्य—गायत्री प्रतिपाद्य ब्रह्म का महत्व इतना है कि यह सम्पूर्ण संसार उसके एकदेश में है और वह सर्वत्र परिपूर्ण है अर्थात् सम्पूर्ण भूतजात उसके एकपादस्थानीय और तीनपाद अमृत=अविनाशीस्वरूप हैं ॥

सं०—अब ब्रह्म की पुरुष के बाहर व्यापकता कथन करते हैं:—

---

* गायत्री मंत्र में साधारणदृष्टि से २३ अक्षर प्रतीत होते हैं परन्तु "इयादि पूरणः" इस छन्दःसूत्र से "रायं" के स्थान में "णिय" आदेश द्वारा एक अक्षर बढ़जाने से २४ पूर्ण होते हैं ॥

यद्वैतद्ब्रह्मेतीदं वाव तद्योऽयं बहिर्धा पुरुषादाकाशो यो वै स बहिर्धा पुरुषादाकाशः ॥ ७ ॥

अर्थ—निश्चयकरके जो पूर्व मंत्र में वर्णन किया गया है वही ब्रह्म है, यह वह है जो यह पुरुष से बाहर प्रकाशित है और जो पुरुषसे बाहर प्रकाशमान है॥

सं०—अब ब्रह्म की पुरुष के भीतर व्यापकता कथन करते हैं:—

अयं वाव स योऽयमन्तःपुरुष आकाशो यो वै सोऽन्तःपुरुष आकाशः ॥ ८ ॥

अर्थ—यही वह है जो शरीर के भीतर प्रकाशमान् है, निश्चयकरके जो शरीर के आभ्यन्तर प्रकाशित है ॥

सं०—अब उक्त ज्ञान का फल कथन करते हैं:—

अयं वाव स योऽयमन्तर्हृदय आकाशः तदेतत्पूर्णमप्रवर्ति पूर्णामप्रवर्तिनीᳫं श्रियं लभते य एवं वेद ॥ ९ ॥

अर्थ—यही वह ब्रह्म है जो हृदय के भीतर प्रकाशमान है, वह हृदयाकाशस्थ ब्रह्म सर्वत्र परिपूर्ण परिवर्तन रहित है. जो उक्त प्रकार से जानता है वह पूर्ण ब्रह्म को प्राप्त होता और सदा स्थिर रहने वाली पूर्ण सम्पत्ति को प्राप्त होता है ॥

इति द्वादशःखण्डः समाप्तः

अथ त्रयोदशः खण्डः प्रारभ्यते

सं०–अब प्राणरूप इन्द्रियों की उपासना का वर्णन करते हुए उसका फल कथन करते हैं:—

तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देवसुषयः स योऽस्य प्राङ् सुषिः स प्राणस्तच्चक्षुः स आदित्यस्तदेतत्तेजोऽन्नाद्यमित्युपासात। तेजस्व्यन्नादो भवति य एवं वेद ॥ १ ॥

अर्थ—उस हृदय के पांच इन्द्रियरूप द्वार हैं, निश्चयकरके इस हृदय का जो पूर्व का द्वार है वह प्राण और जो चक्षु वही आदित्य कहाता है, इस द्वार को तेज तथा अन्नभोक्तृत्वरूप से विचारे, जो इसको उक्त प्रकार से जानता है वह तेजस्वी और अन्न का भोक्ता होता है ॥

भाष्य–इस श्लोक में हृदय के चक्षु, श्रोत्र, वाक्, मन और ओज यह पाँच द्वार कथन किये हैं, हृदय का जो पूर्वस्थ द्वार है वह चक्षु और उसी को आदित्य

कहते हैं, जैसाकि ऐतरेय० २। ४ में वर्णन किया है कि **"अग्निर्वाग्भूत्वा-मुखं प्राविशद्वायुः प्राणोभूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्च-क्षुर्भूत्वा०"**=अग्नि वाणी होकर मुख में प्रविष्ट हुई, वायु प्राणरूप होकर नासिकाओं में प्रविष्ट हुई और आदित्य चक्षु रूप होकर आंखों में प्रविष्ट हुआ, इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध है कि आदित्य चक्षु में प्रतिष्ठित है, इस आदित्यरूप द्वार को तेज तथा अन्नभोक्तृत्वरूप से विचारे अर्थात् अपने चक्षुगत तेज को सदा स्थिर रखने के लिये यत्नवान् हो, वा यों कहो कि कोई ऐसी कुचेष्टा न करे जिससे उसका अक्षिगत तेज नष्ट होजाय, जो अक्षिविहीन पुरुष है उसका अन्नभोक्तृत्व भी नष्ट होजाता है, क्योंकि वह भ्रमणादि क्रिया करने में सर्वथा असमर्थ होता है, इसलिये चक्षु की यत्न से रक्षा करे, जो पुरुष उक्त भाव को इस प्रकार जानते हैं वह तेजस्वी और अन्न के भोक्ता होते हैं ॥

सं०—अब व्यानरूप श्रोत्र इन्द्रिय की उपासना कथन करते हैं :—

अथ योऽस्य दक्षिणः सुषिः स व्यानस्तच्छ्रोत्रꣳ स चन्द्रमास्तदेतच्छ्रीश्च यशश्चेत्युपासीत, श्रीमान् यशस्वी भवति य एवं वेद ॥ २ ॥

अर्थ—अब इस हृदय का जो दक्षिण द्वार है वह व्यान है, जो श्रोत्र है उसको चन्द्रमा भी कहते हैं, इस इन्द्रिय को शोभा और कीर्तिमान् विज्ञान द्वारा विचारे, जो पुरुष उक्त प्रकार से जानता है वह श्रीमान् और यशस्वी होता है ॥

सं०— अब अपानरूप वाणी की उपासना कथन करते हैं :—

अथ योऽस्य प्रत्यङ्सुषिः सोऽपानः सावाक् सोऽग्निस्तदेतद्ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यमित्युपासीत, ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

अर्थ—अब इस हृदय का जो पश्चिम दिशास्थ द्वार है वह अपान है, वही वाणी है, उसीको अग्नि कहते हैं, इस इन्द्रिय को ब्रह्मतेज की साधक अन्नभोक्तृत्वरूप मानकर उपासना करे जो उक्त प्रकार से जानता है वह ब्रह्मवर्चसी और आरोग्य होता है ॥

सं०—अब समानरूप मन की उपासना कथन करते हैं :—

अथ योऽस्योदङ् सुषिः स समानस्तन्मनः स पर्जन्यस्तदेतत्कीर्तिश्च व्युष्टिश्चेत्युपासीत, कीर्तिमान् व्युष्टिमान् भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥

अर्थ–अब इस हृदय का जो ऊर्ध्वगमनशील द्वार है वह समान है, जो मन है उसी को पर्जन्य भी कहते हैं, इस मन को कीर्त्ति और विशेष कान्तिमान् मान कर उपासना करे, जो उक्त प्रकार से जानता है वह कीर्त्तिवाला और विशेष कान्तिमान् होता है ॥

सं०–अब उदानरूप ओज की उपासना कथन करते हैं :—

अथ योऽस्योर्ध्वःसुषिः स उदानः स वायुः स आकाशस्तदेतदोजश्च महश्चेत्युपासीतौजस्वी महस्वान्भवति य एवं वेद ॥ ५ ॥

अर्थ–इस हृदय का जो ऊर्ध्वगमनशील द्वार है वह उदान है, वही वायु, वही आकाश कहलाता है, इस बल को महान् तेज मानकर विचारे, जो उक्त प्रकार से जानता है वह ओजस्वी और तेजस्वी होता है ॥

सं०–अब उक्त पांचो द्वारों के ज्ञान का फल कथन करते हैं :—

ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपाः स य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान् स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्वेदास्य कुले वीरो जायते प्रतिपद्यते स्वर्गलोकं य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान् स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्वेद ॥ ६ ॥

अर्थ–यह उक्त पाचों ब्रह्मपुरुष उत्तम अवस्था को प्राप्त कराने वाले हैं, वह पुरुष जो इन पांचो ब्रह्मपुरुषों को उक्त प्रकार से स्वर्गलोक को प्राप्त कराने वाले जानता है उसके कुल में वीरपुरुष उत्पन्न होते हैं और वह उत्तम अवस्था को प्राप्त होता है, जो इन पञ्च ब्रह्मपुरुषों को उक्त प्रकार से स्वर्गलोक के प्राप्त कराने वाले जानता है ॥

सं०—अब आत्मविज्ञान कथन करते हैं:—

अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिस्तस्यैषा दृष्टिः॥७॥

अर्थ—अब यह कथन करते हैं कि इस द्युलोक से परे जो परमात्मरूप ज्योति देदीप्यमान होरही है वह इस पुरुष के अन्तर में यह ज्योति है जो सब के ऊपर है, अनुत्तम और उत्तम लोकलोकान्तरों में यही ज्योति व्याप्त है, उसी ज्योति का यह चमत्कार है ॥

भाष्य—इस श्लोक में उस परमात्मतत्व ब्रह्म को सर्वव्यापक सिद्ध किया है कि इस द्युलोक से परे जो ज्योति देदीप्यमान होरही है वह इस सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त होकर सब के ऊपर है और अन्य लोकलोकान्तरों में भी यही ज्योति व्याप्त है अर्थात् जहां २ ईश्वरीय सृष्टि है वहां २ यही ज्योति व्याप्त होरही है और यह जितना दृश्यमान जगत् है वह सब इसी ज्योति का चमत्कार है ॥

सं०—अब जीवात्मा को उक्त ज्योतिः का ज्ञान कथन करते हुए उसका फल वर्णन करते हैं :—

यत्रैतदस्मिञ्छरीरे सꣳस्पर्शेनोष्णिमानं विजानाति । तस्यैषा श्रुतिर्यत्रैतत्कर्णावपि गृह्यनिनदमिव नदथुरिवाग्नेरिवज्वलत उपशृणोति तदेतद् दृष्टञ्च श्रुतञ्चेत्युपासीत । चक्षुष्यः श्रुतोभवति य एवं वेद य एवं वेद ॥८॥

अर्थ—जिस काल में इस शरीर के मध्य स्पर्श द्वारा गरमी को अनुभव करता है यही उसका दर्शन और उसका यह श्रवण है कि जिस काल में श्रोत्रों को भलेप्रकार ढांपकर इस रथादि शब्द सदृश शब्द, जलती हुई अग्नि के समान शब्द और वृषभादिकों के तद्वत् शब्द सुनता है, इस ज्योति को देखा गया, सुना गया, इस प्रकार विचारे, जो परमात्मा को क्त प्रकार से जानता है वह दर्शनीय और सर्वत्र प्रख्यात होता है ॥

भाष्य—"य एवं वेद" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, इस शरीर के मध्य जिसकाल में जीवात्मा स्पर्श द्वारा गरमी को अनुभव करता है यही उसका "स्पर्श" और जिसकाल में अंगुली आदि से श्रोत्रों को भलेप्रकार ढांपकर जलती हुई अग्नि, रथादि सदृश शब्द तथा वृषभादिकों के शब्द सदृश शब्द सुनता है यही उसका "श्रवण" है, जो पुरुष परमात्मा के दर्शन, स्पर्शन तथा श्रवणादि को विचारता हुआ उसका भलेप्रकार अनुभव करता है वह दर्शनीय और सर्वत्र प्रख्यात होता है ॥

इति त्रयोदशःखण्डः समाप्तः

अथ चतुर्दशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब इस खण्ड में शमविधिद्वारा परमात्मा की उपासना कथन करते हैं:—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत अथ

खलु क्रतुमयः पुरुषो, यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति, स क्रतुं कुर्वीत ॥ १ ॥

अर्थ—निश्चयकरके यह सब ब्रह्म है उससे उत्पत्ति, स्थिति तथा लय वाले सब पदार्थों को ब्रह्मस्थ समझता हुआ शान्त होकर उपासना करे, और यह जीवात्मा यज्ञरूप है, यज्ञ के अनुकूल ही इस लोक में पुरुष होता है, इसी प्रकार इस लोक से मरकर होता है, उसको चाहिये कि वह यज्ञ करे ॥

भाष्य-पुरुष को उचित है कि जब वह ब्रह्मोपासन करे तब इस भाव को दृष्टिगत रखे कि उसी ब्रह्म से यह सब पदार्थ उत्पन्न होते, उसी में चेष्टा करते और उसी में लय होते हैं, इस प्रकार उत्पति, स्थिति तथा लय का कारण ब्रह्म को समझकर उपासना करे, इस उपासना में ब्रह्म को सबका कारण कथन किया गया है और उसके कार्य्यों को लयकाल में उससे भिन्न नहीं कथन किया गया किन्तु अभेदोपासना के लिये ब्रह्मरूप ही कथन किया है, इस भाव से सब पदार्थों को ब्रह्म कहा है, यहां वस्तुमात्र को ब्रह्म कथन करना ब्रह्माकारवृत्ति के अभिप्राय से है और इसी को अभेदोपासना कहते हैं।

भाव यह है कि उपासना काल में जिज्ञासु को उचित है कि वह ब्रह्म से भिन्न कोई दृष्टि न करे, क्योंकि एकमात्र ब्रह्माकारवृत्ति से जब जीव उपासना करता है तो उसका चित्त इतस्ततः न जाकर एकमात्र ब्रह्म ही में स्थिर रहता है, इस अभिप्राय से यहां शमविधिरूप से उपासना कथन की है, मन को एकमात्र परमात्मपरायण करने का नाम "शमविधि" है ॥

मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि यह सम्पूर्ण जगत् तीनों कालों में ब्रह्म से भिन्न नहीं, इसलिये यह सब कुछ ब्रह्म है, इस भाव को इनकी परिभाषा में "मुख्यसमानाधिकरण" कहते हैं अर्थात् यह सब पदार्थ अपने२ आकार से ब्रह्मरूप ही हैं उससे भिन्न नहीं, जब इनसे यह प्रश्न किया जाता है कि यदि सब कुछ ब्रह्म ही है तो वह उत्पत्ति, स्थिति तथा नाशवाला होने से विकारी हुआ ? इसका उत्तर यह देते हैं कि यह जगत् ब्रह्म का विवर्त है अर्थात् ब्रह्म ही जगत् रूप से प्रतीत होरहा है, इसलिये वह विकारी नहीं ? इनका यह उत्तर इसलिये ठीक नहीं कि यदि ब्रह्म विकारी न होता तो जीव को ऐसा मिथ्याज्ञान क्यों होता, क्योंकि इनके मत में जीव भी तो ब्रह्म ही है, इसलिये विवर्त्तवाद मानकर भी विकारी होने का दोष नहीं मिटसका।

वास्तव में बात यह है कि यह वाक्य जगत् को ब्रह्मविवर्त्त अथवा ब्रह्मपरिणाम कथन नहीं करता किन्तु रागद्वेष से रहित होने के लिये शमविधि द्वारा उपासना कथन करता है इसी अभिप्राय से "शान्तः उपासीत" कथन किया है ॥

सं०—अब परमात्मा को "मनोमय" आदि गुणों द्वारा कथन करते हैंः—

मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसङ्कल्प आकाशात्मा

सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः ॥ २ ॥

अर्थ-वह परमात्मा ज्ञानस्वरूप, ब्रह्माण्डरूप शरीरवाला, सत्यसङ्कल्प, आकाशवत् परिपूर्ण, सर्वशक्तिमान्, पर्याप्तकाम, सब गन्ध वाले पदार्थों को गन्ध देनेवाला, सब रसों को उत्पन्न करने वाला, इस सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त, वाणी से रहित और पक्षपात शून्य है॥

भाष्य-मननशील होने से परमात्मा का नाम " मन " है, सत्वादि तीनों गुणों से चेष्टा करने वाला यह सब जगत् उसका शरीरभूत है, वह परमात्मा प्रकाशस्वरूप, सत्यसङ्कल्प तथा आकाशवत् सर्वत्र परिपूर्ण है और जगत् के सब रचना आदि कर्म उसी से होते हैं, इसलिये वह " सर्वकर्मा " पर्य्याप्त काम होने से " सर्वकाम " सब गन्धियों का रचयिता होने से " सर्वगन्ध " और सब रसों का निर्माता होने से उसको " सर्वरस " कहा गया है।

मायावादी सर्वकर्मा, सर्वगन्ध तथा सर्वरस के यह अर्थ करते हैं कि वही परमात्मा सर्वरूप है, इसलिये उसको सब कुछ कहसक्ते हैं, यदि उक्त शब्दों का यह भाव होता तो उसको " आकाशात्मा " कदापि न कहाजाता, इस से स्पष्ट सिद्ध है कि यह सब उस परमात्मा के गुण कथन किये गये हैं वह सर्वरूप नहीं॥

सं०—अब उक्त परमात्मा की सूक्ष्मता कथन करते हैं:—

एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा। एष म आत्मान्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः ॥ ३ ॥

अर्थ—उक्त गुणों वाला परमात्मा मेरे हृदय के मध्य में अति सूक्ष्म है, धान, यव, सरसों और चावलों से भी अतिसूक्ष्म है, यह परमात्मा मेरे हृदय के मध्य पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक और अन्य सब लोकों से बड़ा है॥

भाष्य—परमात्मा सूक्ष्म से सूक्ष्म होने के कारण सरसों से भी सूक्ष्म और सर्वव्यापक होने के अभिप्राय से पृथिवी आदिकों से भी बड़ा कथन किया गया है, इसलिये परस्पर विरोध नहीं॥

सं०—अब उक्त परमात्मा के "सर्वकर्मा" आदि गुण वर्णन करते हुए उसकी प्राप्ति कथन करते हैं:—

सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वरसः सर्वगन्धःसर्वमिदमभ्या-
त्तोऽवाक्यनादर एष म आत्मान्तर्हृदय एतद् ब्रह्मैतमि-
तः प्रेत्याभिसम्भवितास्मीति यस्य स्यादद्धा न विचि-
कित्साऽस्तीति ह स्माऽऽह शाण्डिल्यः शाण्डिल्यः ॥४॥

अर्थ—सर्वकर्मों वाला, सबकामनाओं वाला, सब गन्धों वाला और सब रसों वाला यह सब जगत् उससे व्याप्त है जो वाणीरहित, पक्षपात शून्य, यह परमात्मा मेरे हृदय के भीतर है यही ब्रह्म है, इसी को यहां से मरकर प्राप्त होऊं यह मेरी प्रार्थना है, जिसका ऐसा विश्वास हो और जिसको कोई सन्देह न हो वह उसको प्राप्त होता है, शाण्डिल्य ऋषि ने यह कथन किया है ॥

भाष्य-"शाण्डिल्य" पद दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, शाण्डिल्य ऋषि ने इस श्लोक में यह प्रार्थना की है कि जो परमात्मा सम्पूर्ण संसार का कर्त्ता जीव के हृदय में विराजमान है वही ब्रह्म है उसको मैं मुक्ति में प्राप्त होऊं, यही मेरी प्रार्थना है ॥

इति चतुर्दशःखण्डः समाप्तः

अथ पञ्चदशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब परमात्मा का अन्य प्रकार से महत्व वर्णन करते हैं:—

अन्तरिक्षोदरः कोशो भूमिबुध्नो न जीर्यति
दिशोह्यस्य स्रक्तयो द्यौरस्योत्तरं बिलꣳस एष
कोशो वसुधानस्तस्मिन्विश्वमिदꣳश्रितम् ॥ १ ॥

अर्थ—अन्तरिक्ष उदर समान, भूमि पादस्थानीय, निश्चयकरके इसके दिशायें कोणे हैं, इसका द्युलोक उच्चतर मुख है, ऐसा जो परमात्मरूप कोश कभी जीर्ण नहीं होता, यह कोश धनों से पूर्ण होने से उस कोश के यह सम्पूर्ण विश्व आश्रित है ॥

भाष्य—इस श्लोक में परमात्मरूप कोश का वर्णन किया गया है कि वह कोश कैसा है? आकाश जिसका उदर समान, पृथिवी पाद समान, दिशायें जिसके कोणे हैं, द्युलोक जिसका खुला हुआ मुख है, इत्यादि ऐसा जो परमात्मरूप कोश है वह कभी जीर्ण नहीं होता अर्थात् सदा एकरस रहता है, सम्पूर्ण संसार का धन उस कोश के आश्रित है, जो पुरुष उस परमपिता परमात्मा की

आज्ञापालन करते हैं वह समृद्धि को प्राप्त होते हैं और जो उससे विमुख हैं वह उस कोश से सदा ही वञ्चित रहते हैं ॥

सं०—अब परमात्मपरायण पुरुष के लिये दुःखाभाव कथन करते हैं:—

तस्य प्राची दिग्जुहूर्नाम सहमाना नाम दक्षिणा राज्ञी नाम प्रतीची सुभूतानामोदीची। तासां वायुर्वत्सः स य एतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद न पुत्ररोद ँ रोदिति। सोऽहमेतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद मापुत्र रोद ँ रुदम् ॥ २ ॥

अर्थ—उस कोश की पूर्वदिशा "जुहू" नामवाली है, क्योंकि कर्मकाण्डी लोग इसी दिशा में प्रातहोंम करते हैं, दक्षिण दिशा " सहमान " नाम वाली है, क्योंकि पापी पुरुष पापकर्मरूपफल को इसी दिशा में सहते हैं, पश्चिम दिशा " राज्ञी " नाम वाली और उत्तर दिशा " सुभूता " नाम वाली है, उन दिशाओं का वायु वत्स है, वह पुरुष जो दिशाओं के वत्स इस वायु को उक्त प्रकार से जानता है वह पुत्र के लिये रुदन नहीं रोता है, ऋषि कहते हैं कि मैंने वह दिशाओं के वत्स इस वायु को जाना है और जो उक्त प्रकार से जानते हैं वह पुत्र के लिये रुदन नहीं करते ॥

भाष्य—इस श्लोक में यह वर्णन कियागया है कि जो पुरुष दिशाओं के ज्ञानपूर्वक वायु के गुणों को जानता है अर्थात् जो प्राण, अपान, समानादि वायुओं के निरोधपूर्वक प्राणायाम की विधि का पूर्ण प्रकार से ज्ञाता है वह बड़ा बलवान्, तेजस्वी और पूर्ण आयु का भोगने वाला होता है, और ऐसे पुरुष की सन्तान चिरकाल तक जीवित रहती है अर्थात् पूर्ण आयुको प्राप्त होती है उसके सन्मुख मृत्यु को प्राप्त होकर रुलाने वाली नहीं होती, कोई ऋषि कहते हैं कि मुझे वायु सम्बन्धी गुणों को भले प्रकार जानकर अनुष्ठान करने से ऐसा ही लाभ हुआ अन्य भी जो वायु के गुणों को जानेंगे उनको ऐसा ही लाभ होगा अर्थात् वह और उनकी सन्तति पूर्ण आयु को प्राप्त होंगे, और वायु को दिशाओं का वत्स इसलिये कथन किया गया है कि जिसप्रकार वत्स अपनी माताकी गोद में आश्रय लेता है एवं वायु भी दिशाओं का आश्रय लेकर स्वच्छन्द होकर विचरता है ॥

सं०—अब उस अक्षय कोश की प्राप्ति के साधन कथन करते हैं:—

अरिष्टं कोशं प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना। प्राणं प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना। भूः प्रपद्ये मुनाऽमुनाऽमुना।

भुवः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना । स्वः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना ॥ ३ ॥

अर्थ—मैं पुत्र, पौत्र, प्रपौत्रादि साधनों से अक्षय कोश को प्राप्त होऊं, मैं पुत्रादिकों से प्राण को प्राप्त होऊं, मैं पुत्रादि साधनों से "भूः" को प्राप्त होऊं, मैं पुत्रादि साधनों से "भुवः" को प्राप्त होऊं, मैं पुत्रादि साधनों से "स्वः" को प्राप्त होऊं ॥

सं०—अब प्राणादि उक्त चारों पदों के अर्थ कथन करते हैं:—

स यदवोचं प्राणं प्रपद्य इति प्राणो वा इद ँ सर्वं भूतं यदिदं किञ्च तमेव तत्प्रापत्सि ॥ ४ ॥

अर्थ—प्राण को प्राप्त होता है, जो पूर्व यह कथन किया था वह यह था कि यह सब प्राणी जो कुछ यह दृष्टिगत होता है वह सब प्राण ही है उसीको प्राप्त होऊं, यह प्राण का अर्थ जानना चाहिये ॥

सं०—अब "भूः" का अर्थ कथन करते हैं:—

अथ यदवोचं भूः प्रपद्य इति पृथिवीं प्रपद्येऽन्तरिक्षं प्रपद्ये दिवं प्रपद्ये इत्येव तदवोचम् ॥ ५ ॥

अर्थ—प्राण के अनन्तर "भूः" को प्राप्त होऊं, ऐसा कथन किया था, पृथिवी को प्राप्त होऊं, अन्तरिक्ष को प्राप्त होऊं, द्युलोक को प्राप्त होऊं, यह "भूः" का अर्थ समझना चाहिये ॥

सं०—अब "भुवः" का अर्थ कथन करते हैं:—

अथ यदवोचं भुवः प्रपद्य इत्यग्निं प्रपद्ये वायुं प्रपद्यआदित्यंप्रपद्य इत्येवतदवोचम् ॥ ६ ॥

अर्थ—"भूः" के अनन्तर "भुवः" को प्राप्त होऊं, यह जो कथन किया था उसका अर्थ यह है कि अग्नि को प्राप्त होऊं, वायु को प्राप्त होऊं, आदित्य को प्राप्त होऊं, यह "भुवः" का अर्थ जानना चाहिये ॥

सं०—अब "स्वः" का अर्थ कथन करते हैं:—

अथ यदवोच ँ स्वःप्रपद्य इत्यृग्वेदं प्रपद्ये यजुर्वेदं प्रपद्ये सामवेदं प्रपद्य इत्येव तदवोचं तदवोचम् ॥ ७ ॥

अर्थ—अब "स्वः" को प्राप्त होऊं, यह जो कथन किया था उसका अर्थ यह है कि ऋग्वेद को प्राप्त होऊं, यजुर्वेद को प्राप्त होऊं, सामवेद को प्राप्त होऊं, यह "स्वः" का अर्थ जानना चाहिये ॥

भाष्य—"तद्वोचम्" पाठ दोवार खण्ड की समाप्ति के लिये आया है, इस खण्ड में परमात्मा को "कोश" इस अभिप्राय से वर्णन किया है कि वही इस चराचर ब्रह्माण्ड के पदार्थों का कोशवत् आच्छादक है तथा उसी के आश्रित यह सम्पूर्ण विश्व है और उस परमात्मा को प्राणरूप इस अभिप्राय से कथन किया है कि वह सवको प्राणनशक्ति देनेवाला है, उसकी कृपा से मैं पृथिवी, अन्तरिक्षादि सब लोकों में मुक्ति अवस्था को प्राप्त होकर भ्रमण करूं तथा इस लोक में ऋग्, यजु, साम=कर्म, उपासना तथा ज्ञान इस काण्ड त्रयात्मक वेद का ज्ञाता बनूं, तीन वेदों का नाम यहां तीन प्रकार की विद्या के अभिप्राय से आया है, इसलिये वेदों के तीन होने की आशङ्का यहां नहीं करनी चाहिये, क्योंकि इसी प्रपाठक के प्रथम खण्ड में चारो वेदों का नाम स्पष्ट रीति से आया है अन्य सब अर्थ स्पष्ट हैं ॥

इति पञ्चदशः खण्डः समाप्तः

अथ षोडशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब प्रथम, मध्यम तथा उत्तम तीनों प्रकार के ब्रह्मचर्य्य को यज्ञरूप कथन करते हुए प्रथम प्रातःसवन का वर्णन करते हैं:—

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंꣳशति वर्षाणि तत्प्रातःसवनं चतुर्विंꣳशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातःसवनं तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीदꣳसर्वं वासयन्ति ॥ १ ॥

अर्थ—निश्चयकरके पुरुष यज्ञ है, उस यज्ञ के जो चौवीस वर्ष हैं वह इस यज्ञ का प्रातःसवन है, चौबीस अक्षरों वाली जो गायत्री है वह गायत्र नामक प्रातःसवन है, उस इस ब्रह्मचारी के वसु अधीन होते हैं, निश्चयकरके प्राणही वसु हैं, क्योंकि यह ही सब इन्द्रियसंघात को वसाते हैं ॥

भाष्य—इस खण्ड में ब्रह्मचर्य्य के तीन भेद वर्णन कियेगये हैं, प्रथम ब्रह्मचर्य्य चौवीस वर्ष का होता है, क्योंकि उसमें गुरु से गायत्री मंत्र लिया जाता है और वह चौवीस अक्षरों का होने से इस ब्रह्मचर्य्य को चौवीस वर्ष का नियत कियागया है, इस ब्रह्मचर्य्य का फल यह है कि वसु=सब इन्द्रियों को निवास देनेवाले प्राण इस ब्रह्मचारी के अधीन होते हैं और प्राणों को वसु इस अभिप्राय से कथन कियागया है कि जबतक प्राण शरीर में रहते हैं तभीतक इन्द्रिय स्थिर

रहते हैं और जब शरीर से प्राण पृथक् होजाते हैं तो इन्द्रिय भी छोड़ जाते और उनके गोलक रहजाते हैं, अतएव प्राणों का नाम वसु है, और इस ब्रह्मचारी की वसु संज्ञा इसलिये है कि वह भी प्राणों के समान इन्द्रियों का स्वामी होकर उनको स्वाधीन रखता है ॥

सं०-अब उक्त ब्रह्मचारी की दृढ़ता कथन करते हैं:—

तञ्चेदेतस्मिन्वयसि किञ्चिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा वसव इदं मे प्रातःसवनं माध्यन्दिनꣳसवनमनुसन्तनुतेति माऽहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥२॥

अर्थ-इस चौबीस वर्ष की आयु में प्रथम ब्रह्मचर्य्य करते हुए ब्रह्मचारी से यदि कोई कुछ कहे तो वह ब्रह्मचारी उसको उत्तर देवे कि प्राण वसु हैं, हे प्राणप्रिय मित्रो! यह मेरा प्रथम प्रातःसवन समान ब्रह्मचर्य्य काल है आप लोग विघ्न न करें प्रत्युत ऐसा यत्न करें कि मेरा मध्यन्दिन सवन भलेप्रकार पूर्ण हो, जिन प्राणों की वसु संज्ञा है आप मित्रों वा पितरों के मध्य जो मैं यज्ञरूप हूं सो मैं विलुप्त न होजाऊं, निश्चयकरके उक्त कथन से वह सर्वत्र उदय होता और त्रिविध दुःखों से विमुक्त होता है ॥

भाष्य-इस श्लोक में उक्त ब्रह्मचारी की इस प्रकार दृढ़ता वर्णन कीगई है कि चौबीस वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्य का अनुष्ठान करने वाले ब्रह्मचारी से यदि कोई मित्र वा बान्धव तथा माता पिता आदि इस प्रथम ब्रह्मचर्य्य के अनुष्ठान की सिद्धि में कुछ बाधा डालें तो वह ब्रह्मचारी उनको यह उत्तर देवे कि हे प्राणप्रिय मित्रो वा बान्धवादि पितरो! यह मेरा प्रातःसवन समान ब्रह्मचर्य्य काल है और मैं इस समय इसका अनुष्ठान कर रहा हूं कृपाकरके आप लोग मेरे इस ब्रह्मचर्य्यरूप तप में विघ्न न करें प्रत्युत मेरे लिये माध्यन्दिनसवन समान ब्रह्मचर्य्य को प्राप्त कराने के लिये यत्नवान् हों, यह मेरी आप लोगों से प्रार्थना है, हे प्रिय बान्धवो! मैं सत्करणीय यज्ञ हूं आप ऐसी चेष्टा न करें जिससे मैं विलुप्त होजाऊं किन्तु ऐसा यत्न करें जिससे मैं सूर्य्य की तरह प्रकाशित होऊं, मैं इस प्रातःसवन का कदापि त्याग न करूंगा, और यह उत्तम जनों का लक्षण भी है कि अनेक विघ्न होने पर भी वह आरब्ध कार्य्य का त्याग नहीं करते, अतएव आप लोग मुझको सन्तप्त न करें, इस प्रकार दृढ़ता से वह ब्रह्मचारी सर्वत्र उदय होता और त्रिविध दुःखों से विनिर्मुक्त होकर परमपद को प्राप्त होता है ॥

सं०-अब माध्यन्दिन सवन का कथन करते हैं:—

अथ यानि चतुश्चत्वारिꣳशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनꣳ सवनं चतुश्चत्वारिꣳशदक्षरा त्रिष्टुप् त्रैष्टुभं

माध्यन्दिन ँसवनं तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः प्राणा वाव रुद्रा एतेहीद ँ सर्व ँ रोदयन्ति ॥ ३ ॥

अर्थ—अब जो ४४ वर्ष का ब्रह्मचर्य्य वह माध्यन्दिन सवन है, ४४ अक्षर का त्रिष्टुप् छन्द होता है और त्रिष्टुप् छन्द के समान ही माध्यन्दिन सवन है, यह यज्ञरूप माध्यन्दिन सवन रुद्ररूप देवता से सम्बन्ध रखता है, निश्चय करके प्राण ही रुद्र हैं क्योंकि यही इन सब प्राणियों को रुलाते हैं ॥

भाष्य—प्रथम श्लोक में प्रातःसवन का वर्णन करके इस श्लोक में माध्यन्दिन सवन का कथन किया है. ४४ वर्ष का माध्यन्दिन सवन होता है अर्थात् जो ब्रह्मचारी आचार्य्यकुल में ४४ वर्ष पर्य्यन्त वेदाध्ययन करता हुआ अपनी आयु को व्यतीत करता है वह माध्यन्दिनसवन=मध्यम ब्रह्मचर्य्य है, और माध्यन्दिन के समान ही त्रिष्टुप् छन्द है क्योंकि यह छन्द भी ४४ अक्षर का होता है, इस सवन में प्रायः इसी छन्द का प्रयोग किया जाता है और इस सवन का देवता रुद्र है, या यों कहो कि इस ब्रह्मचारी की " रुद्र " संज्ञा है, जो इन्द्रिय के उत्क्रमण काल में सब प्राणियों को रुलावे उसका नाम " रुद्र " है ॥

सं०—अब उक्त ब्रह्मचारी की दृढ़ता कथन करते हैं:—

तञ्चेदेतस्मिन्वयसि किञ्चिदुपतपेत् सब्रूयात्प्राणारुद्रा इदं मे माध्यन्दिन ँसवनं तृतीयसवनमनुसन्तनुतेतिमाऽहं प्राणाना ँ रुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥ ४ ॥

अर्थ—इस ४४ वर्ष की आयु में यह मध्यम ब्रह्मचर्य्य करते हुए इस ब्रह्मचारी से यदि कोई कुछ कहे वा दुःख पहुंचावे तो वह ब्रह्मचारी उसके प्रति यह कथन करे कि प्राण रुद्र हैं, मेरा यह माध्यन्दिनसवन=मध्यम ब्रह्मचर्य्यकाल है, आप मेरे ब्रह्मचर्य्य में विघ्न न करें प्रत्युत् तृतीयसवन को प्राप्त करायें आप प्राणप्रिय मित्रों वा रुद्ररूपधारी पितरों के मध्य इस ब्रह्मचर्य्यरूप यज्ञ के अनुष्ठान से प्रतिष्ठा को प्राप्त मुझको विलुप्त मत करो, निश्चयकरके इस कथन से वह सर्वत्र उदय होकर त्रिविध दुःखों से विमुक्त होता है ॥

भाष्य—इस ४४ वर्ष की आयु का ब्रह्मचर्य्य करते हुए इस माध्यन्दिनसवन वाले ब्रह्मचारीसे यदि कोई कहे कि तू ब्रह्मचर्य्य छोड़दे अब तुझको पठन पाठन की आवश्यकता नहीं वा इसको कोई दुःख पहुंचावे तो वह ब्रह्मचारी उसको इस प्रकार कथन करे कि हे मेरे प्राणप्रिय मित्रो वा हे रुद्ररूपधारी पितरो! मैं आपके मध्य इस ब्रह्मचर्य्यरूप यज्ञ के अनुष्ठान से प्रतिष्ठा को प्राप्त मेरा नाश न करें प्रत्युत यह प्रयत्न करें कि मैं तृतीय सवन को प्राप्त होऊं, इस प्रकार

उत्तर देने से वह ब्रह्मचारी सर्वत्र उदय होता और त्रिविध दुःखों से छूट जाता है ॥

सं०—अब तृतीयसवन कथन करते हैं:—

अथ यान्यष्टाचत्वारिᳬशद्वर्षाणि तत्तृतीयसवन-मष्टाचत्वारिᳬशदक्षरा जगती जागतं तृतीय सवनं तदस्यादित्या अन्वायत्ताः प्राणा वावाऽऽदित्या एते हीद ᳬ सर्वमाददते ॥ ५ ॥

अर्थ—अब जो ४८ वर्ष का ब्रह्मचर्य्य है वह तृतीयसवन है, तृतीय सवन जगती छन्दान्वित होता है, क्योंकि जगतीछन्द ४८ अक्षरों का होता है, इस ब्रह्मचारी के उस सवन में आदित्य का सम्बन्ध है, प्राण ही आदित्य हैं, क्योंकि यह प्राण इस सब को धारण किये हुए हैं ॥

भाष्य—प्रातःसवन और माध्यन्दिनसवन का वर्णन करने के अनन्तर क्रमप्राप्त इस श्लोक में तृतीयसवन का कथन किया गया है अर्थात् ४८ वर्ष आचार्य्यकुल में निवास करते हुए ब्रह्मचर्य्यपूर्वक जो वेदों का अध्ययनरूप तप है उसका नाम "**तृतीयसवन**" है, यह तृतीयसवन जगतीछन्दान्वित है, या यों कहो कि इसमें प्रायः जगती छन्दों का प्रयोग किया जाता है, इस यज्ञरूप ब्रह्मचारी की आदित्य संज्ञा होती है अर्थात् जिसने अपने प्राण नाम इन्द्रियों को भले प्रकार वशीभूत कर लिया है उसका नाम "आदित्य" है, इस ब्रह्मचर्य्य रूप आध्यात्मिक अनुष्ठान से ब्रह्मचारी सब सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयों को ग्रहण कर लेता है और ब्रह्मचर्य्यरूप तप से सूर्य्य की तरह चमकता है ॥

सं०—अब उक्त ब्रह्मचारी की दृढ़ता कथन करते हैं:—

तञ्चेदेतस्मिन्वयसि किञ्चिदुपतपेत्स ब्रूयात् प्राणा आदित्या इदं मे तृतीयसवनमायुरनुसन्तनुतेति माऽहं प्राणानामादित्यानांमध्येयज्ञोविलोप्सीये-त्युद्धैव तत एत्यगदो हैव भवति ॥ ६ ॥

अर्थ—इस ४८ वर्ष की आयु में उत्तम ब्रह्मचर्य्य करते हुए इस ब्रह्मचारी से यदि कोई कुछ कहे वा दुःख पहुंचावे तो वह ब्रह्मचारी इस प्रकार कथन करे कि प्राण आदित्य हैं, हे प्राणप्रिय मित्रो तथा विज्ञानी पितरो! यह मेरा तृतीय सवन है, आप लोग मेरे लिये आयु की वृद्धि का प्रयत्न करें, ऐसा कथन करे, प्राणप्रिय मित्रो तथा विज्ञानी पितरों के मध्य में यज्ञ हूं मुझको विलुप्त मत करो, इस प्रकार कथन करने वाला ब्रह्मचारी प्रसिद्ध होकर उदय को प्राप्त होता

और निश्चयकरके वह सदा ही नीरोग रहता है ॥

सं०-अब उक्त ब्रह्मचर्य्य का फल कथन करते हैं:—

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह महीदास ऐतरेयः स किं म एतदुपतपसि योऽहमनेन न प्रेष्यामीति स ह षोडशं वर्षशतमजीवत्प्र ह षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद ॥ ७ ॥

अर्थ-ऐतरेय ऋषि के प्रसिद्ध पुत्र महीदास इस यज्ञ विज्ञान को जानकर यह कथन करते थे कि तुम मेरे ब्रह्मचर्य्य को न जानते हुए क्यों इस प्रकार तपाते हो, मैं इस तुम्हारे उपताप से नहीं मरूंगा, क्योंकि मैंने पूर्ण ब्रह्मचर्य्यरूप तप किया है, वह प्रसिद्ध दृढ़व्रती महीदास एकसौसोलहवर्ष जीवित रहे, जो उक्त प्रकार से जानता है वह भी एकसौसोलहवर्ष निश्चयपूर्वक जीता है ॥

भाष्य-इस श्लोक में महर्षि महीदास की आख्यायिका द्वारा उक्त ब्रह्मचर्य्य व्रत को दृढ़ किया है-अर्थात् ऐतरेयादि ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रसिद्ध महीदास नामक ऋषि इस ब्रह्मचर्य्यरूप विज्ञान को जानते हुए अपने को तपानेवाले शत्रु वा अन्य विघ्नकारी मनुष्यों से कहा करते थे कि तुमलोग मेरे ब्रह्मचर्य्य को न जानते हुए मुझको क्यों दुःख देरहे हो, तुम्हारा दुःख देना मेरे लिये कोई विघ्नकारी नहीं होसकता, क्योंकि मैंने पूर्ण ब्रह्मचर्य्य पालन किया है, इस प्रकार दृढ़व्रती महीदास ११६ वर्ष तक जीवित रहे और जो कोई इसीप्रकार व्रत धारण करेगा वह भी इतनी ही आयु को प्राप्त होगा अर्थात् जो ४८ वर्ष ब्रह्मचर्य्य व्रत धारण करता है वह नीरोग रहकर पूर्ण आयु भोगता है ॥

इति षोडशःखण्डः समाप्तः

अथ सप्तदशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब ब्रह्मचारी के दीक्षादि व्रत कथन करते हैं:—

स यदशिशिषति यत्पिपासति यन्न रमते ता अस्य दीक्षा ॥ १ ॥

अर्थ-वह ब्रह्मचारी जो खाता है, जो पीता है, जो उनमें आसक्त नहीं होता, इस ब्रह्मचारी की वही दीक्षायें हैं ॥

भाष्य-ब्रह्मचर्य्याश्रमरूप यज्ञ के दीक्षादि व्रत यह हैं कि जो ब्रह्मचारी खान पानादि व्यवहार करता है उसका उनमें लिप्त न होना ही "दीक्षा" है

अर्थात् जीवनयात्रा के निर्वाहार्थ जो कुछ मिलजाय उसी को खा पीकर सन्तुष्ट रहना दीक्षायें हैं ॥

अथ यदश्नाति यत्पिबति यद्रमते तदुपसदैरेति ॥ २ ॥

अर्थ—और ब्रह्मचारी जो खाता है, जो पीता है, जो उनमें आसक्त होजाता है, वह उपसदों के समान है ॥

अथ यद्धसति यज्जक्षति यन्मैथुनं चरतिस्तुतशस्त्रैरेव तदेति ॥ ३ ॥

अर्थ-और वह ब्रह्मचारी जो हंसता है, जो गमन करता है, जो संयोग करता है, वह निश्चयकरके स्तोत्र शस्त्र की समता को प्राप्त होता है ॥

अथ यत्तपोदानमार्जवमहिँ सासत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः ॥ ४ ॥

अर्थ—और वह ब्रह्मचारी जो तप=तितिक्षा, दान, सरलता, किसी प्राणी को न सताना, सत्यभाषण, यह सब करता है वह इसकी दक्षिणा है ॥

तस्मादाहुः सोष्यत्यसोष्टेति पुनरुत्पादनमेवास्य तन्मरणमेवास्यावभृथः ॥ ५ ॥

अर्थ—जिस कारण कथन करते हैं कि सुब्रह्मचारी उत्पन्न होगा; उत्पन्न होचुका है, इस प्रकार उसका पुनर्जन्म होना ही "सोष्यति" तथा "असोष्ट" के समान और उसका ब्रह्मचर्य्यव्रत करते हुए मरण ही "अवभृथ" याग के समान है,

भाष्य—प्रथम श्लोक में जो ब्रह्मचारी के लिये दीक्षायें कथन कीगई हैं उनसे विरुद्ध जो ब्रह्मचारी खानपान में आसक्त होजाता है वह उस पद से गिर कर उपसद=ऋत्विजों की समता को प्राप्त होता है, और जो ब्रह्मचारी हंसता है, गमन करता है, मिथुन करता है वह स्तुत तथा शस्त्र * की समता को प्राप्त होता है, और जो ब्रह्मचारी तप=तितिक्षा, दान=विद्यादि का दान, आर्जव=सरलता, अहिंसा, सत्यभाषणादि व्यवहार करता है वह दक्षिणा है अर्थात् दीक्षा, उपसद, स्तुत, शस्त्र और दक्षिणा यह सब यज्ञ के अङ्ग हैं, और ब्रह्मचर्य्य भी एक यज्ञ है सो यह सब ब्रह्मचारी में घटायें हैं कि अमुक अमुक कर्मों वाला अमुक २ पद को प्राप्त होता है, जहां यज्ञ में प्रत्येक ऋत्विक्

* सामवेद के गान करने वाले जिन ऋचाओं को गाते हैं उनका नाम "**स्तुत**" तथा उसी को "**स्तोत्र**" कहते हैं, और जो ऋचायें यज्ञ में पढ़ी जाती हैं उनका नाम "**शस्त्र**" है।

के कार्य्य विभक्त किये हैं उनमें एक सोमरस बनाने वाला भी होता है, सु–धातु अनेकार्थवाची है परन्तु यहां प्रकरणवशात् दो ही अर्थों में प्रयुक्त होती है अर्थात् सोष्यति=सोमरस बनावेगा अथवा यह माता सुब्रह्मचारी उत्पन्न करेगी वा असोष्ट=यह माता ब्रह्मचारी उत्पन्न करचुकी है, वास्तव में बात यह है कि ब्रह्मचारी का पुनर्जन्म ही यज्ञ के "सोष्यति" और "असोष्ट" के समान है, यहाँ केवल शब्द की समानता है अर्थ की नहीं, और ब्रह्मचर्य्यव्रत करते हुए इस ब्रह्मचारी का मरण ही "अवभृथ" याग के समान है अर्थात यज्ञ के पश्चात्=समाप्ति पर उक्त याग किया जाता है, जिसका विस्तारपूर्वक वर्णन "मीमांसार्य्यभाष्य" में किया गया है और उक्त शस्त्र आदि सबका वहां भलेप्रकार विचार किया है, इसलिये यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं॥

सं०—अब मरणकाल में ब्रह्मचारी के लिये सदुपदेश कथन करते हैं:—

तद्धैतद्घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचाऽपिपास एव स बभूव सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येताक्षितमस्यच्युतमसि प्राण सꣳशितमसीति तत्रैते द्वे ऋचौ भवतः॥ ६॥

अर्थ–प्रसिद्ध अङ्गिरा ऋषि के पुत्र घोर नामा ऋषि देवकी के पुत्र कृष्ण से अध्ययनकाल में बोले कि हे कृष्ण! वह ब्रह्मचारी मरणकाल में इन तीन पदों को उच्चारण करे, हे परमात्मन्! आप अविनाशी हैं, आप सदा एकरस रहने वाले हैं, आप सबके प्राणप्रद तथा अति सूक्ष्म हैं, यह उपदेश किया, यह उपदेश सुन वह कृष्ण अन्य के प्रति तृष्णारहित होगये, उक्त विषय में यह दो मंत्र हैं॥

भाष्य–अङ्गिरा गोत्रोत्पन्न घोर नामा ऋषि अध्ययनकाल में अपने शिष्य कृष्ण से बोले कि हे कृष्ण! ब्रह्मचारी मरणकाल में इन तीन पदों को उच्चारण करे कि हे परमात्मन्! आप "अविनाशी" हैं, हे देव! आप "एकरसरहनेवाले" हैं, हे पिता! आप "जीवनदाता" तथा "अति सूक्ष्म" हैं, कृष्ण इस उपदेश को सुनकर अन्य सबको छोड़ एकमात्र परमात्मपरायण होगये, उक्त विषय में निम्नलिखित दो मन्त्र हैं:—

१–"आदित्प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिष्पश्यन्ति वासरम्। परोयदिध्यते दिवा॥ ऋग्० ५। ८। १४

२-"उद्वयं तमसस्परिज्योतिः पश्यन्त उत्तरं स्वः पश्यन्त उत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्य्यमगन्म ज्योतिरुत्तममिति ज्योतिरुत्तममिति॥७॥

यजु० २०। २१

अर्थ-पुरातन, नित्य, विश्व का कारण जो ब्रह्म उसकी दिन के समान ज्योति को सर्वत्र व्याप्त देखते हैं, वह ज्योति कैसी है? जो सब से ऊपर, दिव्यस्वरूप, वर्त्तमान और अज्ञानरूप अन्धकार से परे=ऊपर विराजमान है उसी उत्कृष्ट ज्योति को देखते हुए, उसी एकमात्र ज्योति का ध्यान करते हुए हम लोग उसी उत्कृष्ट ज्योति को प्राप्त हों जो दिव्यगुणयुक्त और सूर्य्यादि देवों की प्रकाशक है॥

भाष्य—"ज्योतिरुत्तममिति" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता तथा खण्ड की समाप्ति के लिये आया है, दिव्यस्वरूप परब्रह्म परमात्मा जो इस सम्पूर्ण विश्व का कारण है उसकी दिन के समान ज्योति को सर्वत्र व्याप्त देखते हैं जो दिव्यस्वरूप सबसे ऊपर वर्त्तमान और जो अज्ञानरूप अन्धकार से परे विराजमान है, उसी उत्कृष्ट ज्योति को देखते हुए, उसी एकमात्र ज्योति का ध्यान करते हुए, उसी को प्राप्त हों जो दिव्यगुणयुक्त तथा सब दिव्य पदार्थों की प्रकाशक है।

स्मरण रहे कि पूर्व श्लोक में जो यह कथन किया था कि इस विषय में दो मंत्र प्रमाण हैं सो उन दोनों मंत्रों को हमने वेद से पूर्ण उद्धृत करके यहां रख दिये हैं और उनके पते तथा अर्थ भी पूर्णरीति से लिख दिये हैं ताकि उपासक को इन मंत्रों के खोजने में विलम्ब न लगे और दोनों का अर्थ भी पूर्ण प्रकार से समझ में आजाय, हां द्वितीय मंत्र में इतना भेद है कि "ज्योतिः पश्यन्त उत्तरम्" पाठ अधिक है जो ज्ञात होता है कि यह प्रतीक "उद्वयं तमसस्परि ज्योतिः पश्यन्त उत्तरम्" ऋग्० १। ५०। १० इस मंत्र से उद्धृत कीगई है॥

इति सप्तदशःखण्डः समाप्तः

अथ अष्टादशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब "अध्यात्म" और "अधिदैवत" उपासन कथन करते हैंः—

मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्ममथाधिदैवतमाकाशो ब्रह्मेत्युभयमादिष्टं भवत्यध्यात्मं चाधिदैवतं च॥१॥

अर्थ—मन सब इन्द्रियों में श्रेष्ठ है, ऐसा जानकर उपासना करने का नाम "अध्यात्मोपासना" और आकाश सब भूतों में बड़ा है, यह जानकर उपासना करने का नाम "अधिदैवतोपासना" है. इस प्रकार अध्यात्म और अधिदैवत यह दोनों ऋषियों द्वारा उपदेश कीगई हैं ॥

सं०—अब "मन" और "आकाश" के चतुष्पाद वर्णन करते हैं:—

तदेतच्चतुष्पाद् ब्रह्म, वाक् पादः प्राणः पादश्चक्षुः पादः श्रोत्रं पाद इत्यध्यात्ममथाधिदैवतमग्नि पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पाद इत्युभयमेवादिष्टंभवत्यध्यात्मं चैवाधिदैवतं च ॥ २ ॥

अर्थ—वह बृहत् मन चार पाद वाला है, वाणी प्रथम पाद, प्राण द्वितीय पाद, चक्षुः तृतीय पाद, श्रोत्र चौथा पाद है, यह अध्यात्म वर्णन है, और अग्नि प्रथम पाद, वायु द्वितीय पाद, आदित्य तृतीय पाद, दिशा चतुर्थपाद है, यह अधिदैवत वर्णन है, निश्चयकरके अध्यात्म और अधिदैवत यह दोनों ही ऋषियों द्वारा पाद उपदेश किये गये हैं ॥

सं०—अब उक्त ज्ञान का फल कथन करते हैं:—

वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः सोऽग्निना ज्योतिषा भाति च तपति च । भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥ २ ॥

अर्थ–मनरूप ब्रह्म का वाणी ही चतुर्थ पाद है, वह पाद अग्निरूप ज्योति से प्रदीप्त होता और तपता है, जो पुरुष उक्त प्रकार से जानता है वह कीर्ति, यश तथा ब्रह्मतेज से जगत् में शोभित होता और देदीप्यमान होता है ॥

प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च । भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥ ४ ॥

अर्थ—मनरूप ब्रह्म का घ्राणेन्द्रिय ही चतुर्थ पाद है, वह पाद वायुरूप ज्योति से शोभित और देदीप्यमान होता है, जो उक्त प्रकार से जानता है वह कीर्ति, यश तथा ब्रह्मतेज से सुशोभित और देदीप्यमान होता है ॥

चक्षुरेव ब्रह्मणश्चतुर्थःपादः स आदित्येन ज्योतिषा भाति च तपति च । भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥ ५ ॥

अर्थ-मनरूप ब्रह्म का चक्षु ही चतुर्थ पाद है वह पाद आदित्यरूप ज्योति से भासित होता और प्रकाशित होता है, जो उक्त प्रकार से जानता है वह कीर्ति, यश और ब्रह्मतेज से सुशोभित तथा प्रकाशमान होता है ॥

श्रोत्रमेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स दिग्भिर्ज्योतिषा भाति च तपति च । भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद य एवं वेद ॥ ६ ॥

अर्थ-मनरूप ब्रह्म का श्रोत्र ही चतुर्थपाद है, वह पाद दिशारूप ज्योति से शोभायमान और प्रकाशित होता है, जो उक्त प्रकार से जानता है वह कीर्ति, यश तथा ब्रह्मतेज से शोभायमान और प्रकाशित होता है ॥

भाष्य-" य एवंवेद " पाठ दोवार खण्ड की समाप्ति के लिये आया है, (शेष सब स्पष्ट है) ॥

इति अष्टादशःखण्डः समाप्तः

अथ एकोनविंशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब आदित्य का महत्व कथन करते हैं:—

आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशस्तस्योपव्याख्यानमसदेवेदमग्र आसीत् । तत्सदासीत्तत्समभवत् । तदाण्डं निरवर्त्तत । तत्संवत्सरस्य मात्रामशयत । तन्निरभिद्यत, ते आण्डकपाले रजतञ्च सवर्णञ्चाभवताम् ॥ १ ॥

अर्थ-आदित्य बड़ा है, यह उपदेश है, उसका यह उपव्याख्यान है, सूर्य्य की उत्पत्ति के पूर्व यह जगत् असत् ही था वह सत् था, वह सब प्रकार से तब अण्डाकार होगया, वह अण्डा एकवर्ष की अवधि पर्य्यन्त स्थिर रहा फिर वह भेद को प्राप्त हुआ उससे वह दो अण्डकपाल शुक्ल और सुवर्ण दीप्ति वाले हुए ॥

भाष्य-"आदित्य से तात्पर्य्य यहां "प्रकृतिरूप पिण्ड" का है, इस पिण्ड को "असत्" इस अभिप्राय से कथन किया गया है कि उस समय प्रकृति कार्य्यरूप न थी और "सत्" इसलिये कथन किया है कि वह अपनी सत्ता में सद्रूप थी, वह प्रकृतिरूप पिण्ड कुछ काल तक निश्चल रहकर दो भागों में विभक्त होगया, एक भाग वह जिसमें सूर्य्य चन्द्रमादिकों की ज्योतियें हैं और दूसरा भाग वह कहलाया जिसमें पृथिव्यादि लोकलोकान्तर हैं, इस प्रकार प्रकृति इस कार्य्यरूप जगत् को प्राप्त हुई, ब्रह्म से तात्पर्य्य यहां बड़े का है, जैसाकि

" तस्मात् नामरूपमन्नञ्च ब्रह्मजायते " मुण्ड० १।६ इस वाक्य में अन्नादिकों को ब्रह्म कथन किया गया है ॥

सं०-अब प्रकृति के अन्य कार्य्य कथन करते हैं :—

तद्यद्रजतꣳसेयं पृथिवी, यत्सुवर्णꣳ सा द्यौः ।
यज्जरायु ते पर्वताः । यदुल्वꣳ समेघो नीहारः,
याधमनयस्ता नद्यः, यद्वास्तेयमुदकꣳस समुद्रः॥२॥

अर्थ—उन दोनों कपालों में से जो रजतवर्ण का भाग था उससे यह पृथिवी, जो सुवर्णरूप भाग था उससे द्युलोक, जो जेररूप भाग था उससे पर्वत, जो झिल्लीरूप भाग था उससे कुहर और मेघ बने, जो सूक्ष्म नाड़ियें थीं उनसे यह नदियें, जो मूत्र स्थानीय जल था उससे वह समुद्र बने ॥

भाष्य—उस अण्डाकार प्रकृति के राजत् भागों से पृथिवी, सुवर्णरूप भागों से द्यौ, जेररूप विभागों से पर्वत, झिल्ली से मेघ तथा नीहार, धमनियों से नदियें और मूत्रस्थानीय जल से समुद्र बना।

तात्पर्य्य यह है कि प्रकृति को उक्त श्लोकों में अण्डे के रूपक से वर्णन किया है, इसलिये रूपकालङ्कार से जो २ अण्डे में भाग होते हैं उन सबका वर्णन उक्त श्लोक में आया है, इसलिये कोई दोष नहीं ॥

सं०—अब उक्त प्रकृति के कार्य्य आदित्य का उदय कथन करते हैं:—

अथ यत्तदजायत सोऽसावादित्यस्तं जायमानं घोषा
उलूलवोऽनूदतिष्ठन्त्सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामा-
स्तस्मात्तस्योदयं प्रतिप्रत्यायनं प्रति घोषा उलूलवोऽनू-
त्तिष्ठन्ति सर्वाणि च भूतानि सर्वे चैव कामाः ॥ ३ ॥

अर्थ—अब यह कथन करते हैं कि वह जो तेजोराशी उत्पन्न हुआ वह आदित्य है, उस आदित्य=सूर्य्य को उत्पन्न हुआ देख उच्चस्वर से ध्वनि होने लगीं, क्योंकि इसी आदित्य के आश्रय से सब प्राणियों की सब कामनायें पूर्ण होती हैं, इस कारण उसके उदय के प्रति और प्रतिदिन उदय के प्रति=समय उच्च स्वर से ध्वनियें हुआ करती हैं और सब प्राणी तथा उनकी सब कामनायें उठ खड़ी होती हैं ॥

सं०—अब उक्त आदित्य के ज्ञाता को फल कथन करते हैं:—

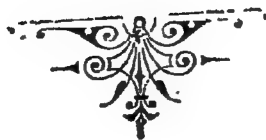
स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्तेऽभ्यासो ह यदेनꣳ
साधवो घोषा आ च गच्छेयुरुप च निम्रेडेरन् निम्रेडेरन् ॥४॥

अर्थ—वह पुरुष जो इस आदित्य को पूर्वोक्त प्रकार से सृष्ट पदार्थों में बड़ा जानकर विचारता है उसको निश्चयकरके अतिशीघ्र प्रशंसापरक शब्द प्राप्त होते हैं और वह उसको सुख पहुंचाते हैं ॥

भाष्य—" निम्रेडेरन् " पाठ दो बार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आयाहै, उक्त प्रकरण में आदित्य को ब्रह्म तथा उसकी उपासना इस अभिप्राय से कथन की है कि आदित्यादि प्रकृति के मुख्य २ कार्य्यों के विज्ञान से पुरुष बहुदर्शी होजाता है और उसकी सब लोग शुभ शब्दों से प्रशंसा करते हैं जिस का उसके लिये फल भी शुभ होता है।

जो लोग यहां आदित्य को ईश्वर समझकर उपासना कथन करते हैं यह उनकी भूल है, क्योंकि उपासना शब्द ईश्वर की पूजा में ही नहीं आता किन्तु एक ज्ञातव्य अथवा भोक्तव्य पदार्थ की ओर झुकने के लिये भी आता है, जैसाकि " उपास्ते ये गृहस्थापरपाकमबुद्धय " इत्यादि स्थलों में स्पष्ट है, इससे सिद्ध है कि आदित्य की उपासना यहां उसके ज्ञान के अभिप्राय से है ब्रह्मवत् ध्यान के अभिप्राय से नहीं, ऐसा ही पूर्वोक्त जड़ोपासनाओं में सर्वत्र समझना चाहिये ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे
छान्दोग्योपनिषदार्य्यभाष्ये
तृतीयः प्रपाठकः समाप्तः



ओ३म्

अथ चतुर्थः प्रपाठकः प्रारभ्यते

सं०—तृतीय प्रपाठक में उपासनाओं का वर्णन किया, अब इस प्रपाठक में "जानश्रुति" आदिकों की आख्यायिका द्वारा संवर्गादि अनेक विद्याओं का कथन करते हैं :—

जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस । स ह सर्वत आवसथान् मापयाञ्चक्रे सर्वत एव मेऽत्स्यन्तीति ॥ १ ॥

अर्थ—विविधपाकयुक्त श्रद्धापूर्वक बहुत दान का देने वाला जनश्रुति राजा के पौत्र का पुत्र प्रसिद्ध जानश्रुति राजा था उसने सर्वत्र धर्मशालाय बनवाईं कि सब ओर से आये हुए अभ्यागत मेरे ही अन्न को भोजन करेंगे ॥

भाष्य—जनश्रुति राजा के पौत्र का पुत्र जानश्रुति नामवाला राजा जो बहुत ऐश्वर्य्यशाली और दानी था उसने अपने राज्य में सर्वत्र धर्मशालायें बनवादी थीं कि सब स्थानों से आये हुए अभ्यागत पुरुष मेरे ही अन्न का भोजन करें ॥

अथ ह हꣳसा निशायामतिपेतुस्तद्धैवꣳ हꣳ सोहꣳ समभ्युवाद हो हो हि भल्लाक्ष भल्लाक्ष जानश्रुतेः पौत्रायणस्य समं दिवा ज्योतिराततं तन्माप्रसाङ्क्षी स्तत्त्वा मा प्रधाक्षीरिति ॥२॥

अर्थ—अब यह कथन करते हैं कि एक दिन दो हंस उड़ते हुए रात्रि समय स्वप्नावस्था में राजा के ऊपर आये और वह वहां इस प्रकार एक हंस दूसरे हंस को कहने लगा कि हे हे मन्ददृष्टि मन्ददृष्टि पौत्रायण जानश्रुति का प्रताप द्युलोक के समान फैल रहा है उस प्रताप के साथ सम्बन्ध मत करो, क्योंकि वह प्रताप तुमको दग्ध न कर देवे ॥

भाष्य—इस कथा में जो हंसों का परस्पर कथन वर्णन कियागया है वह उपचार से है, क्योंकि हंसों का किसी समय में भी बोलना नहीं सुनागया और न वह किसी पुरुष के यश अपयश के ज्ञाता होसकते हैं, केवल आख्यायिका को अद्भुत बनाने के लिये हंसों द्वारा उपन्यास कियागया है ॥

भाव यह है कि जानश्रुति राजा का अभिमान तोड़कर उसको ब्रह्मविद्या का जिज्ञासु बनाने के लिये यह आख्यायिका रची गई है अन्य किसी असम्भव कथन में इसका तात्पर्य्य नहीं ॥

तमु ह परः प्रत्युवाच कम्वर एनमेतत्सन्त ँ सयुग्वानमिव रैक्कमात्थेति । यो नु कथ ँ सयुग्वारैक्क इति ॥ ३ ॥

अर्थ—उस हंस को दूसरा हंस बोला कि हे प्रियमित्र तू किसको सयुग्वा रैक्क के समान कहता है, निश्चयकरके कहो कि जो सयुग्वा रैक्क है वह कैसा है ॥

यथा कृताय विजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेन ँ सर्वं तदभिसमेति यत्किञ्च प्रजाः साधु कुर्वन्ति । यस्तद्वेद यत्सवेद स मयैतदुक्त इति ॥ ४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार कृताय के जीतने पर नीचे की सब नरदें जीती जाती हैं इसी प्रकार जो कुछ प्रजा उत्तम कर्म करती है वह सब इस सयुग्वारैक्क को प्राप्त होते हैं, जो कोई जो कुछ जानता है वह रैक्क उस सबको जानता है, मैंने इस रैक्क के विषय में यह सब कहा है ॥

सं०—अब जानश्रुति उक्त कथन को अपने द्वारपाल से वर्णन करता है:—

तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायण उपशुश्राव । स ह सञ्जिहान एव क्षत्तारमुवाचाङ्गारे स सयुग्वानमिव रयिक्कमात्थेति । यो नु कथ ँ सयुग्वा रयिक्क इति ॥ ५ ॥

अर्थ—निश्चयकरके यह बात जानश्रुति पौत्रायण ने सुनी, वह प्रसिद्ध राजा प्रातःकाल ही द्वारपाल को बोला कि हे प्रिय क्या तू सयुग्वान रैक्क के समान मुझको मानता है ? तब द्वारपाल ने पूछा कि जो सयुग्वा रैक्क है वह कैसा है ॥

सं०—अब राजा सयुग्वा रैक्क का वर्णन करते हैं:—

यथा कृताय विजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेन ँ सर्वं तदभिसमेति यत्किञ्च प्रजाः साधुकुर्वन्ति । यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्त इति ॥ ६ ॥

अर्थ—जिसप्रकार कृताय के जीतने पर नीचे की सब नरदें जीती जाती हैं इसी प्रकार प्रजा जो कुछ उत्तम कर्म करती है वह सब इस सयुग्वारैक्व को प्राप्त होते हैं, जो कोई कुछ जानता है उसको रैक्व जानता है, मैंने यह रैक्वविषयक वर्णन किया है ॥

स ह क्षत्ताऽन्विष्य नाविदमिति प्रत्येयाय । तꣳहो-
वाच यत्रारे ब्राह्मणस्यान्वेषणा तदेनमर्च्छेति ॥ ७ ॥

अर्थ-वह प्रसिद्ध द्वारपाल खोजकर लौट आया और राजा से कहने लगा कि मैंने उनको नहीं जाना, इस कारण लौट आया हूं तब वह प्रसिद्ध राजा बोला हे प्रिय द्वारपाल जहां पर ब्रह्मवेत्ता पुरुषों की खोज होती है वहां पर इस ऋषि की खोज करो ॥

भाष्य-द्वारपाल के पूछने पर राजा ने रैक ऋषि का सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया, द्वारपाल ने कहा कि दुर्भाग्य वशात् मैं उनको नहीं जानता तब राजा ने कहा कि हे द्वारपाल ! उस महर्षि की अन्वेषणा करो, यह सुनकर वह द्वारपाल ऋषि की खोज में बाहर जाकर इतस्ततः खोजकर लौट आया और राजा को कहा कि मैंने उस ऋषि को नहीं पाया, फिर राजा ने उसको बतलाया कि हे द्वारपाल ! जहां ब्रह्मविद् पुरुषों की खोज होती है वहां उस ऋषि को जाकर खोजो ॥

सं०—अब उस द्वारपाल को ऋषि की प्राप्ति कथन करते हैं:—

सोऽधस्ताच्छकटस्य पामानं कषमाणमुपोपविवेश । तꣳ
हाभ्युवाद त्वं नु भगवः सयुग्वारैक इत्यहꣳह्यरा ३
इति ह प्रतिजज्ञे । स ह क्षत्ताऽविदमिति प्रत्येयाय ॥८॥

अर्थ-उस द्वारपाल ने गाड़ी के नीचे भाग में बैठे " पामा " नामक दाद को खुजलाते हुए ऋषि को देखा देखकर विनय पूर्वक उनके निकट बैठगया और उनसे पूछा कि हे भगवन् ! क्या आप ही सयुग्वारैक हैं तब ऋषि ने कहा हे अबोद्धा मनुष्य निश्चय मैं ही सयुग्वा रैक हूँ, इस प्रकार स्वीकृति लेने के अनन्तर वह द्वारपाल मैंने ऋषि को जाना, यह विचार करता हुआ राजा के निकट लौट आया ॥

इति प्रथमःखण्डः समाप्तः

अथ द्वितीयःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब गौयें आदि भेट लेकर राजा का ऋषि के समीप जाना कथन करते हैं:-

तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायणः षट्शतानि गवां निष्कमश्व-
तरीरथं तदादाय प्रतिचक्रमे । तꣳहाभ्युवाद ॥ १ ॥

अर्थ-वह प्रसिद्ध जानश्रुति पौत्रायण राजा, उसी काल छसौ गायें, सुवर्ण

मणि आदि अमूल्य रत्नों की माला, खच्चरों का शीघ्रगामी रथ आदि धन लेकर ऋषि के समीप उपस्थित हुआ और उस प्रसिद्ध ऋषि को अभिवादनपूर्वक बोला ॥

रैक्वेमानि षट्शतानि गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथोऽनु म एतां भगवो देवता-शाधि यां देवतामुपास्स इति ॥२॥

अर्थ—हे ऋषे रैक्व ! यह छःसौ गायें, यह माला और यह अश्वतरीरथ आप ग्रहण करें, पश्चात् बोला कि हे भगवन् ! जिस देवता की आप उपासना करते हैं उसी देवता का मेरे लिये उपदेश करें ॥

तमुह परः प्रत्युवाचाह हारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्त्विति । तदुह पुनरेव जानश्रुतिः पौत्रायणः सहस्रं गवां निष्कमश्वतरीरथं दुहितरं तदादाय प्रतिचक्रमे ॥३॥

अर्थ—वह प्रसिद्ध ऋषि जिनके समान दूसरा नहीं, उस जानश्रुति राजा से बोले कि अरे शूद्र मोती माणिक आदि के हार गौओं सहित तुम्हीं को शुभ हों, इसके अनन्तर वह प्रसिद्ध जानश्रुति पौत्रायण फिर एक हज़ार गौ, हीरा मोती के हार, अश्वतरीरथ और अपनी कन्या, यह सब धन लेकर ऋषि के निकट उपस्थित हुआ और:—

तꣳहाभ्युवाद, रैक्वेदꣳसहस्रं गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथ इयं जायाऽयंग्रामो यस्मिन्नास्सेऽन्वेव मा भगवः शाधीति ॥ ४ ॥

अर्थ—उस प्रसिद्ध ऋषि को अभिवादन करके राजा बोला कि हे महर्षि रैक्व ! यह हज़ार गाय, यह हार, यह अश्वतरीरथ, यह मेरी कन्या, यह ग्राम जिसमें आप वस रहे हैं, यह सब कृपया ग्रहण करें, अनन्तर बोला कि हे भगवन् ! निश्चयकरके मुझको शिक्षा दें अर्थात् अपने उपास्य देव का उपदेश करें ॥

सं०—अब ऋषि कथन करते हैं:—

तस्या ह मुखमुपोद्गृह्णन्नुवाचाऽऽजहारेमाः शूद्रानेनैव मुखेनाऽऽलापयिष्यथा इति । ते हैते रैक्वपर्णा नाम महावृषेषु यत्रास्मा उवास । तस्मै होवाच ॥ ५ ॥

अर्थ—राजा की उस कन्या के मुख को प्यार से देखते हुए वह प्रसिद्ध ऋषि बोले हे शूद्र ! यह जो भेट लाये हो सो अस्तु, परन्तु इस कन्या के मुख से ही आप मुझको भाषण करावेंगे, इसके अनन्तर महावृष देश में रैक्वपर्ण नाम से

प्रसिद्ध जो यह ग्राम है जहां आप रहते हैं वह ग्राम मैंने आपको दिये, पश्चात् उस राजा के प्रति ऋषि ने संवर्ग विद्या का उपदेश किया ॥

भाष्य—उपरोक्त श्लोकों का भाव यह है कि जब द्वारपाल द्वारा सयुग्वरैक ऋषि का भलेप्रकार पता लगगया तब जानश्रुति राजा छः सौ गायें, एक मणिमोतियों का हार और एक अश्वतरी=वेगवान् खच्चरों का रथ, यह सब धन लेकर ऋषि के निकट प्राप्त हुआ और विनयपूर्वक अभिवादन कर समीप बैठ बोला कि हे ऋषे ! यह सब धन आपकी भेट करता हूं कृपाकरके आप मुझको ब्रह्मविद्या का उपदेश करें अर्थात् जिस देवता की आप उपासना करते हैं उसी का मुझे भी उपदेश करें ताकि मेरा कल्याण हो, तब वह ऋषि राजा से बोले कि हे शूद्र ! यह जो कुछ भी धन तू मेरी भेट के लिये लाया है यह तेरे ही लिये शुभ हो अर्थात् इस धन के लालच से मैं तुझ अनधिकारी को ब्रह्मविद्या का उपदेश न करुंगा, यह सुनकर राजा घर लौट आये और उसी समय हज़ार गायें, एक मणिमय हार, एक अश्वतरीरथ और अपनी युवती कन्या को लेकर पुनः ऋषि की सेवा में उपस्थित हुए और बोले कि महाराज कृपाकरके इस सब धन को आप ग्रहण करें तथा अपनी कन्या का मुख उठा कर कहा कि इसको आप अपनी धर्मपत्नि बनावें और यह ग्राम जहां आप निवास करते हैं यह भी आपही के अर्पण करता हूं परन्तु कृपया मुझको ब्रह्मविद्या का उपदेश करें, तब ऋषि प्यार से उस कन्या के मुख का अवलोकन करते हुए बोले कि हे शूद्र ! तुम यह जितना धन लाये हो वह मेरे लिये कोई राग पैदा नहीं करसकता पर हां इस कन्या के मुख से तुम मुझको बुलवाते हो अर्थात् इनमें से कोई पदार्थ मुझको उपदेश देने के लिये बाधित नहीं करसकता परन्तु एक स्त्री रत्न ही ऐसा है जिसका निरादर नहीं होसक्ता, पश्चात् उस जानश्रुति राजा को उपदेश किया ॥

इति द्वितीयःखण्डः समाप्तः

अथ तृतीयःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब उक्त ऋषि जानश्रुति राजा को "संवर्ग" विद्या का उपदेश करते हुए प्रथम अधिदैवत उपासन कथन करते हैं:—

वायुर्वाव संवर्गो यदा वा अग्निरुद्वायति वायुमेवाप्येति यदा सूर्य्योऽस्तमेति वायुमेवाप्येति यदा चन्द्रोऽस्तमेति वायुमेवाप्येति ॥ १ ॥

अर्थ-निश्चयकरके गतिप्रद परमात्मा ही संवर्ग है, जब अग्नि उपशान्त होती है तब वायु में ही लीन होती है, जब सूर्य्य अस्त होता है तब वायु में ही लीन होता है, जब चन्द्र अस्त होता है तब वायु में ही लीन होता है ॥

यदाऽऽप उच्छुष्यन्ति वायुमेवापियन्ति ॥
वायुर्ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्त इत्याधिदैवतं ॥ २॥

अर्थ—जब जल सूखता है तब वायु में ही लीन होता है, निश्चयकरके वायु ही अग्नि, सूर्य्य, चन्द्रमा, जल, इन सबको जो अपने में लीन करता है यही अधिदैवतसंवर्गोपासना है ॥

सं०—अब अध्यात्म उपासन कथन करते हैं:—

अथाध्यात्मं प्राणो वाव संवर्गः स यदा स्वपिति
प्राणमेव वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणꣳश्रोत्रं
प्राणं मनः प्राणो ह्येवतान्सर्वान् संवृङ्क्त इति ॥३॥

अर्थ—अब उक्त उपासना के अनन्तर अध्यात्मसंवर्गोपासना कथन करते हैं, निश्चयकरके प्राणप्रद परमात्मा ही संवर्ग है, पुरुष जब सोता है तब वागेन्द्रिय प्राण को ही प्राप्त होता है, चक्षु प्राण को, श्रोत्र प्राण को, मन प्राण को प्राप्त होता है, क्योंकि प्राण ही वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन, इन सब इन्द्रियों को अपने में लीन करलेता है ॥

तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राणः प्राणेषु ॥ ४ ॥

अर्थ—निश्चयकरके पूर्वोक्त दो संवर्ग हैं जो देवों में वायु नाम से और प्राणों में प्राण नाम से प्रसिद्ध हैं ॥

भाष्य—सयुग्वारैक ऋषि ने जानश्रुति राजा को संवर्ग विद्या का इस प्रकार उपदेश किया कि हे राजन्! इस विद्या के दो भेद हैं, एक "अधिदैवतसंवर्गोपासना" और दूसरी "अध्यात्मसंवर्गोपासना" है, अधिदैवतसंवर्गोपासना को इस प्रकार समझे कि वायु नामक गतिप्रद परमात्मा ही संवर्ग है और अग्नि, सूर्य्य, चन्द्रमा तथा जल आदि देवताओं की पराकाष्ठा एकमात्र वही ब्रह्म है अर्थात् सब देवता उपशान्त काल में उसी गतिशील परमात्मा में लय होते हैं, इस भाव को पूर्ण प्रकार से समझने का नाम "अधिदैवतसंवर्गोपासना" और प्राण नामक प्राणप्रद परमात्मा ही संवर्ग है, वाक्, चक्षुः श्रोत्र और मन आदि इन्द्रियों की पराकाष्ठा एकमात्र ब्रह्म ही है अर्थात् जब पुरुष इस असार संसार से पयान करता है तब उसके सब इन्द्रिय उसी प्राणरूप परमात्मा में लय होजाते हैं, इस भाव को पूर्ण प्रकार से समझने का नाम "अध्यात्मसं-

"वर्गोपासना" है, और यह उक्त दो देवों में वायु और प्राण नाम से प्रसिद्ध है जो इस भाव को जानता है वह सिद्धि को प्राप्त होता है ॥

सं०—अब निम्नलिखित आख्यायिका द्वारा उक्त विषय को स्फुट करते हैं:-

अथ ह शौनकञ्च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी विभिक्षे । तस्मा उ ह न ददतुः ॥ ५ ॥

अर्थ—इसके अनन्तर प्रसिद्ध कपिगोत्र वाले शौनक और कक्षसेन का पुत्र अभिप्रतारी इन दोनों को जब भोजन परोसा जारहा था उस काल में एक ब्रह्मचारी ने आकर भिक्षा मांगी, उस ब्रह्मचारी के लिये निश्चय उन्होंने कुछ नहीं दिया ॥

सं०-अब ब्रह्मचारी कथन करता है:—

सहोवाच-महात्मनश्चतुरो देव एकः कः स जगार भुवनस्य गोपास्तं कापेय नाभिपश्यन्ति मर्त्या अभिप्रतारिन् बहुधा वसन्तं यस्मै वा एतदन्नं तस्मा एतन्न दत्तमिति ॥ ६ ॥

अर्थ-वह ब्रह्मचारी उक्त दोनों से बोला कि जो सम्पूर्ण विश्व का रक्षक एक आनन्दस्वरूप परमात्मा है वह बड़े आत्मा वाले चारों को खाता है, हे शौनक तथा हे अभिप्रतारिन् ! अज्ञानी पुरुष सर्वत्र बसते हुए उस देव को नहीं देखते, हे राजन् ! जिसके लिये निश्चयकरके यह अन्न है उसके लिये अन्न नहीं दिया ॥

भाष्य-सयुग्वारैक ऋषि के किये हुए उपदेश को इस आख्यायिका द्वारा इस प्रकार स्फुट किया है कि किसी स्थान पर जब शौनक और अभिप्रतारी नाम वाले महाशयों को भोजन परोसा जारहा था उसी काल में एक ब्रह्मचारी ने उनके निकट जाकर भिक्षा मांगी तो उन्होंने उस ब्रह्मचारी को कुछ नहीं दिया तब वह ब्रह्मचारी बोला कि सम्पूर्ण विश्व का रक्षक सुखस्वरूप जो परमात्मा है फिर कैसा है अग्नि, सूर्य्य, चन्द्र और जल इन चारो देवों तथा वाणी, चक्षु, श्रोत्र और मन इन चारो बड़े इन्द्रियों को खाता=अपने में लीन करलेता है, जैसाकि पीछे १-४ श्लोकों में वर्णन कर आये हैं, उसको आप लोग नहीं जानते, या यों कहो कि अज्ञानी लोग सर्वत्र बसते हुए उस आनन्दस्वरूप देव को नहीं देखते, हे राजन् ! जिसके लिये यह अन्न है उसके लिये आप लोगों ने अन्न नहीं दिया अर्थात् मैं ब्रह्मचारी जो परमात्मा की वेदरूप वाणी को सर्वत्र फैलाने के लिये अध्ययन कर रहा हूं उसका आपने निरादर किया, जो ईश्वरीयवाणी वेद है उसका रक्षक ब्रह्मचारी ही है, सो आप दोनों का मुझको भिक्षा न देना

परमपिता परमात्मा का हनन करना है और यह सम्पूर्ण अन्न उसी की कृपा से उपलब्ध होते हैं, अतएव मुझको अन्न न देना आपके लिये पाप है ॥

सं०–अब शौनक कापेय ब्रह्मचारी से कथन करते हैं :—

तदु ह शौनकःकापेयः प्रतिमन्वानः प्रत्येयायाऽऽत्मा देवानां जनिता प्रजानाꣳहिरण्यदꣳष्ट्रो बभसोऽनसूरिर्महान्तमस्य महिमानमाहुरनद्यमानो यदन्नमत्तीति वै वयं ब्रह्मचारिन्नेदमुपास्महे । दत्तास्मै भिक्षामिति ॥ ७ ॥

अर्थ–शौनक कापेय उस प्रसिद्ध ब्रह्मचारी के वाक्य को सुनकर पुनः २ मन में विचारते हुए उसके समीप आकर बोले कि हे ब्रह्मचारिन् ! वह परमात्मा सम्पूर्ण देवताओं का आत्मा, सूर्य्यादि देवों को उत्पन्न करने वाला और जो सम्पूर्ण प्रजाओं का भक्षक, चमकते हुए दांतों वाला विज्ञानी है, उसकी महान् विभूति को ब्रह्मवेत्ता लोग कथन करते हैं, जो स्वयं अभक्ष्यमान् रहता हुआ उसका भी भक्षण करता है जो अन्न नहीं है, यह उसकी महिमा है, हे ब्रह्मचारिन् ! निश्चय करके हम लोग उस परमात्मा की भलेप्रकार उपासना करते हैं, यह कहकर सेवकों को कहने लगे कि इस ब्रह्मचारी को भिक्षा दो ॥

सं०–अब ब्रह्मचारी अन्न की प्रशंसा करता है :—

तस्मा उ ह ददुस्ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सन्तस्तत्कृतं तस्मात्सर्वासु दिक्ष्वन्नमेव दशकृतꣳसैषा विराडन्नादि तयेदꣳ सर्वं दृष्टꣳसर्वमस्येदं दृष्टं भवत्यन्नादो भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥ ८ ॥

अर्थ–उस प्रसिद्ध ब्रह्मचारी को उन सेवकों ने भिक्षा दी तब वह अन्न की प्रशंसा करने लगा कि निश्चयकरके यह वागादि से अन्य पांच सूर्य्यादि, अग्न्यादि से अन्य पांच वागादि, सब मिलकर दश होते हैं, यह दश उस कृत के समान हैं इस कारण दिशाओं में अन्न ही दशकृत है, वह विराट् कहलाता है जो अन्नादी है, उस विराट्रूप अन्न द्वारा यह सब देखाजाता है, जो उक्त प्रकार से जानता है उस उपासक का यह सब दृष्ट होता है ॥

भाष्य– " य एवं वेद " पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ना तथा खण्ड की पूर्त्ति के लिये आया है, उक्त दोनों श्लोकों का भाव यह है कि जब उस ब्रह्मचारी ने शौनक कापेय और अभिप्रतारी दोनों से कहा कि आपने मुझको भिक्षा नहीं दी इससे ज्ञात होता है कि आप उस परमपिता परमात्मा के जानने वाले

नहीं, यह वाक्य सुनकर शौनक ब्रह्मचारी के निकट आकर बोला कि हे ब्रह्मचारिन्! हम लोग उस ब्रह्म को भले प्रकार जानते हैं अर्थात् वह ब्रह्म सम्पूर्ण पदार्थों का आत्मा है, या यों कहो कि उसी की सत्ता से संसार के सम्पूर्ण पदार्थ अपनी २ चेष्टा करते हैं, वह अजर, अमर, अभय और महान् है, इस प्रकार उस के महत्व का ब्रह्मविद् लोग वर्णन करते हैं, वह अभक्ष्य=न खाने योग्य अग्नि, सूर्य्य, चन्द्र तथा जलादि और वाणी, चक्षुः, श्रोत्र, मन आदि को भी भक्षण करता है अर्थात् उनका संहार कर्त्ता है, जैसाकि पूर्व श्लोक में वर्णन किया गया है, हे ब्रह्मचारिन्! हम उस परमपिता परमात्मा को भलेप्रकार जानते और उसकी उपासना करते हैं, इतना कथन करके शौनक ने अपने सेवकों को आज्ञा दी कि इस ब्रह्मचारी को भिक्षा दो सेवकों ने ब्रह्मचारी को भिक्षा दी और वह ब्रह्मचारी उस अन्न की प्रशंसा इस प्रकार करने लगा कि अग्नि, सूर्य्य, चन्द्र, जल, वायु यह पांच और वाग्, चक्षुः श्रोत्र, मन प्राण यह पांच, ये सब मिलकर दश होते हैं, यह उस कृत के समान हैं, अर्थात् जिस प्रकार कृत सर्वोपरि होता है इसी प्रकार अग्नि आदि चार वागादि चारों से प्राण श्रेष्ठ है, जो उक्त भाव को पूर्ण प्रकार से जानता है वह सर्वद्रष्टा होता है ॥

इति तृतीयःखण्डः समाप्तः

अथ चतुर्थःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब गुण कर्म स्वभावानुकूल ब्रह्मविद्या में अधिकार कथन करने के लिये सत्यकाम जावाल की आख्यायिका वर्णन करते हैं:—

सत्यकामो ह जाबालो जबालां मातरमामन्त्रयाञ्चक्रे ब्रह्मचर्यं भवति विवित्स्यामि। किं गोत्रोन्वहमस्मीति ॥१॥

अर्थ—प्रसिद्ध जवाला के पुत्र सत्यकाम ने माता जवाला से जिज्ञासापूर्वक पूछा कि हे माता! मैं ब्रह्मचर्य्य व्रत करूंगा, सो मैं किस गोत्र वाला हूं, यह कथन करें ॥

सं०—अब जवाला उत्तर देती है:—

साहैनमुवाच-नाहमेतद्वेद तात यद्गोत्रस्त्वमसि। बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे। साऽहमेतन्नवेद यद्गोत्रस्त्वमसि। जबाला तु नामाऽहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसि। स सत्यकाम एव जाबालो ब्रवीथा इति ॥२॥

अर्थ—वह प्रसिद्ध जबाला अपने पुत्र सत्यकाम से बोली हे प्रिय पुत्र ! जिस गोत्र का तू है मैं उसको नहीं जानती, क्योंकि यौवन अवस्था में बहुत सेवा करती हुई मुझ सेविका ने तुझको प्राप्त किया, वह मैं सेविका यह नहीं जानती कि जिस गोत्र वाला तू है, हां इतना जानती हूं कि मेरा नाम जबाला है और तेरा नाम सत्यकाम है, सो तुझसे ऋषि पूछें तो यह कथन करना कि मैं सत्यकाम जाबाल हूं ॥

सं०—अब सत्यकाम का आचार्य्य के पास जाना कथन करते हैं:—

स ह हारिद्रुमतं गौतममेत्योवाच ब्रह्मचर्य्यं भगवति वत्स्याम्युपेयां भगवन्तमिति ॥ ३ ॥

अर्थ—वह सत्यकाम जाबाल गौतम गोत्रोत्पन्न हारिद्रुमत ऋषि के समीप जाकर बोला कि मैं आपके समीप ब्रह्मचर्य्य करूंगा, इसलिये हे ऐश्वर्य्य सम्पन्न ! आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूं ॥

सं०—अब ऋषि " सत्यकाम जाबाल " से प्रश्न करते हैं:—

तꣳहोवाच-किं गोत्रो नु सोम्यासीति । स होवाच-नाहमेतद्वेद भो यद्गोत्रोऽहमस्म्यपृच्छं मातरꣳसामा प्रत्यब्रवीद्बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे साहमेतन्नवेद यद्गोत्रस्त्वमसि । जबाला तु नामाऽहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसीति सोऽहꣳसत्यकामोजाबालोऽस्मि भो इति ॥४॥

अर्थ—उस सत्यकाम जाबाल से ऋषि बोले, हे ब्रह्मचारिन् ! तेरा गोत्र क्या है ? " नु " वितर्कार्थ में आया है, इसके अनन्तर सत्यकाम बोला हे भगवन् ! जो मेरा गोत्र है उसको मैं नहीं जानता, क्योंकि माता के पूछने पर उसने मुझसे कहा कि यौवनावस्था में बहुत सेवा करती हुई मुझ सेविका ने तुझको प्राप्त किया, सो मैं यह नहीं जानती जिस गोत्र का तू है, मेरा नाम जबाला और तेरा नाम सत्यकाम है, हे भगवन् ! सो मैं सत्यकाम जाबाल हूँ, " तू " शब्द निर्धारणार्थ आया है ॥

सं०—अब ऋषि कथन करते हैं:—

तꣳहोवाच—नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति । समिधꣳसोम्याऽऽहरोप त्वा नेष्ये । न सत्यादगा इति । तमुपनीय कृशानामबलानां चतुःशता गा निराकृत्योवाचेमाः सोम्यानुसंव्रजेति ।

ता अभिप्रस्थापयन्नुवाच नासहस्रेणाऽऽवर्तयेति । स ह वर्ष-गणं प्रोवास । ता यदा सहस्रꣳसम्पेदुः ॥ ५ ॥

अर्थ—उस सत्यकाम से ऋषि बोले कि इस बात को ब्राह्मण से भिन्न कहने को समर्थ नहीं होसक्ता, हे ब्रह्मचारिन् । होमसामग्री ले आ तुझको उपनीत करूंगा, क्योंकि तू सत्य से गिरा नहीं, उस सत्यकाम का उपनयन कर क्षीण दुर्बल चारसौ गौ पृथक् करके बोले हे सोम्य ! इन गौओं को चराने के लिये ले जाओ तब उन गौओं को वन को लेजाता हुआ बोला कि हजार गौओं के बिना नहीं आऊंगा, वह प्रसिद्ध सत्यकाम कईवर्ष वन में रहा, और जब वह गौयें हज़ार होगईं। (इसका आगे के श्लोक से सम्बन्ध है):—

भाष्य—सत्यकाम जाबाल की इस आख्यायिका का तात्पर्य्य यह है कि जब सत्यकाम वेदाध्ययन के योग्य हुआ तो उसने अपनी माता जबाला से कहा कि हे पूज्य मातः! मैं ब्रह्मचर्य्यपूर्वक अध्ययन करने के लिये आचार्य्यकुल में वास करना चाहता हूं सो तू यह बतला कि मेरा गोत्र क्या है ? तब माता ने उत्तर दिया कि हे प्रिय पुत्र ! मैं तेरा गोत्र नहीं जानती, क्योंकि युवावस्था में परिचारिणी रहकर अपना निर्वाह करती रही हूं और इसी अन्तर में तू मेरा पुत्र उत्पन्न हुआ, इससे मुझको तेरा गोत्र याद नहीं, तू ऋषि के समीप जा, मेरा नाम जबाला प्रसिद्ध है और तेरा नाम सत्यकाम है, सो ऋषि के पूछने पर तू कहना कि मैं सत्यकाम जाबाल हूं, वह सत्यकाम जाबाल गौतम गोत्रोत्पन्न हारिद्रुमान ऋषि के पुत्र हारिद्रुमत आचार्य्य के निकट जाकर बोला कि हे भगवन्! मैं ब्रह्मचर्य्यपूर्वक विद्याध्ययन करने के लिये आपके समीप आया हूं सो कृपया मेरा उपनयन कराके अध्ययन कराओ, तब ऋषि ने पूछा कि हे सोम्य! तेरा गोत्र क्या है ? सत्यकाम ने उत्तर दिया कि मैं गोत्र नहीं जानता, क्योंकि मैंने अपनी माता जबाला से गोत्र पूछा था सो उसने उत्तर दिया कि मैंने तुमको सेविकावस्था में लाभ किया है इससे मुझको तेरे गोत्र का ज्ञान नहीं, हे भगवन् ! मेरी माता का नाम जबाला और मेरा नाम सत्यकाम है अर्थात् मैं सत्यकामजाबाल हूं, यह सारा वृत्तान्त सुनकर ऋषि बोले कि वास्तव में तू ब्राह्मण है, क्योंकि ब्राह्मण से भिन्न इस प्रकार सत्य कहने को कदापि समर्थ नहीं होसक्ता, हे सोम्य ! तुम हवन सामग्री लाओ मैं तुम्हारा उपनयन कराऊंगा, क्योंकि तुम सत्य से पृथक् नहीं हुए हो ।

इस कथा से लोग कई प्रकार के भाव निकालते हैं, कोई कहता है कि प्रचारिणी के अर्थ अनेक पति वाली स्त्री के हैं, कोई कहता है कि इसके अर्थ सेविका के अवश्य हैं पर इससे यह आवश्यक नहीं कि उसका कोई एक पति न हो, जिन लोगों के विचार में प्रचारिणी के अर्थ बहुत लोगों की सेवा से पुत्र लाभ करने के हैं उनके मत में गोत्र याद न रहने का कारण यही है कि उसका कोई नियत पति न था, इसलिये वह गोत्र न बतला सकी, यहां यह स्मरण रहे कि

गोत्र याद न रहने का कारण यही नहीं होसक्ता, गोत्र याद न रहने का कारण यदि यही होता तो अबतक बहुत स्त्रियें ऐसी हैं जिनको अपना गोत्र याद नहीं तो क्या उनका कोई एक नियत पति नहीं, स्त्रियें ही क्या बहुत मनुष्य ऐसे हैं जिनको अपना गोत्र याद नहीं, क्योंकि गोत्र के अर्थ उस कुल में जो कोई एक बड़ा पुरुष हुआ हो उसके हैं, और यह बात एक इतिहास से सम्बन्ध रखती है, इसलिये सर्वसाधारण को याद रहना कठिन है. हमारे विचार में यही कारण गोत्र याद न रहने का यहां भी है, रही यह बात कि सत्यकाम ने जो गोत्र याद न रहने का यह कारण बतलाया कि मेरी माता दासीकर्म में लगी रही इसलिये उसको गोत्र याद नहीं, इससे ऋषि को आश्चर्य्य क्यों हुआ और उसने सत्यकाम को गूढ़ सत्यवादी कैसे समझा? इसका उत्तर यह है कि सत्यकाम ने यह बात आकर सत्य बतलाई कि मेरी माता दासी का काम करती रही है और दासकर्म करना उस समय शूद्र का काम था, इस गूढ़ भेद के बतलाने पर कि मैं एक शूद्रा का लड़का हूं ऋषि ने इस सचाई द्वारा उसको गुण कर्म स्वभाव से ब्राह्मण समझा, इस प्रकार कथा का भाव यह प्रतीत होता है कि जो स्त्रियें शिक्षा नहीं पातीं अथवा दासकर्म में नियुक्त रहती हैं वह अपने गोत्र को याद नहीं रखसक्तीं, इस कारण जबाला गोत्र नहीं बतला सकी, यदि यह कल्पना कर भी लीजाय कि वह ऐसी स्त्री थी जिसका कोई विवाहित पति न था किन्तु बहुतों की सेवा में रहने से उसको पुत्र उत्पन्न हुआ इस कारण वह गोत्र याद न रखसकी, यदि यह कारण भी मानाजाय तब भी ऋषि ने गुण कर्म स्वभाव से ही सत्यकाम को ब्राह्मण निश्चित किया, क्योंकि ऋषि यह कैसे जानसक्ते थे कि यह अमुक ब्राह्मण का पुत्र है।

और बात यह है कि जो लोग सत्यकाम को जन्म से ब्राह्मण मानते हैं उनके कथन में दोष यह है कि यदि अनुमान द्वारा वीर्य्य से सत्यकाम को ब्राह्मण मानागया तो क्षेत्र से भी सत्यकाम का ब्राह्मण होना आवश्यक था पर उसकी माता ने यह कहीं नहीं बतलाया कि मैं ब्राह्मणी होकर सेविका रही किन्तु यही बतलाया कि मैं दासकर्म में नियुक्त रही, अधिक क्या इस कथा से स्पष्ट है कि ऋषि ने सत्यकाम की केवल गुण कर्म स्वभाव से परीक्षा की कि यह ब्राह्मण है॥

इति चतुर्थःखण्डः समाप्तः

अथ पञ्चमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब सत्यकाम का वन से आचार्य्यकुल को आना कथन करते हैं:—

अथ हैनमृषभोऽभ्युवाद—सत्यकाम इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव। प्राप्ताः सोम्य सहस्रꣳस्मः प्रापय न आचार्य्यकुलम् ॥ १ ॥

अर्थ-इसके अनन्तर वृषभ नामा ऋषि इस सत्यकाम से बोले कि हे सत्य काम ! तब सत्यकाम बोला हे भगवन् ! क्या आज्ञा है, ऋषि बोले हे सोम्य एकसहस्र गाय प्राप्त होगई, अब हमारे सहित इन सब को आचार्य्यकुल प्राप्त कराओ ॥

सं०-अब वह वृषभ ऋषि सत्यकाम को उपदेश करते हैं :—

ब्रह्मणश्च ते पादं ब्रवाणीति। ब्रवीतु मे भगवानिति। तस्मै होवाच—प्राची दिक्कला प्रतीची दिक्कला दक्षिणा दिक्कलोदीची दिक्कलैषवै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणः प्रकाशवान्नाम ॥ २ ॥

अर्थ-हे सोम्य ! तुमको परमात्मा की महिमारूप एक पाद का उपदेश करूं, यह कथन सुनकर सत्यकाम बोला हे ऐश्वर्य्यसम्पन्न ऋषे ! मुझको उपदेश करें, यह सुनकर ऋषि बोले कि हे सौम्य! ब्रह्म के पाद की एक कला पूर्वदिशा, द्वितीय कला पश्चिम दिशा, तृतीय कला दक्षिण दिशा, चतुर्थ कला उत्तर दिशा है, हे सोम्य! निश्चयकरके ब्रह्म का यह चतुष्कल पाद प्रकाशवान् नाम से प्रसिद्ध है ॥

सं०—अब उक्त ज्ञान का फल कथन करते हैं:—

स य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते। प्रकाशवानस्मिंल्लोके भवति। प्रकाशवतोह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते ॥ ३ ॥

अर्थ—वह पुरुष जो ब्रह्म के इस चतुष्कल पाद को उक्त प्रकार से जानता हुआ प्रकाशवान् मानकर उपासना करता है वह इस लोक में प्रकाशवान् होता है और निश्चयकरके प्रकाशवान् लोकों को जय करता है ॥

भाष्य—" य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है कि अवश्य ऐसा ही होता है, उक्त श्लोकों का भाव यह है कि जब सत्यकाम के पास एकसहस्र गाय होगईं तो " ऋषभ " नामक किसी दिव्यशक्ति वाले देवविशेष ने सत्यकाम से आकर कहा कि हे सत्यकाम ! तुम अब इन गौओं को आचार्य्यकुल को लेजाओ और मैं तुमको चतुष्कल ब्रह्म का उपदेश करता हूं जिसकी तुम्हें उपासना करनी चाहिये, तब ऋषभ ने पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण इन

चार कलाओं को ब्रह्म का एकपाद निरूपण किया और इस पाद का नाम "प्रकाशवान्" रखा जिसका तात्पर्य्य यह है कि ऋषभ ने विराट्रूप से ब्रह्म का वर्णन सत्यकाम के प्रति किया अर्थात् ब्रह्म वह है जो पूर्वोत्तरादि सब दिशाओं में व्यापक है जिसका देश काल तथा वस्तुकृत परिच्छेद नहीं होसक्ता, या यों कहो कि यह नहीं कहा जासक्ता कि अमुक दिशा में है और अमुक दिशा में नहीं, न उसकी व्यापकता को कोई पदार्थ रोकसका है, इसलिये वस्तुकृत परिच्छेद नहीं, और कालकृत परिच्छेद इसलिये नहीं कि वह भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान तीनों कालों में एकरस रहता है, इस विषय को बोधन करने के लिये पूर्वादि सब दिशाओं को ब्रह्म का पादस्थानीय कथन किया है. और इससे ब्रह्म के ज्ञान का प्रकाश होता है, इसलिये इसको प्रकाशवान् नाम से वर्णन किया, इसके अनन्तर ऋषभ ने कहा कि आगे दूसरे पाद का उपदेश तुमको "अग्नि" नामक ऋषि करेंगे, इसी प्रकार मार्ग में "हंस" तथा "मद्गू" नामक ऋषियों ने सत्यकाम को ब्रह्मविद्या का उपदेश किया।

कई एक लोग जो ऋषभादि को पशु, पक्षी आदि पदार्थ मानते हैं उनके मत में दोष यह है कि प्रथम तो पशु पक्षी आदिक उपदेश ही नहीं करसकते, यदि उनका उपदेश करना मान भी लियाजाय तो वह उपदेश ऐसा भ्रान्तिरहित कब होसकता है जिसको आचार्य्य ने यथावत् ठीक माना, इससे स्पष्ट है कि ऋषभादि ऋषियों के नाम थे कोई पशु, पक्षी अथवा अग्न्यादि जड़ पदार्थ न थे, और जो सत्यकाम ने आकर आचार्य्य से यह कथन किया है कि मुझे जो उपदेश मिला वह किसी मनुष्य का नहीं, इसका तात्पर्य्य यह है कि दिव्यशक्ति वाले होने के कारण ऋषभादि को मनुष्य नहीं कहा जासकता, और इसी अभिप्राय से सत्यकाम ने उनको मनुष्यों से भिन्न देवविशेष वर्णन किया है॥

इति पञ्चमःखण्डः समाप्तः

अथ षष्ठःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब "अग्नि" का द्वितीयपाद सम्बन्धी उपदेश कथन करते हैं:—

अग्निष्टे पादं वक्तेति। स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयाञ्चकार। ता यत्राभि सायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश॥ १॥

अर्थ–तुमको ब्रह्म के द्वितीय पाद का उपदेश अग्नि करेंगे, वह प्रसिद्ध सत्यकाम प्रातःकाल गौओं को लेकर आचार्य्यकुल की ओर चला, उसको जहां

सन्ध्याकाल हुआ वहां गौओं को ठहराकर अग्नि को प्रज्वलित करके उसमें समिधाओं का आधान कर अग्नि के पीछे पूर्वाभिमुख बैठ गया ॥

तमग्निरभ्युवाद–सत्यकाम इति । भगव इति प्रतिशुश्राव ॥२॥

अर्थ—अग्नि उस सत्यकाम को हे सत्यकाम ! कहकर बोले, अग्नि के इस प्रकार कथन को सुन सत्यकाम ने कहा हे भगवन् ! क्या आज्ञा है, इस प्रकार प्रत्युत्तर दिया ॥

सं०—अब "अग्नि" सत्यकाम को उपदेश करते हैं:—

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति । तस्मै होवाच–पृथिवी कलाऽन्तरिक्षं कला द्यौः कला समुद्रः कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणोऽनन्तवान्नाम ॥ ३ ॥

अर्थ–हे सोम्य ! ब्रह्म के द्वितीय पाद का तुझको उपदेश करूं, सत्यकाम ने कहा कि हे ऐश्वर्य्यसम्पन्न आपे ! मुझको उपदेश करें, उस प्रसिद्ध सत्यकाम को अग्नि बोले कि उस ब्रह्म की प्रथम कला पृथिवी, द्वितीय कला अन्तरिक्ष, तृतीय कला द्युलोक और चतुर्थ कला समुद्र है. हे सोम्य ! निश्चयकरके ब्रह्म का यह चार कला युक्त पाद अनन्तवान् नाम वाला है ॥

सं०-अब उक्त ज्ञान का फल कथन करते हैं:—

स य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्तेऽनन्तवानस्मिंल्लोके भवत्यनन्तवतो ह लोकाञ्जयति । य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्ते ॥ ४ ॥

अर्थ– वह पुरुष जो ब्रह्म के इस चार कला वाले पाद को उक्त प्रकार से जानता हुआ अनन्तवान् समझकर उपासना करता है वह इस लोक में अनन्तवान् होता है, और निश्चयकरके अनन्तवान् लोकों का जय करता है ॥

भाष्य—" य एतमेवंविद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्ते " पाठ दोबार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, महर्षि ऋषभ ने सत्यकाम से कहा कि हे सत्यकाम ! मैंने तुम्हें ब्रह्म के प्रथम पाद का उपदेश किया, अब द्वितीय पाद का उपदेश तुमको "अग्नि" नामा ऋषि करेंगे, इसके अनन्तर दूसरे दिन प्रातःकाल ही गौओं को लेकर आचार्य्यकुल की ओर प्रस्थान किया और जहां सन्ध्याकाल हुआ वहीं गौओं को ठहराकर सन्ध्या

अग्निहोत्र करके पूर्वाभिमुख बैठगये, इसके अनन्तर महर्षि अग्नि हे सत्यकाम! कहकर दूर से ही पुकारने लगे, अग्नि के इस वाक्य को सुनकर सत्यकाम ने कहा हे भगवन्! क्या आज्ञा है मैं यहां उपस्थित हूं, इसके अनन्तर अग्नि ने कहा कि यदि आप ध्यानपूर्वक श्रवण करें तो मैं आपको ब्रह्म के द्वितीय पाद का उपदेश करूं, सत्यकाम ने कहा कृपया मुझको उपदेश करें तब अग्नि ने उपदेश किया कि ब्रह्म की एक कला पृथिवी, द्वितीय अन्तरिक्ष, तृतीय द्युलोक और चतुर्थ कला समुद्र है, यह चतुष्कल ब्रह्म का द्वितीय पाद है जिसका नाम अनन्तवान् है, जो पुरुष इस पाद को भलेप्रकार जानते हैं या यों कहो कि जो उक्त लोक लोकान्तरों के तत्व को विचारते हैं वह परमात्मा की अनन्त महिमा का अनुभव करते हुए अनन्तवान् लोकों के ज्ञाता होते हैं ॥

इति षष्ठःखण्डः समाप्तः

अथ सप्तमःखण्डः प्रारभ्यते



सं०-अब महर्षि "हंस" ब्रह्म के तृतीय पाद का कथन करते हैंः-

हꣳसस्ते पादं वक्तेति । स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयाञ्चकार । ता यत्राभिसायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधायपश्चादग्नेःप्राङुपोपविवेश ॥१॥

अर्थ-हंस तुझको ब्रह्म के तृतीय पाद का उपदेश करेंगे, यह कहकर अग्नि वहां से चले गये, वह प्रसिद्ध सत्यकाम दूसरे दिन प्रातःकाल गौओं को लेकर आचार्य्यकुल की ओर चले, उनको जहां सन्ध्याकाल हुआ वहीं पर गौओं को ठहरा अग्नि को प्रदीप्त करके समिधाओं का आधान कर अग्नि के पीछे पूर्वाभिमुख बैठगये ॥

तꣳहꣳस उपनिपत्याभ्युवाद-सत्यकाम इति । भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥२॥

अर्थ-वह प्रसिद्ध हंस समीप आकर हे सत्यकाम! इस प्रकार उसको पुकारा, तब सत्यकाम ने उत्तर दिया कि हे भगवन्! क्या आज्ञा है ॥

सं०—अब महर्षि हंस कथन करते हैंः—

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति । ब्रवीतु मे भगवानिति । तस्मै होवाचाग्निः कला सूर्य्यः कला चन्द्रः कला विद्युत्कलैष वै सोम्यं चतुष्कलः पादो ब्रह्मणो ज्योतिष्मान्नाम ॥३॥

अर्थ—हे सोम्य ! यदि आप ध्यानपूर्वक सुनें तो आपको ब्रह्म के तृतीय पाद का उपदेश करूं, तब सत्यकाम बोले हे ऐश्वर्य्यसम्पन्न ऋषे ! मेरे लिये उपदेश करें, फिर उसके लिये प्रसिद्ध हंस बोले कि ब्रह्म के तृतीय पाद की प्रथम कला अग्नि, दूसरी कला सूर्य्य, तीसरी कला चन्द्रमा और चौथी कला विद्युत् है, हे सोम्य ! निश्चयकरके ब्रह्म का यह चतुष्कल पाद ज्योतिष्मान् नाम वाला है ॥

सं०—अब उक्त पाद के ज्ञाता को फल कथन करते हैं:—

स य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते ज्योतिष्मानस्मिंल्लोके भवति ज्योतिष्मतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाꣳ श्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते ॥४॥

अर्थ—वह पुरुष जो ब्रह्म के इस चतुष्कल पाद को उक्तप्रकार से जानता हुआ ज्योतिष्मान् समझकर विचारता है वह इस लोक में तेजस्वी होता है और तेजवान् लोकों का जय करता है ॥

भाष्य—"य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, महर्षि हंस ने सत्यकाम को ब्रह्म का ज्योतिष्मान् नामक तृतीय पाद बतलाया जिसकी अग्नि, सूर्य्य, चन्द्रमा और विद्युत्, यह चार कला हैं, सो हे सोम्य ! जो पुरुष इस चतुष्कल पाद को जानता है वह तेजस्वी और तेजवान् लोकों का स्वामी होता है, (शेषपूर्ववत्) ॥

इति सप्तमः खण्डः समाप्तः

अथ अष्टमः खण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब महर्षि "मद्गु" चतुर्थ पाद का कथन करते हैं:—

मद्गुष्टे पादं वक्तेति । स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयाञ्चकार । ता यत्राभिसायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश ॥१॥

अर्थ—तुझको ब्रह्म के चतुर्थ पाद का उपदेश मद्गु ऋषि करेंगे, वह प्रसिद्ध सत्यकाम दूसरे दिन प्रातःकाल गौओं को लेकर आचार्य्यकुल की

ओर चला, उन्होंने जहां सन्ध्या को प्राप्त किया वहीं गौओं को ठहराकर अग्नि को प्रज्वलित करके समिधाओं का आधान कर अग्नि के पीछे पूर्वाभिमुख बैठगया ॥

तं मद्गुरुपनिपत्याभ्युवाद—सत्यकाम इति ।
भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ २ ॥

अर्थ—वह मद्गु ऋषि समीप आकर हे सत्यकाम ! इस प्रकार पुकारने लगे तब प्रसिद्ध सत्यकाम ने उत्तर दिया कि हे भगवन् ! क्या आज्ञा है ॥

सं०—अब महर्षि मद्गु कथन करते हैं:—

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति। ब्रवीतु मे भगवानिति । तस्मै होवाच—प्राणः कला चक्षुः कला श्रोत्रं कला मनः कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मण आयतनवान्नाम ॥ ३ ॥

अर्थ—हे सोम्य ! ब्रह्म के चतुर्थ पाद का तुम्हें उपदेश करूं, तब सत्यकाम ने कहा कि हे ऐश्वर्य्य सम्पन्न ऋषे ! मुझको उपदेश करें, निश्चयकरके उसको ऋषि बोले कि प्रथम कला प्राण, दूसरी कला चक्षु, तीसरी कला श्रोत्र और चौथी कला मन है, हे सोम्य ! निश्चयकरके ब्रह्म का यह चतुष्कलपाद आयतनवान् नाम वाला है ॥

सं०—अब उक्त पाद के ज्ञान का फल कथन करते हैं:—

स य एतमेवं विद्वा ँ श्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्त आयतनवानस्मिंल्लोके भवत्यायतनवतोह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वा ँ श्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्ते ॥ ४ ॥

अर्थ—वह पुरुष जो ब्रह्म के इस चतुष्कल पाद को उक्त प्रकार से जानता हुआ आयतनवान् समझकर विचारता है वह इस लोक में आयतनवान् होता और निश्चकरके आयतनवान् लोकों का जय करता है ॥

भाष्य—"य एतमेवं विद्वा ँ श्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्ते" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, महर्षि "मद्गु" ने सत्यकाम को ब्रह्म का आयतनवान् नाम चतुर्थपाद बतलाया जिसकी प्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन यह चार कला हैं, सो हे सोम्य ! जो पुरुष

इस चतुष्कल पाद को जानता है वह इस लोक में आयतनवान्=घर वाला अर्थात् ऐश्वर्य्यसम्पन्न होकर सब का स्वामी होता और अन्ततः मुक्ति को प्राप्त करता है, इस प्रकार मार्ग में षोडशकल ब्रह्म का उपदेश सत्यकाम जाबाल को इन चार ऋषियों ने किया, और वह उपदेश श्रवण कर आचार्य्यकुल में पहुंचगये ॥

इति अष्टमःखण्डः समाप्तः

अथ नवमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब सत्यकाम आचार्य्यकुल को प्राप्त होकर मार्ग सम्बन्धी वृत्तान्त आचार्य्य के प्रति कथन करते हैं :—

प्रापहाचार्य्यकुलम् । तमाचार्य्योऽभ्युवाद-सत्य-काम इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ १ ॥

अर्थ—प्रसिद्ध सत्यकाम आचार्य्यकुल को प्राप्त होगये तब आचार्य्य हे सत्यकाम ! कहकर उसको पुकारने लगे, सत्यकाम ने नम्रतापूर्वक हे भगवन् ! क्या आज्ञा है, इस प्रकार प्रत्युत्तर दिया ॥

ब्रह्मविदिव वै सोम्य भासि को नु त्वाऽनुशशा-सेत्यन्येमनुष्येभ्य इति ह प्रतिजज्ञे । भगवांस्त्वेव मे कामे ब्रूयात् ॥ २ ॥

अर्थ—हे ब्रह्मचारिन् ! निश्चयकरके तुम ब्रह्मवित् पुरुष की न्याई सुशोभित होरहे हो, किसने तुमको उपदेश किया है " नु " वितर्कार्थ में आया है, यह सुन सत्यकाम ने प्रत्युत्तर दिया कि मनुष्य से अन्य=ऋषियों ने उपदेश किया है परन्तु हे ऐश्वर्य्यसम्पन्न ! निश्चयकरके आप मुझको अपनी इच्छानुसार उपदेश करें ॥

श्रुत ँ ह्येव मे भगवद्दृशेभ्य आचार्य्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयतीति । तस्मै हैतदेवोवा-चात्र ह न किञ्चन वीयायेति वीयायेति ॥ ३ ॥

अर्थ—हे भगवन् ! आपके समान आचार्य्यों से मैंने निश्चयपूर्वक सुना है कि आचार्य्य से ही ज्ञात हुई विद्या उत्तम मार्ग को प्राप्त कराती है इस हेतु आप मुझको ब्रह्मविद्या का उपदेश करें, तब उसको प्रसिद्ध आचार्य्य ने ब्रह्मविद्या विषयक ही उपदेश किया और कहा कि इस विद्या में कुछ न्यूनता नहीं अर्थात् सब प्रकार से पूर्ण है ॥

भाष्य-" वीयायेति " पाठ दोवार उक्त अर्थ की पुष्टि तथा खण्ड की समाप्ति के लिये आया है, (शेष सब अर्थ स्पष्ट हैं) ॥

इति नवमःखण्डः समाप्तः

अथ दशमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब एक आख्यायिका द्वारा अनधिकारी को समावर्तन संस्कार का निषेध कथन करते हैं :—

उपकोसलो ह वै कामलायनः सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्य्यमुवास । तस्य ह द्वादश वर्षाण्यग्नीन् परिचचार । स ह स्मान्यानन्तेवासिनः समावर्त- यꣳस्तꣳह स्मैव न समावर्तयति ॥ १ ॥

अर्थ-प्रसिद्ध कमलऋषि के पुत्र उपकोसल ने निश्चयकरके सत्यकामजाबाल के निकट ब्रह्मचर्य्यव्रत और विविध यज्ञों का अनुष्ठान किया, प्रसिद्ध है कि उस उपकोसल के बारहवर्ष व्यतीत होगये उस आचार्य्य ने और ब्रह्मचारियों का समावर्त्तन कराया परन्तु उस प्रसिद्ध उपकोसल का ही समावर्तन संस्कार नहीं कराया ॥

भाष्य-प्रसिद्ध कमल ऋषि के पुत्र उपकोसल ने सत्यकाम जाबाल के निकट ब्रह्मचर्य्यपूर्वक अध्ययन, सन्ध्योपासन, सत्य तथा गुरुपूजा आदि विविध यज्ञों का अनुष्ठान करते हुए १२ वर्ष व्यतीत किये, इसके अनन्तर आचार्य्य ने इसके सहपाठियों का तो समावर्त्तन कराया परन्तु योग्य होने पर भी इसका संस्कार नहीं कराया ॥

सं०-अब आचार्य्यपत्नी अपने पति से कथन करती है :—

तं जायोवाच-तप्तो ब्रह्मचारी कुशलमग्नीन् परिच- चारीन्मा त्वाग्नयः परिप्रवोचन् प्रब्रूह्यस्मा इति । तस्मै हाप्रोच्यैव प्रवासाञ्चक्रे ॥ २ ॥

अर्थ-आचार्य्यपत्नी आचार्य्य से बोली कि यह उपकोसल नामा ब्रह्मचारी साधनसम्पन्न है, क्योंकि इसने सब प्रकार से यज्ञों का अनुष्ठान किया है, हे स्वामिन् ! सत्यादि व्रत आप मत त्यागें, इस ब्रह्मचारी को उपदेश करके समावर्तन करें, परन्तु वह उस ब्रह्मचारी को उपदेश किये बिना ही बाहर चले गये ॥

सं०-अब ऋषिपत्नी ब्रह्मचारी से कथन करती हैः—

स ह व्याधिनाऽनशितुं दध्रे । तमाचार्य्यजायोवाच ब्रह्मचारिन्नशान किन्नु नाश्नासीति । स होवाच-बहव इमेऽस्मिन्पुरुषे कामा नानात्यया व्याधिभिः प्रतिपूर्णोऽस्मि नाशिष्यामीति ॥ ३ ॥

अर्थ—उस प्रसिद्ध ब्रह्मचारी ने मानसिक व्याधि के कारण खाना छोड़दिया तब उस ब्रह्मचारी को आचार्य्यपत्नी बोली हे ब्रह्मचारिन्! आप भोजन करें, आप भोजन क्यों नहीं करते, प्रसिद्ध ब्रह्मचारी बोला इस पुरुष में अनेक मार्गों वाली बहुत प्रकार की कामनायें विद्यमान हैं उन व्याधियों से मैं परिपूर्ण हूं, इसलिये मैं भोजन नहीं करूंगा ॥

सं०—अब उपचार से अग्नियों का ब्रह्मचारी के प्रति उपदेश कथन करते हैंः-

अथ हाग्नयः समुदिरे-तप्तो ब्रह्मचारी कुशलं नः पर्य्यचारीद्धन्तास्मै प्रब्रवामेति तस्मै होचुः ॥ ४ ॥

अर्थ-इसके अनन्तर वह प्रसिद्ध अग्नियें परस्पर कहने लगीं कि इस ब्रह्मचारी ने तपश्चरण करते हुए बड़ी योग्यता से हमारी सेवा की है यदि सब की सम्मति होतो इसको हम सब उपदेश करें तब उन्होंने उस ब्रह्मचारी को उपदेश किया ॥

सं०-अब उक्त अग्नियों का उपदेश करना कथन करते हैंः—

प्राणो ब्रह्म । कं ब्रह्म । खं ब्रह्मेति। स होवाच विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म । कञ्च तु खञ्च न विजानामीति। ते होचुर्यद्वावकं तदेव खम् । यदेव खं तदेव कमिति । प्राणञ्चहास्मै तदाकाशञ्चोचुः ॥ ५ ॥

अर्थ-ब्रह्म प्राणस्वरूप, सुखस्वरूप और आकाशवत् सर्वत्र व्यापक है, इस उपदेशानन्तर वह प्रसिद्ध ब्रह्मचारी बोला कि हे अग्नयो !, मैं जानता हूं कि प्राण ब्रह्म है परन्तु "कं" और "खं" के अर्थ को नहीं जानता तब वह प्रसिद्ध अग्नियें बोलीं कि जो कं है वही खं है, जो खं है वही कं है, उस ब्रह्मचारी को प्राण और आकाश विषयक कथन किया ॥

भाष्य-अग्नियों ने उस ब्रह्मचारी को यह उपदेश किया कि प्राण ब्रह्म है, कं ब्रह्म है और खं ब्रह्म है अर्थात् "प्राणिति सर्वं जगदिति प्राणः" =

जो सब जगत् को चेष्टा कराता है उसका नाम "प्राण" सुखस्वरूप होने से उसी का नाम "कं" और सबका अधिकरण होने से ब्रह्म का नाम "खं" है, और इसी को "आकाश" कहते हैं, उक्त ब्रह्मचारी उपकोसल को जो अग्नियों द्वारा ब्रह्मविद्या की प्राप्ति कथन कीगई है वह उपचार से है वास्तव में तात्पर्य्य यह प्रतीत होता है कि जब आचार्य्य उसका समावर्तन किये बिना ही बाहर चलेगये तो ब्रह्मचारी ने अपने अनुभव से ही प्राण, कं और खं को ब्रह्म समझा ॥

इति दशमःखण्डः समाप्तः

अथ एकादशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब उक्त ब्रह्मचारी को गार्हपत्याग्नि का उपदेश कथन करते हैं:—

अथ हैनं गार्हपत्योऽनुशशास पृथिव्यग्निरन्नमादित्य इति। य एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥ १ ॥

अर्थ-इसके अनन्तर प्रसिद्ध इस ब्रह्मचारी को गार्हपत्याग्नि ने उपदेश किया कि पृथिवी, अग्नि, अन्न और आदित्य यह मेरे रूप हैं और जो यह आदित्य में पुरुष दीखता है वह मैं हूं ॥

भाष्य—"स एवाहमस्मीति" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, जो सदा ही गृह में स्थिर रहती है उसका नाम "गार्हपत्याग्नि" है, और इसी की अग्निकुण्ड में आकर "आहवनीय" संज्ञा होजाती है, यह अग्नि सब से मुख्य होने के कारण यह कथन किया गया है कि जो आदित्य में ज्योति है वह भी यही अग्नि है ॥

सं०—अब उक्त ज्ञान का फल कथन करते हैं:—

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिꣳश्च लोकेऽमुष्मिꣳश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥२॥

अर्थ—वह पुरुष, जो इस गार्हपत्याग्नि को उक्त प्रकार से जानता हुआ

उपासना करता है उसके पापकर्म नाश होकर लोकवान् होता है, सम्पूर्ण आयु को प्राप्त होता और उत्तम जीवन वाला होकर जीता है, इसके पुत्रपौत्रादि क्षय को प्राप्त नहीं होते और इस लोक तथा परलोक में उस ज्ञाता पुरुष की हम अग्नियें सब ओर से रक्षा करती हैं ॥

भाष्य—" य एतमेवं विद्वानुपास्ते " पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, (शेष सब स्पष्ट है) ॥

इति एकादशःखण्डः समाप्तः

अथ द्वादशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब उक्त ब्रह्मचारी को दक्षिणाग्नि का उपदेश कथन करते हैं:—

अथ हैनमन्वाहार्य्यपचनोऽनुशशासापो दिशो नक्षत्राणि चन्द्रमा इति । य एष चन्द्रमसि पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥ १ ॥

अर्थ—इसके अनन्तर इस ब्रह्मचारी को दक्षिणाग्नि ने उपदेश किया कि जल, दिशायें, नक्षत्र और चन्द्रमा यह मेरे रूप हैं और जो यह चन्द्रमा में पुरुष दीखता है वह मैं हूं ॥

भाष्य—" स एवाहमस्मीति " पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, दक्षिणाग्नि ने कहा कि-जल, दिशा, नक्षत्र और चन्द्रमा यह सब मेरे ही रूप हैं और जो चन्द्रमा में पुरुष दीखता है वह भी मैं ही हूं अर्थात् चन्द्रमादिकों में जो शक्ति है वही मुझ में भी है ॥

सं०—अब उक्त ज्ञान का फल कथन करते हैं:—

स य एतमेव विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यांलोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उपवयं तं भुञ्जामोऽस्मिꣳश्चलोकेऽमुष्मिꣳश्च य एतमेव विद्वानुपास्ते ॥ २ ॥

सूचना—यही श्लोक पीछे एकादश खण्ड में आया है जिसका अर्थ वहां किया गया है, पाठकगण वहीं देखलें ॥

इति द्वादशःखण्डः समाप्तः

अथ त्रयोदशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अथ उक्त ब्रह्मचारी को आहवनीय अग्नि का उपदेश कथन करते हैं:-

अथ हैनमाहवनीयोऽनुशशास-प्राण आकाशो द्यौर्विद्युदिति। य एष विद्युति पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥ १ ॥

अर्थ—इसके अनन्तर इस ब्रह्मचारी को आहवनीय अग्नि ने उपदेश किया कि प्राण, आकाश, द्युलोक और विद्युत् यह मेरे ही रूप हैं और जो यह विद्युत् में पुरुष दीखता है वह मैं ही हूं ॥

भाष्य—"स एवाहमस्मीति" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, आहवनीय अग्नि ने कहा कि प्राण, आकाश, द्यौ और विद्युत् यह सब मेरे ही रूप हैं और जो विद्युत् में पुरुष दृष्टिगत होता है वह भी मैं ही हूं अर्थात् विद्युतादिकों में जो शक्ति है वह मुझ में है, इसलिये यह सब अपना आपही हैं ॥

सं०—अब उक्त ज्ञान का फल कथन करते हैं:—

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावर पुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥ २ ॥

सूचना—इस श्लोक का अर्थ पीछे ग्यारहवें खण्ड में कर आये हैं पाठक वहीं देखलें ॥

इति त्रयोदशःखण्डः समाप्तः

अथ चतुर्दशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब उक्त तीनों अग्नियों का मिलकर उपदेश कथन करते हैं:—

ते होचुरुपकोसलैषा सोम्य तेऽस्मद्विद्याऽऽत्मविद्या चाऽऽचार्य्यस्तु ते गतिं वक्तेत्याऽऽजगाम हास्याऽऽचार्य्यस्तमाचार्य्योऽभ्युवादोपकोसल इति ॥ १ ॥

अर्थ—वह प्रसिद्ध तीनों अग्नियें बोलीं कि हे सोम्य उपकोसल ! तुमको जो उपदेश कियागया है यह हमारी विद्या है और यह आत्मविद्या कहलाती है परन्तु इस ब्रह्मज्ञान का उपदेश तुमको आचार्य्य करेंगे इसके आचार्य्य आगये हैं, वह आचार्य्य हे उपकोसल ! इस प्रकार कहकर पुकारने लगे ॥

सं०—अब आचार्य्य और उपकोसल का वार्तालाप कथन करते हैं:—

भगव इति ह प्रतिशुश्राव । ब्रह्मविद इव सोम्य ते मुखं भाति । को नु त्वाऽनुशशासेति को नु माऽनुशिष्याद्भो इति हापेव निन्हुत इमे नूनमीदृशाअन्यादृशा इतीहाग्नी-नभ्यूदे । किं नु सोम्य किल तेऽवोचन्निति ॥ २ ॥

अर्थ—वह प्रसिद्ध ब्रह्मचारी बोला हे भगवन् ! क्या आज्ञा है तब आचार्य्य बोले हे ब्रह्मचारिन् ! तेरा मुख ब्रह्मवेत्ता के मुखसमान सुशोभित है किसने तुझको उपदेश किया है, हे भगवन् ! कौन मुझको अनुशासन करेगा, वह प्रसिद्ध ब्रह्मचारी इस प्रकार उस उपदेश को छिपाने के समान बोला, फिर अग्नियों की ओर ध्यान करके कहा मनुष्यों से भिन्न ऐसे जो यह अग्नियें हैं इन्होंने ही उपदेश किया है, यह कहकर अग्नियों को गुरु स्वीकार किया, तब आचार्य्य बोले हे सोम्य ! तेरे लिये इन्होंने कौनसी विद्या सिखलाई है ॥

सं०—अब उपकोसल कथन करते हैं:—

इदमिति ह प्रतिजज्ञे । लोकान्वाव किल सोम्य तेऽवोचन्नहं तु ते तद्वक्ष्यामि—यथा पुष्कर-पलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवविदि पापं कर्म न श्लिष्यन्त इति । ब्रवीतु मे भगवानिति । तस्मै होवाच ॥ ३ ॥

अर्थ—वह प्रसिद्ध ब्रह्मचारी बोला कि मैंने यह विद्या सीखी है तब आचार्य्य बोले हे सोम्य ! लौकिक विद्याओं का ही तुझको उपदेश किया है परन्तु मैं तुझको उस ब्रह्मज्ञान का उपदेश करूंगा जो मोक्ष को प्राप्त कराने वाला है, जैसे कमल के पत्र पर जल नहीं ठहर सकते इसी प्रकार उक्त रीति से ब्रह्म के जानने वाले में पापकर्म नहीं ठहर सकते, यह सुनकर शिष्य बोला कि हे ऐश्वर्य्यसम्पन्न ! आप मुझको उस ब्रह्मज्ञान का उपदेश करें, तब उसको ब्रह्मविद्या का उपदेश आचार्य्य ने किया ॥

इति चतुर्दशःखण्डः समाप्तः

अथ पञ्चदशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब आचार्य्य उस अमृतस्वरूप ब्रह्म का उपदेश करते हैं:—

य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवा-
चैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति तद्यद्यप्यस्मिन्
सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चन्ति वर्त्मनी एव गच्छति ॥ १॥

अर्थ—जो यह पुरुष आंख में दीखता है यही आत्मा है, वह अमृतस्वरूप है, अभय है और यह सब से बड़ा है, आचार्य्य ने यह कथन किया उसमें जो कुछ भी घी अथवा जल डाले जाते हैं वह किनारों पर ही चले जाते हैं और यह आंख निर्लेप रहता है ॥

सं०—अब इस ज्ञान के ज्ञाता को फल कथन करते हैं:—

एत ँ संयद्वाम इत्याचक्षत एत ँ हि सर्वाणि वामान्यभिसं-
यन्ति सर्वाण्येनं वामान्यभिसंयन्ति य एवं वेद ॥ २ ॥

अर्थ—इसको "संयद्वाम" कहते हैं, इसको ही सब सौन्दर्य्य प्राप्त होते हैं, जो उक्त प्रकार से जानता है वह सब सौन्दर्य्य वाला होता है ॥

एष उ एव वामनीरेष हि सर्वाणि वामानि नयति।
सर्वाणि वामानि नयति। य एवं वेद ॥ ३ ॥

अर्थ—यही आत्मा वामनी है, क्योंकि सम्पूर्ण सौन्दर्य्य इसी से प्राप्त होते हैं जो उक्त प्रकार से जानता है वह सम्पूर्ण सौन्दर्य्य को प्राप्त होता है ॥

सं०—अब परमात्मा को प्रकाशस्वरूप कथन करते हैं:—

एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति
सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं वेद ॥ ४ ॥

अर्थ—यही प्रकाश वाला है, क्योंकि यही सब लोकों का प्रकाशक है, जो उक्त प्रकार से जानता है वह सब लोकों में प्रकाशित होता है ॥

सं०—अब उक्त ब्रह्मवेत्ता पुरुष की गति कथन करते हैं:—

यथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चि-
षमेवाभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरन्ह आपूर्य्यमाणपक्ष-

मापूर्य्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङेति मासाᳫंस्तान्
मासेभ्यः संवत्सरᳫंसंवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्र-
मसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः ॥ ५ ॥

अर्थ—अब यह कथन करते हैं कि जो इसके शरीर का मृतककर्म ऋत्विक्-लोग करते हैं अथवा नहीं करते पर यह प्रकाश को ही प्राप्त होता है, उस प्रकाश से दिन को, दिन से आपूर्य्यमाण पक्ष को, आपूर्य्यमाणपक्ष से उत्तरायण के जो छः मास हैं उनको प्राप्त होता है, उन मासों से संवत्सर को, संवत्सर से आदित्य को, आदित्य से चन्द्रमा को, चन्द्रमा से विद्युत् को प्राप्त होता है, और ऐसा पुरुष मानव नहीं होता ॥

स एतान् ब्रह्मगमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्य-
माना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते नावर्तन्ते ॥ ६ ॥

अर्थ—उक्त ब्रह्मज्ञानी पुरुष ब्रह्म के उपासकों को ब्रह्म को प्राप्त कराता है यही देवताओं का मार्ग है, यही ब्रह्मप्राप्ति का मार्ग है, इस मार्ग द्वारा प्राप्त हुए२ इस मनु के पुनः२ जन्म मरण रूप भंवर को प्राप्त नहीं होते ॥

भाष्य—"नावर्तन्ते" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, इस खण्ड में जो अग्निपुरुष का वर्णन कियागया है वह कोई पुरुषविशेष नहीं किन्तु ब्रह्म को ही अग्निपुरुष कथन किया है, यद्यपि ब्रह्म सर्वव्यापक होने से उसकी उपलब्धि सर्वत्र होती है तथापि अग्नि आदि पदार्थों में उसका वर्णन विशेषरूप से इस कारण किया है कि उक्त स्थानों में ब्रह्म का निर्माणकौशल्य अधिकता से पायाजाता है, या यों कहो कि उसकी सत्ता के द्योतक जिसप्रकार सूर्य्य, चन्द्रमा तथा अग्नि आदि स्थान पाये जाते हैं इस प्रकार अन्य नहीं, इसी भाव से यहां अग्निपुरुष का वर्णन है और उक्त पुरुष के ज्ञाता को यह फल कथन किया है कि उसकी लोकलोकान्तरों में ख्याति होती है, ऐसे पुरुष का दाहादि संस्कार यदि वैदिक न भी कियाजाय तो भी उसकी सद्गति में कोई भेद नहीं पड़ता, उक्त ज्ञानी पुरुष की अवस्था यह होती है कि प्रथम वह एक साधारण प्रकार के प्रकाश को प्राप्त होता है उसके अनन्तर अभ्यास करता हुआ दिन जैसे प्रकाश को प्राप्त होता है फिर उस प्रकाश से वह पूर्णिमा के चन्द्रमा जैसे प्रकाश को प्राप्त होता है फिर उत्तरायण गति को प्राप्त होता है जिसका आशय यह है कि इस अवस्था में वह आत्मज्ञान से देदीप्यमान होजाता है फिर वह संवत्सर=एकवर्ष पर्य्यन्त अपनी चित्तवृत्ति का निरोध करसका है, फिर आदित्य की अवस्था को प्राप्त होता है अर्थात् आदित्यसंज्ञक ब्रह्मचारी के समान होजाता है, इसके अनन्तर चन्द्रमा=ब्रह्मानन्द को प्राप्त होकर मुक्त

होजाता है, फिर विद्युत् के समान अद्भुत प्रकाश वाला होता है, उक्त मुक्त पुरुष अन्य लोगों के लिये ब्रह्मप्राप्ति का हेतु होता है और स्वयं इस पुनर्जन्म के चक्र में नहीं आता अर्थात् परान्तकाल तक मुक्ति अवस्था में रहता है ॥

इति पञ्चदशःखण्डः समाप्तः

अथ षोडशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब ज्ञानयज्ञ का वर्णन करते हैंः—

एष ह वै यज्ञो योऽयं पवत एष ह यन्निद ँ सर्वं
पुनाति । यदेष यन्निद ँ सर्वं पुनाति तस्मादेष
एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक् च वर्त्तनी ॥ १ ॥

अर्थ-निश्चयकरके यह यज्ञ है जो पवित्र करता है, यह यज्ञ अपनी सुगन्धि द्वारा गमन करता हुआ इन सब पदार्थों को पवित्र करता है, जिसलिये यह ज्ञानयज्ञ अपने यज्ञोद्भव कर्मों द्वारा सबको पवित्र करता है इस कारण यही यज्ञ है और इस ज्ञानरूप यज्ञ के वाणी और मन दोनों मार्ग हैं ॥

भाष्य-ज्ञानयज्ञ के मन और वाणी यह दोनों प्रसिद्ध मार्ग हैं अर्थात् संस्कृत वाणी तथा संस्कृत मन वाला पुरुष उक्त ज्ञानयज्ञ को प्राप्त होता है अन्य नहीं एकमात्र यही यज्ञ मनुष्य को पवित्र करता है इसी अभिप्राय से इसको यज्ञरूप से कथन किया गया है ।

भाव यह है कि वेदों में अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन है पर ज्ञानयज्ञ सब से श्रेष्ठ होने के कारण सर्वोपरि है, इसीलिये कृष्णजी भी गीता में इसकी महिमा यों वर्णन करते हैं किः—

श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञात् ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वंकर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परि समाप्यते ॥ गी० ४।३३

अर्थ-हे अर्जुन । कर्मरूप यज्ञों से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है, क्योंकि सब कर्म ज्ञानयज्ञ में ही समाप्त होते हैं ॥

सं०-अब उक्त मन, वाणीरूप दोनों मार्गों का कथन करते हैंः—

तयोरन्यतरांमनसा सꣳस्करोति ब्रह्मा । वाचा
होताऽध्वर्युरुद्गाताऽन्यतराꣳस यत्रोपाकृते प्रातर-
नुवाके पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा व्यववदति ॥ २ ॥

अर्थ—उक्त दोनो मार्गों में से जब ब्रह्मा एक मार्ग को मन से ग्रहण करता है और होता, अध्वर्यु तथा उद्गाता अन्य मार्ग को ग्रहण करते हैं जहां प्रातरनुवाक के प्रारम्भ होने से पूर्व वह ब्रह्मा परिधानीय ऋचाओं से प्रथम बोलता है तो वह यज्ञ पूर्ण नहीं होता ॥

सं०—अब उक्त यज्ञ में अन्य दोष कथन करते हैं:—

अन्यतरामेव वर्तनिꣳसꣳस्करोति हीयतेऽन्यतरा । स यथैकपाद्व्रजन्रथो वैकेन चक्रेण वर्त्तमानो रिष्यत्येवमस्य यज्ञो रिष्यति । यज्ञꣳरिष्यन्तं यजमानोऽनुरिष्यति । स इष्ट्वा पापीयान् भवति ॥ ३ ॥

अर्थ—उक्त दोनो मार्गों में से जो एक मार्ग का संस्कार करता है उसका दूसरा मार्ग हानि को प्राप्त होजाता है, वह पुरुष इस प्रकार गिर जाता है जैसे एक पादवाला रथ एक चक्र से वर्त्तमान गिर जाता है, इसी प्रकार इस पुरुष का यज्ञ हानि को प्राप्त होता है, यज्ञ के नष्ट होने पर यजमान भी हानि को प्राप्त होता और वह यजमान ऐसे यज्ञ का करने वाला पापी होता है ॥

भाष्य—जिस यज्ञ में ब्रह्मा आदि ऋत्विक् यज्ञ के ज्ञान तथा कर्म इन दोनों मार्गों से काम नहीं लेते वह यज्ञ फलहीन होने से उसका करने वाला यजमान भी पापी होता है ॥

सं०—अब उक्त दोनो मार्गों के ठीक रखने का कथन करते हैं:—

अथ यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके न पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा व्यवबदत्युभे एव वर्तनी सꣳस्कुर्वन्ति न हीयतेऽन्यतरा ॥४॥

अर्थ—और जिस यज्ञ में प्रातरनुवाक के प्रवृत्त होने पर परिधानीय ऋचा से पूर्व ब्रह्मा नहीं बोलता और दोनों मार्गों का संस्कार ऋत्विक् लोग करते हैं तो दोनों में कोई मार्ग हानि को प्राप्त नहीं होता ॥

सं०—अब उक्त यज्ञ के समर्थन में दृष्टान्त कथन करते हैं:—

स यथोभयपाद्व्रजन्रथो वोभाभ्यां चक्राभ्यां वर्तमानः प्रतितिष्ठत्येवमस्य यज्ञः प्रतितिष्ठति स इष्ट्वा श्रेयान् भवति॥५॥

अर्थ—वह रथ जैसे दोनों पादों से चलता हुआ और दोनो चक्रों से वर्तमान प्रतिष्ठित होता है इसी प्रकार इस यजमान का यज्ञ प्रतिष्ठित होता है और वह यजमान यज्ञ करके पुण्यात्मा होता है ॥

भाष्य—जिस प्रकार दोनो चक्रों से चलने वाला रथ प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है इसी प्रकार कर्मरूप वाणी और ज्ञानरूप मन से संयुक्त यज्ञ प्रतिष्ठा को प्राप्त

होता है अर्थात् ज्ञान तथा कर्म यह दोनों अङ्ग जिस यज्ञ में पूर्ण रहते हैं वही यज्ञ शुभ होता है, क्योंकि ज्ञानकर्म के समुच्चय से ही पुरुष को शुभफल तथा मुक्ति की प्राप्ति होती है, इसी अभिप्राय से "अविद्या मृत्युं तीर्त्वा विद्याऽमृतमश्नुते" यजु० ४०। ८ इस मंत्र में ज्ञान कर्म के समुच्चय का विधान किया है॥

इति षोडशःखण्डः समाप्तः

अथ सप्तदशः खण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब प्रजापति परमात्मा द्वारा पृथिव्यादि पदार्थों की उत्पत्ति तथा वेदों का आविर्भाव कथन करते हैं:—

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेषां तप्यमानाना ँ रसान् ।
प्रावृहदग्निं पृथिव्या वायुमन्तरिक्षादादित्यं दिवः ॥ १ ॥

अर्थ—परमात्मा ने सम्पूर्ण लोकों को उत्पन्न किया, इनके उत्पन्न होने के पश्चात् सब के सारभूत अग्नि, वायु, आदित्य इन महर्षियों को प्रबुद्ध किया, पार्थिव गुणों के प्रकाशार्थ अग्नि को, अन्तरिक्ष के गुण प्रकाशार्थ वायु को और द्युलोकस्थ पदार्थों के द्योतनार्थ आदित्य को उत्पन्न किया॥

स एतास्तिस्रो देवता अभ्यतपत्तासां तप्यमानाना ँ रसान्
प्रावृहदग्नेर्ऋचो वायोर्यजू ँषि सामान्यादित्यात् ॥ २ ॥

अर्थ—उस प्रजापति परमात्मा ने अग्नि, वायु, आदित्य यह तीन दिव्यगुण वाले महर्षि उत्पन्न किये, इनके उत्पन्न होने के अनन्तर ऋग्, यजु, सामरूप रसों को प्रकाशित किया, अग्नि द्वारा ऋग्वेद, वायु द्वारा यजुर्वेद और आदित्य द्वारा सामवेद प्रकाशित हुआ॥

स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत्तस्यास्तप्यमानाया रसान्
प्रबृहद्भूरित्यृग्भ्यो भुवरिति यजुर्भ्यः स्वरिति सामभ्यः॥ ३॥

अर्थ—उस प्रजापति परमात्मा ने इस त्रयी विद्या को उत्पन्न किया उसके उत्पन्न होने पर रसों को उत्पन्न किया, ऋग्वेद द्वारा "भूः" यजुर्वेद द्वारा "भुवः" सामवेद द्वारा "स्वः" व्याहृतियों को उत्पन्न किया॥

सं०—अब ऋग्वेदनिमित्तक यज्ञ के खण्डित होने पर प्रायश्चित्त कथन करते हैं:—

तद्यदृक्तो रिष्येद् भूः स्वाहेति गार्हपत्ये जुहुयादृचामेव तद्रसेनर्चां वीर्येणर्चां यज्ञस्य विरिष्टं सन्दधाति ॥४॥

अर्थ—यदि वह ऋग्वेद निमित्तक यज्ञ खण्डित होजाय तो उसके प्रायश्चित्तार्थ गार्हपत्याग्नि में " भूः " स्वाहा बोलकर हवन करे, क्योंकि वह ऋग्वेद के मन्त्रों द्वारा यज्ञ के खण्डित होने को सन्धान करती है वह ऋग्वेद का ही ऋचारूप " भूः " रस है और ऋग्वेद के ही प्रभाव से उस खण्डित यज्ञ का प्रायश्चित होता है ॥

सं०—अब यजुर्वेदनिमित्तक यज्ञ के खण्डित होने पर प्रायश्चित्त कथन करते हैं:—

अथ यदि यजुष्टो रिष्येद्भुवःस्वाहेति दक्षिणाग्नौ जुहुयाद्यजुषामेव तद्रसेन यजुषां वीर्येण यजुषां यज्ञस्य विरिष्टं सन्दधाति ॥ ५ ॥

अर्थ—अब यदि यजुर्वेद निमित्तक यज्ञ खण्डित होजाय तो दक्षिणाग्नि में " भुवः " स्वाहा बोलकर हवन करे, क्योंकि यजुर्वेद निमित्तक यज्ञ के खण्डित होने को यही पूर्ण करती है, वह यजुर्वेद के रस " भुवः " द्वारा यजुर्वेद के प्रभाव से ही उस खण्डित यज्ञ का प्रायश्चित्त होता है ॥

सं०—अब सामवेदनिमित्तक यज्ञ के खण्डित होने पर प्रायश्चित्त कथन करते हैं:—

अथ यदि सामतो रिष्येत्स्वः स्वाहेत्याहवनीयेजुहुयात्साम्नामेव तद्रसेन साम्नां वीर्य्येण साम्नां यज्ञस्य विरिष्टं सन्दधाति ॥६॥

अर्थ—अब यदि सामवेद निमित्तक यज्ञ खण्डित होजाय तो आहवनीयाग्नि में " स्वः " स्वाहा पढ़कर होम करे, क्योंकि सामवेद यज्ञ के खण्डित होने को यही पूर्ण करती है, सामवेद के ही " स्वः " रूप रस से, और सामवेद के ही प्रभाव से खण्डित यज्ञ का प्रायश्चित्त होता है ॥

सं०—अब ब्रह्मा के ज्ञानविषयक कथन करते हैं:—

तद्यथा लवणेन सुवर्णं सन्दध्यात् सुवर्णेन रजतं रजतेन त्रपु त्रपुणा सीसं सीसेन लोहं लोहेन दारु दारु चर्मणा ॥ ७ ॥

अर्थ—उक्त विषय में यह दृष्टान्त है कि जैसे क्षार पदार्थ से सुवर्ण को, सुवर्ण से रजत को, रजत से कलई को, कलई से सीसे को, सीसे से लोहे को और लोहे तथा चर्म से काष्ठ को जोड़ाजाता है ॥

एवमेषां लोकानामासां देवतानामस्यास्त्रय्या विद्याया वीर्य्येण यज्ञस्य विरिष्टꣳसन्दधाति भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविद्ब्रह्माभवति ॥ ८ ॥

अर्थ—इसी प्रकार इन लोकों, अग्नि आदि देवताओं और उक्त त्रयी विद्या के बल से यज्ञ की हानि को ब्रह्मा पूर्ण करता है, निश्चयकरके जिस यज्ञ में ऐसा जानने वाला ब्रह्मा होता है वह यज्ञ औषधरूप होता है ॥

एष ह वा उदक्प्रवणो यज्ञो यत्रैवंविद्ब्रह्माभवत्येवंविदꣳह वा एषा ब्रह्माणमनुगाथा यतो यत आवर्त्तते तत्तद्गच्छति ॥ ९ ॥

अर्थ—निश्चयकरके उक्त यज्ञ सब की रक्षा करने वाला होता है जहां इस प्रकार का जानने वाला ब्रह्मा होता है, निश्चयकरके इस प्रकार के ब्रह्मा की यह गाथा है कि जहां २ यज्ञ में कोई अपने कर्म से गिरजाता है उस २ कर्म को ब्रह्मा जानलेता है ॥

मानवो ब्रह्मैवैक ऋत्विक्कुरूनश्वाऽभिरक्षत्येवंविद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानꣳसर्वाꣳश्चर्त्विजोऽभिरक्षति। तस्मादेवंविदमेव ब्रह्माणं कुर्वीत नानेवंविदं नानेवंविदम् ॥ १० ॥

अर्थ—जिसप्रकार कुरुओं की एक योग्य घोड़ी ने रक्षा की थी निश्चयकरके ऐसा जानने वाला ब्रह्मा यज्ञ की, यजमान की और सब ऋत्विजों की रक्षा करता है इस कारण ऐसे जानने वाले को ही ब्रह्मा बनावे न जानने वाले को न बनावे, ऐसा मननशील एक ही ऋत्विक् यज्ञ के लिये पर्य्याप्त होता है ॥

भाष्य—"नानेवंविदम्" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, इस खण्ड के श्लोकों का भाव यह है कि प्रजापति परमात्मा ने अपने ज्ञान द्वारा पृथिव्यादि लोकों की स्तुति के लिये महर्षि "अग्नि" को तथा अन्तरिक्ष से लेकर लोक लोकान्तरों में यज्ञों द्वारा हवि पहुंचाने के लिये "वायु" को और दिव्यगीतियों के गानार्थ "आदित्य" को उत्पन्न किया अर्थात् अग्नि, वायु, आदित्य इन तीन ऋषियों को इसलिये उत्पन्न किया कि इनके हृदय में वेदों का प्रकाश किया जाय, उत्पन्न करके ऋग्, यजु, साम यह तीन वेद इनको दिये, और इनमें भूः, भुवः, स्वः इन व्याहृतियों को मुख्य रखा, इसलिये यदि कोई ऋग्वेद वेत्ता अपने कर्म में त्रुटि करता है तो वह "भूः स्वाहा" इस व्याहृति

से आहुति देकर अपनी त्रुटि को पूर्ण करे, यदि यजुर्वेदवेत्ता त्रुटि करे तो "भुवः स्वाहा" इससे आहुति दे और सामवेदवेत्ता त्रुटि करे तो "स्वः स्वाहा" इससे आहुति दे, उक्त प्रकार से आहुतियां देने वाला अपनी सब त्रुटियों को पूर्ण कर लेता है परन्तु उक्त त्रुटियों के पूर्ण कराने वाला ब्रह्मा पूर्ण ज्ञाता होना चाहिये जो ऋगादि वेद तथा उक्त व्याहृतियों के तत्व को पूर्ण रीति से जानता हो, ऐसे ब्रह्मा के अधिष्ठातृत्व में जो यज्ञ किया जाता है वह यजमान तथा सब ऋत्विकों का रक्षक होता है, इसलिये यजमान को चाहिये कि वेद वेदाङ्गों के जानने वाले को ब्रह्मा बनावे ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे
छान्दोग्योपनिषदार्य्यभाष्ये
चतुर्थः प्रपाठकः समाप्तः



ओ३म्

अथ पञ्चमःप्रपाठकः प्रारभ्यते

सं०—अब प्राणविद्या का वर्णन करते हैं:—

यो ह वै ज्येष्ठञ्च श्रेष्ठञ्च वेद ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठ-
श्च भवति। प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ॥ १ ॥

अर्थ—निश्चयकरके;जो उपासक ज्येष्ठ और श्रेष्ठ को जानता है वह निश्चय पूर्वक ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है, प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है ॥

सं०—अब प्राणों की श्रेष्ठता में उदाहरण कथन करते हैं:—

यो ह वै वसिष्ठं वेद वसिष्ठोह स्वानां
भवति। वाग्वाव वसिष्ठः ॥ २ ॥

अर्थ—जो उपासक श्रेष्ठ को जानता है वह निश्चयकरके अपने स्वजातियों में श्रेष्ठ होता है, वाणी ही श्रेष्ठ है ॥

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठत्यस्मिꣳश्च
लोकेऽमुष्मिꣳश्च। चक्षुर्वाव प्रतिष्ठा ॥ ३ ॥

अर्थ-जो उपासक प्रतिष्ठा को जानता है वह इस लोक तथा परलोक में निश्चयकरके प्रतिष्ठित होता है, चक्षु ही प्रतिष्ठा है ॥

यो ह वै सम्पदं वेद सꣳहास्मै कामाः पद्यन्ते
दैवाश्च मानुषाश्च। श्रोत्रं वाव सम्पत् ॥ ४ ॥

अर्थ-जो उपासक सम्पदा को जानता है निश्चयकरके उसके लिये सर्वोत्तम मनुष्य सम्बन्धी कामनायें प्राप्त होती हैं, श्रोत्र ही सम्पदा है ॥

यो ह वा आयतनं वेदायतनꣳ ह स्वानां
भवति। मनो ह वा आयतनम् ॥ ५ ॥

अर्थ-जो उपासक आयतन को जानता है वह निश्चयकरके अपने बान्धव वा स्वजातियों का आश्रय होता है, निश्चयकरके मन ही आश्रय है ॥

सं०—अब इन्द्रियों का परस्पर विवाद कथन करते हैं:—

अथ ह प्राणा अहꣳश्रेयसि व्यूदिरेऽहꣳ
श्रेयानस्म्यहꣳ श्रेयानस्मीति ॥ ६ ॥

अर्थ-अब यह कथन करते हैं कि वागादि इन्द्रिय कहने लगे कि मैं श्रेष्ठ हूं, मैं श्रेष्ठ हूं, इस प्रकार परस्पर विवाद करने लगे ॥

सं०—अब इन्द्रियों का प्रजापति के पास जाना कथन करते हैं:—

ते ह प्राणाः प्रजापतिं तिरमेत्योचुर्भगवन्, को नः श्रेष्ठ इति तान् होवाच यस्मिन् व उत्क्रान्तेशरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्येत स वः श्रेष्ठ इति ॥ ७ ॥

अर्थ—वह प्रसिद्ध इन्द्रियें अपने रक्षक प्रजापति को प्राप्त होकर बोले कि हे भगवन् ! हम में से कौन श्रेष्ठ है ? तब उनको प्रजापति बोला तुम में से जिसके चले जाने पर शरीर महापापी सा देख पड़े वही तुम में श्रेष्ठ है ॥

सं०-अब प्रथम वाणी का उत्क्रमण कथन करते हैं:—

सा ह वागुच्चक्राम-सा संवत्सरं प्रोष्य पर्य्येत्योवाच-कथमशक्तत्तें मज्जीवितुमिति यथा कला अवदन्तः प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति । प्रविवेश ह वाक् ॥ ८ ॥

अर्थ—वह प्रसिद्ध वाणी उत्क्रमण करगई और वह एकवर्ष बाहर रहकर फिर आकर अन्य प्राणों से बोली कि मेरे बिना तुम कैसे जीवित रहे तब अन्य इन्द्रिय बोले कि जैसे गूंगे बोलते हुए मुख्य प्राण से प्राणों को धारण करते हुए चक्षु से देखते, श्रोत्र से सुनते, मन से ध्यान करते हुए जीते हैं इसी प्रकार हम भी जीवित रहे, यह सुनकर वह प्रसिद्ध वाणी शरीर में प्रविष्ट होकर अपना व्यापार करने लगी ॥

सं०—अब चक्षु का उत्क्रमण कथन करते हैं:—

चक्षुर्होच्चक्राम । तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्य्येत्योवाच कथमशकतर्त्ते मज्जीवितुमिति, यथान्धा अपश्यन्तः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति, प्रविवेश ह चक्षुः ॥ ९ ॥

अर्थ—वह प्रसिद्ध चक्षु उत्क्रमण करके एकवर्ष पर्य्यन्त बाहर रहकर पुनः लौट आया और बोला कि मेरे विना तुम कैसे जीवनधारण करने को समर्थ हुए, तब अन्य प्राण बोले जैसे नेत्रहीन पुरुष न देखता हुआ, प्राण से प्राण को धारण करता हुआ, वाणी से बोलता हुआ, श्रोत्र से सुनता हुआ, मन से ध्यान करता हुआ जीता है इसी प्रकार हम जीते रहे, यह सुनकर उस प्रसिद्ध चक्षु ने प्रवेश किया ॥

सं०—अब श्रोत्र का उत्क्रमण कथन करते हैं:—

श्रोत्रᳪ होच्चक्राम, तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्य्यैत्योवाच कथमशकतर्त्ते मज्जीवितुमिति यथा वधिरा अशृण्वन्तः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा ध्यायन्तो मनसैवमिति, प्रविवेश ह श्रोत्रम् ॥ १० ॥

अर्थ—वह प्रसिद्ध श्रोत्र उत्क्रमण कर एकवर्ष बाहर रहकर लौट आया और बोला कि मेरे विना तुम कैसे जीवत रहे तब अन्य प्राण बोले कि जैसे बधिर न सुनते हुए, प्राण से श्वास लेते हुए, वाणी से बोलते हुए, आंखों से देखते हुए, मन से ध्यान करते हुए जीवित रहते हैं इसीप्रकार हम सब जीवित रहे, यह सुनकर वह प्रसिद्ध श्रोत्र प्रवेश करगया ॥

सं०—अब मन का उत्क्रमण कथन करते हैं:—

मनोहोच्चक्राम, तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्य्यैत्योवाच-कथमशकतर्त्ते मज्जीवितुमिति यथा बाला अमनसः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेणैवमिति, प्रविवेश ह मनः ॥११॥

अर्थ—वह प्रसिद्ध मन उत्क्रमण कर एक वर्ष पर्य्यन्त बाहर रहकर लौट आया और आकर बोला कि मेरे विना तुम कैसे जीवित रहे तब अन्य इन्द्रिय बोले कि विना मन वाले बालक प्राण से प्राणन करते हुए, वाणी से बोलते हुए, आंखों से देखते हुए, श्रोत्र से सुनते हुए जीवित रहते हैं इसी प्रकार हम जीवित रहे, यह सुनकर वह प्रसिद्ध मन प्रवेश करगया ॥

सं०—अब प्राण का उत्क्रमण कथन करते हैं:—

अथ ह प्राण उच्चिक्रमिष्यन्त्स यथा सुहयः पड्वीशशङ्कून् संखिदेदेवमितरान् प्राणान् समखिदत्तᳪ हाभिसमेत्योचुर्भगवन्नेधि त्वन्नः श्रेष्ठोऽसि मोत्क्रमीरिति ॥ १२ ॥

अर्थ—वागादि इन्द्रियों के उत्क्रमणानन्तर प्रसिद्ध उस प्राण ने निकलते हुए अन्य सब इन्द्रियों को अपने अपने स्थान से चलायमान कर दिया, जैसे उत्तम घोड़ा बांधने की कीलों को उखाड़ देता है इसी प्रकार सब इन्द्रियों को उखाड़ कर प्राण चला, उस प्रसिद्ध प्राण को जाता देख सब इन्द्रिय चारो ओर से समीप आकर बोले हे भगवन्! आओ हमारे मध्य आपही श्रेष्ठ हैं, आप उत्क्रमण न करें ॥

सं०—अब वागादि इन्द्रिय अपने ऐश्वर्य्य को प्राणों के अधीन करते हैं:—

अथ हैनं वागुवाच–यदहं वसिष्ठास्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीत्यथ हैनं चक्षुरुवाचयदहं प्रतिष्ठाऽस्मि त्वं तत्प्रतिष्ठोऽसीति ॥ १३॥

अर्थ–इसके अनन्तर वह प्रसिद्ध वाणी इस प्राण से बोली कि मैं जो ऐश्वर्य्य वाली हूं उस ऐश्वर्य्य वाला तू हो, इसके अनन्तर इसको प्रसिद्ध चक्षु बोला जो मैं प्रतिष्ठा वाला हूं उस प्रतिष्ठा वाला तू हो ॥

अथ हैन ँ श्रोत्रमुवाच–यदहं संपदस्मि त्वं तत्सम्पदसीत्यथ हैनं मन उवाच–यदह-मायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति ॥१४॥

अर्थ–इसके अनन्तर इसको श्रोत्र बोला कि जो मैं सम्पत्ति हूं वह सम्पत्ति तू हो, फिर इसके पश्चात् वह प्रसिद्ध मन बोला कि मैं आयतन हूं वह आयतन तू हो ॥

सं०—अब प्राण की मुख्यता कथन करते हैं:—

न वै वाचो न चक्षूंषि न श्रोत्राणि न मनांसीत्याचक्षते। प्राणा इत्येवाचक्षते। प्राणा ह्येवैतानि सर्वाणि भवति ॥ १५ ॥

अर्थ–न वाणी कहते हैं, न चक्षु, न श्रोत्र, न मन है यह कहते हैं, किन्तु सब लोग प्राण को ही कथन करते हैं, निश्चयकरके यह सब इन्द्रिय प्राण ही है ॥

भाष्य–इस खण्ड में वर्णित विद्या का नाम "प्राणविद्या" है, इसको प्राणविद्या इस अभिप्राय से वर्णन कियागया है कि प्राण शब्द मुख्यतया प्राणों में वर्त्तता है परन्तु गौणीवृत्ति से यहां अन्य इन्द्रियों का भी वाचक है. क्योंकि अन्य सब इन्द्रिय अपनी अपनी सत्ता को प्राणों के सहारे ही लाभ करते हैं, इसलिये अन्य इन्द्रियों को भी प्राण कथन कियागया है, इस खण्ड में प्राण तथा इन्द्रियों के सम्वाद द्वारा वागादि सब इन्द्रियों में प्राण की प्रधानता कथन कीगई है अर्थात् एक समय प्राण से भिन्न अन्य इन्द्रियों को यह अभिमान हुआ कि यह शरीर हमारे ही सहारे ठहरा हुआ है, इस अभिमान की निवृत्ति के लिये प्रजापति ने कहा कि जिसके निकल जाने पर यह शरीर अमङ्गल प्रतीत हो वही तुम सब में श्रेष्ठ और उसी के सहारे यह शरीर है, यहां प्रजापति के पास सब इन्द्रियों का मिलकर जाना और उसका कथन करना उपचार से है, प्रथम वाक् इन्द्रिय निकला तब भी शरीर ज्यों का त्यों बना रहा, क्योंकि वाक् रहित मूक पुरुष भी संसार में देखे जाते हैं फिर श्रोत्रेन्द्रिय निकला उससे भी शरीर ज्यों का त्यों बना रहा, क्योंकि बधिर पुरुष भी अपनी जीवन यात्रा करते हैं, एवं एक २ इन्द्रिय के निकल जाने से शरीर की कुछ भी हानि न हुई फिर जब प्राण ने अपने निकलने का विचार किया तब सब इन्द्रिय अपने अपने स्थान से बिच-

लित होगये और सब ने मिलकर प्राण से प्रार्थना की कि हे भगवन्! आप न जायं आपके जाने पर हम में से कोई भी इन्द्रिय स्थिर नहीं रहसकता, इससे सिद्ध है कि प्राण ही सब इन्द्रियों में मुख्य है।

भाव यह है कि मनुष्य को चाहिये कि प्राणों को मुख्य समझकर उनको अपने अधीन करने का यत्न करे और वह यत्न प्राणायाम द्वारा संयम करने से ही सफल होता है अन्यथा नहीं अर्थात् योगशास्त्रोक्त प्राणायाम की विधि से अपने प्राणों को वशीभूत करके परमात्मपरायण होना ही प्राणों के स्वाधीन करने का एकमात्र उपाय है, सुखपूर्वक शरीरयात्रा करने के लिये यह प्राणविद्या सब से मुख्य है, इसीलिये इसका वर्णन कई एक उपनिषदों में पाया जाता है, अतएव जिज्ञासु को उचित है कि वह यत्नपूर्वक प्राणविद्या का सम्पादन करे॥

इति प्रथमःखण्डः समाप्तः

अथ द्वितीयःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब प्राणों का अन्न कथन करते हैंः—

स होवाच किं मेऽन्नं भविष्यतीति यत्किञ्चिदि-
दमाश्वभ्य आशकुनिभ्य इति होचुस्तद्वा एत-
दनस्यान्नमनो ह वै नाम प्रत्यक्षम् । न ह
वा एवंविदि किञ्चनानन्नं भवतीति ॥ १ ॥

अर्थ—वह मुख्य प्राण बोला कि मेरा अन्न क्या होगा, इन्द्रियों ने कहा जो कुछ यह कुत्ते और पक्षियों से लेकर अन्न है यह हो इस प्राण का अन्न है, निश्चयकरके "अन" यह नाम प्राण का प्रत्यक्ष स्पष्ट है कि पूर्वोक्त रीति से जानने-वाले के लिये कुछ भी अनन्न नहीं होता॥

भाष्य-"प्राण" शब्द से यहां पशु पक्षी आदि सब जीवों के प्राण का ग्रहण है, इसी अभिप्राय से कुत्ते आदिकों को प्राणियों का अन्न कथन किया है, इससे यह अभिप्राय नहीं कि कोई प्राणी भी योग्यायोग्य अन्न का विचार न करे, यदि ऐसा होता तो वेद में स्पष्ट प्रकार से मांसादि के भक्षण का निषेध न किया जाता,जैसाकिः—

य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः ।
गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि ॥
अथर्व०.८।३।६।२३

अर्थ—जो लोग कच्चा तथा पकाया हुआ मांस और अण्डों को खाते हैं उनका हम निषेध करें, इस मंत्र में मनुष्य के लिये सब प्रकार के मांस का निषेध किया है फिर सब प्राणियों के लिये मांस अन्न कैसे होसक्ता है ।

जो लोग इसके यह अर्थ करते हैं कि प्राणीमात्र का सब कुछ अन्न है वह विष तथा अन्य मलादि पदार्थ जो अभक्ष्य हैं उनको भक्ष्य कैसे ठहरासक्ते हैं, यदि यह कहाजाय कि कृमि कीटादिकों के लिये मल भक्ष्य है तथा ओषधि आदिकों में विष भक्ष्य है तो इसप्रकार भी भक्ष्याभक्ष्य योग्यतानुसार हुआ अर्थात् कृमि प्राणियों के लिये मल भक्ष्य और अन्य मनुष्य प्राणियों के लिये अभक्ष्य है, एवं योग्यतानुसार मीमांसा करने से यह सिद्ध होता है कि कुत्ते आदि अन्न गिद्धादिकों के लिये भक्ष्य और मनुष्यों के लिये अभक्ष्य है, और जो यह कथन कियागया है कि उक्त प्रकार से जानने वाले के लिये कोई अनन्न नहीं, इसका तात्पर्य्य यह है कि जो पुरुष उक्त अन्न की परिभाषा को जानता है वह इस बात को भलीभांति जानता है कि अमेध्य से अमेध्य पदार्थ भी किसी न किसी का अन्न है, एवं उसके ज्ञान में कोई भक्ष्य पदार्थ अनन्न नहीं किन्तु सब अन्न ही है ॥

सं०—अब प्राण के वस्त्र कथन करते हैं :—

सहोवाच—किं मे वासो भविष्यतीत्याप इति होचुस्तस्माद्वा एतदशिष्यन्तःपुरस्ताच्चोपरिष्ठाच्चाद्भिः परिदधति । लम्भुको ह वासो भवत्यनग्नो ह भवति ॥ २ ॥

अर्थ—वह प्रसिद्ध प्राण इन्द्रियों से बोला कि मेरा वस्त्र क्या होगा तब इन्द्रिय स्पष्टतया बोले कि जलही आपका वस्त्र होगा, इस कारण निश्चयकरके अन्न को खाते हुए पहिले और पीछे जलों से अन्न को वस्त्र पहनाया जाता है, स्पष्ट है कि जो पुरुष उक्त प्रकार से जानता है वह सदा ही वस्त्रों को लाभ करता है कभी नंगा नहीं रहता ॥

सं०—अब उक्त उपदेश का प्रभाव कथन करते हैं:—

तद्धैतत्सत्यकामो जाबालो गोश्रुतये वैयाघ्रपद्यायोक्त्वोवाच—यद्यप्येनच्छुष्काय स्थाणवे ब्रूयाज्जायेरन्नेवास्मिञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥ ३ ॥

अर्थ—यह प्रसिद्ध उपदेश सत्यकाम जाबाल ने व्याघ्रपद नामक ऋषि के पुत्र गोश्रुति नामक ऋषि को करते हुए कहा कि यदि यह उपदेश शुष्ककाष्ठ के लिये भी कहा जाय तो निश्चयपूर्वक उसमें शाखा निकल आवेंगी और पत्र भी निकल आवेंगे ॥

सं०—अब परमात्मप्राप्ति का उपाय कथन करते हैं:—

अथ यदि महज्जिगमिषेदमावस्यायां दीक्षित्वा पौर्णमास्याᳩ रात्रौ सर्वौषधस्य मन्थं दधिमधुनोरुपमथ्यज्येष्ठायश्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे सम्पातमवनयेत् ॥ ४ ॥

अर्थ-इसके अनन्तर यदि महान् ब्रह्म को प्राप्त करना चाहे तो अमावस्या तिथि को दीक्षित होकर पौर्णमासी की रात्रि में सब प्रकार की औषधियों को मथ दधि और मधु मिलाकर "ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहा" पढ़कर अग्नि में उक्त आज्य का हवन करे और स्रुवा में शेष रहे घृतभाग को मन्थ नामक पात्र-विशेष में छोड़े ॥

वसिष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे सम्पातमवनयेत्।
प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे सम्पातमवनयेत्।
सम्पदे स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे सम्पातमवनयेत् ।
आयतनायस्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे सम्पातमवनयेत् ॥५॥

अर्थ-" वसिष्ठाय स्वाहा " यह पढ़कर अग्नि में आज्य का हवन करे, शेष भाग को मन्थ नामक पात्र में छोड़े " प्रतिष्ठायै स्वाहा " यह पढ़कर अग्नि में आज्य का हवन करे, शेष भाग को मन्थ नामक पात्र में छोड़े "सम्पदे स्वाहा " यह पढ़कर अग्नि में आज्य का हवन करे, शेष भाग को मन्थ नामक पात्र में छोड़े " आयतनाय स्वाहा " यह पढ़कर अग्नि में आज्य का हवन करे, शेष भाग को मन्थ नामक पात्र में छोड़े ॥

सं०-अब परमात्मा की स्तुति प्रार्थना उपासना कथन करते हैं :—

अथ प्रतिसृप्याञ्जलौ मन्थमाधाय जपत्यमो नामा-
स्यमा हि ते सर्वमिदᳩ स हि ज्येष्ठः श्रेष्ठो राजा-
धिपतिः स मा ज्यैष्ठ्यᳩ श्रैष्ठ्यᳩ राज्यमाधि-
पत्यं गमयत्वहमेवेदᳩ सर्वमसानीति ॥ ६ ॥

अर्थ-होम की समाप्ति के अनन्तर यजमान अग्नि से पीछे हटकर मथन की हुई सामग्री के शेष भाग को अञ्जलि में रखकर मन .. जाप करे कि आप "अम" नाम वाले हैं, क्योंकि यह सब तुम्हारी ही रचना है आपही सबसे बड़े तथा

श्रेष्ठ हैं, आपही राजा और हमारे अधिपति = स्वामी हैं, सो आप मुझको भी ज्येष्ठता श्रेष्ठता तथा राज्य और आधिपत्य प्राप्त करायें, मैं भी आपकी कृपा से इन सब को प्राप्त होऊं, यह मेरी विनयपूर्वक प्रार्थना है ॥

सं०-अब यजमान का आचमन करना कथन करते हैं :—

अथ खल्वेतयर्चा पच्छ आचामति तत्सवितुर्वृणी-
मह इत्याचामति । वयं देवस्य भोजनमित्याचा-
मति श्रेष्ठꣳ सर्वधातममित्याचामति । तुरं
भगस्य धीमहीति सर्वं पिबति ॥ ७ ॥

अर्थ-प्रार्थना के अनन्तर निश्चयकरके इस वक्ष्यमाण मंत्र से विधिपूर्वक एक २ पाद पढ़कर आचमन करे, उस सर्वोत्पादक ब्रह्म को मैं स्वीकार करता हूं, ऐसा बोलकर एक आचमन करे, हे दिव्यगुणसम्पन्न ! आप हम उपासकों को भोजन प्रदान करें. यह बोलकर दूसरा आचमन करे, आप श्रेष्ठ सम्पूर्ण पदार्थों के उत्पन्न करने वाले हैं, ऐसा बोलकर तीसरा आचमन करे, हे सर्वत्र व्यापक ऐश्वर्य्यसम्पन्न हम आपका ध्यान करते हैं, इस प्रकार बोलकर सब पीले ॥

भाष्य—परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना तथा उपासना के अनन्तर आचमन करे, जिसकी विधि इस प्रकार है कि आचमनी नामक पात्र में से दक्षिण हाथ की हथेली में जल लेकर निम्नलिखित वाक्यों से एक एक आचमन करे अर्थात् "तत्सवितुर्वृणीमहे" इससे एक "वयं देवस्य भोजनं" इससे दूसरा "श्रेष्ठं सर्वधातमम्" इससे तीसरा और "तुरं भगस्य धीमहि" यह पढ़कर सब पीजाय, यह सम्पूर्ण मंत्र ऋग्० ५।४।२८।१ में इस प्रकार है कि:—

तत्सवितुर्वृणीमहे, वयं देवस्य भोजनम् ।
श्रेष्ठं सर्वधातमम्, तुरं भगस्य धीमहि ॥

सं०—अब अन्य विधि कथन करते हैं:—

निर्णिज्य कꣳसं चमसं वा । पश्चादग्नेः संविशति
चर्मणि वा स्थण्डिले वा । वाचंयमोऽप्रसाहः स
यदि स्त्रियं पश्येत् समृद्धं कर्मेति विद्यात् ॥ ८ ॥

अर्थ-कंस पात्र और चमसादि पात्रों को धो माजकर रखने के अनन्तर अग्नि के पृष्ठ भाग में मृगचर्म वा केवल भूमि पर विधिपूर्वक चुपचाप होकर काम क्रोधादि के वशीभूत न होता हुआ वह यजमान बैठजाय, यदि उस काल

में स्त्री को देखे तो काम सिद्ध होगया, यह समझे ॥

सं०—अब उक्त विषय में प्रमाण कथन करते हैं:—

तदेषश्लोको—यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियꣳ स्वप्नेषु पश्यति। समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने। तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने ॥ ६ ॥

अर्थ—उक्त विषय में यह श्लोक प्रमाण है कि जब काम्यकर्मों में स्वप्न में स्त्री को देखे तो उस स्वप्न के देखने में समृद्धि जाने ॥

भाष्य—" तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने " पाठ दोवार खण्ड की समाप्ति के लिये आया है, यह स्वप्न इसलिये शुभसूचक है कि प्रसन्नचित्त वाले को ही उक्त प्रकार के स्वप्न आते हैं, और काम्यकर्मों में ऐसे स्वप्न आना इसलिये भी समृद्धिप्रद हैं कि काम्यकर्मों में मङ्गलसूचक पदार्थ दृष्टि पड़ने चाहियें और स्त्री शृंगार-प्रधान होने से मंगलसूचक है इसलिये वह समृद्धि का कारण है ॥

इति द्वितीयःखण्डः समाप्तः

अथ तृतीयःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब श्वेतकेतु और जैवलि ऋषि का संवाद कथन करते हैं:—

श्वेतकेतुर्हारुणेयः पञ्चालानाꣳ समितिमेयाय। तꣳह प्रवाहणो जैवलिरुवाच कुमारानु त्वाशिषत्पितेत्यनु हि भगव इति ॥ १ ॥

अर्थ—प्रसिद्ध आरुणी का पुत्र श्वेतकेतु पञ्चाल देश की सभा में आये, उस श्वेतकेतु से जैवलि प्रवाहण वोले कि हे कुमार! आपको पिता ने क्या शिक्षा दी है तब कुमार वोला हे भगवन्! मैं भलेप्रकार सुशिक्षित हूं ॥

सं०—अब श्वेतकेतु से जैवलि प्रवाहण प्रश्न करते हैं:—

वेत्थ यदितोऽधिप्रजाः प्रयन्तीति न भगव इति वेत्थ यथा पुनरावर्त्तन्ता इति न भगव इति वेत्थ पथोर्देवया-नस्य पितृयाणस्य च व्यावर्त्तना इति न भगव इति ॥ २ ॥

अर्थ—जो यहां से यह सब प्रजा मरकर जहां जाती है उसको तुम जानते हो? श्वेतकेतु ने उत्तर दिया हे भगवन्! मैं नहीं जानता, और जो प्रजा लौटकर जिस प्रकार पुनः आती है उसको जानते हो? हे भगवन्! मैं नहीं जानता, देवयान और पितृयाणरूप मार्गों के पृथक् होने को जानते हो? हे भगवन्! मैं नहीं जानता ॥

वेत्थ यथाऽसौ लोको न सम्पूर्यत इति न भगव इति वेत्थ यथा

पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति नैव भगव इति ॥३॥

अर्थ-जिसप्रकार वह लोक नहीं भरता तुम जानते हो ? हे भगवन् ! मैं नहीं जानता, जैसे पञ्चमी आहुती में जल पुरुष होजाते हैं जानते हो ? हे भगवन् ! निश्चय मैं नहीं जानता ॥

अथ नु किमनुशिष्टोऽवोचथा यो हीमानि न विद्यात् कथꣳ सोऽनुशिष्टोब्रुवीतेति। स हाऽऽयस्तः पितुरर्द्धमेयाय । तꣳहोवाचाऽननुशिष्य वाव किल मा भगवानब्रवीदनुत्वाऽशिषमिति ॥ ४ ॥

अर्थ-इसके अनन्तर जैवलि ने तर्क से कहा कि फिर तुमने अपने आपको सुशिक्षित क्यों कहा जो निश्चयपूर्वक इनको नहीं जानते, वह तू शिक्षापाया हुआ कैसे कहा जासक्ता है. तब वह प्रसिद्ध श्वेतकेतु परास्त हुआ २ पिता के स्थान को चलाआया, और पिता को बोला कि बिना शिक्षा दिये हुए ही मुझसे आपने कहा कि तुझको मैंने शिक्षा दी है ॥

पञ्च मा राजन्यबन्धुः प्रश्नानप्राक्षीत्तेषां नैकञ्चनाशकं विवक्तुमिति। स होवाच यथा मा त्वं तदैतानवदो यथाहमेषां नैकञ्चन वेद यद्यहमिमानवेदिष्यं कथं तेनावक्ष्यमिति ॥ ५ ॥

अर्थ-श्वेतकेतु ने अपने पिता से कहा कि हे भगवन् ! क्षत्रियाधम जैवलिप्रवाहण ने मुझसे पांच प्रश्न पूछे परन्तु मैं उनमें से एक का भी उत्तर देने को समर्थ न हुआ, इस प्रकार वह प्रसिद्ध पिता पुत्र के वचन सुनकर बोला कि तुमने अपने आने के समय ही मुझसे जैसे वह प्रश्न थे उनको वैसे ही सुनाया, जिस प्रकार उनका उत्तर है मैं भी उनमें से एक भी नहीं जानता, हे पुत्र श्वेतकेतो ! यदि मैं इनको जानता होता तो तुमसे क्यों न कहता अर्थात् अवश्य कहता ॥

सं०-अब गौतम ऋषि का जैवलि राजा के पास जाना कथन करते हैं:—

स ह गौतमो राज्ञोऽर्द्धमेयाय । तस्मै ह प्राप्तायार्हाञ्चकार । स ह प्रातः सभाग उदेयाय। तꣳहोवाच मानुषस्य भगवन् गौतम वित्तस्य वरं वृणीथा इति। स होवाच तवैव राजन् मानुषं वित्तम्। यामेव कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्तामेव मे ब्रूहीति ॥६॥

अर्थ-वह प्रसिद्ध गौतम राजा के स्थान को प्राप्त हुए, उस आये हुए गौतम का राजा ने विधिपूर्वक सत्कार किया, उस प्रसिद्ध राजा के प्रातःकाल सभा

में आने पर ऋषि उसको प्राप्त हुए, उस प्राप्त हुए ऋषि से राजा बोले कि हे ऐश्वर्य्य सम्पन्न गौतम! मनुष्य सम्बन्धी धन का तुम वर मांगो, तब वह गौतम बोले कि हे राजन्! तुम्हीं को मनुष्यसम्बन्धी धन शुभ हो, कुमार के प्रति जो प्रश्न आपने किये थे वही कृपाकरके मुझको कहें ॥

सं०-अब राजा कथन करते हैं:—

स ह कृच्छ्रीबभूव । तꣳह चिरं वसेत्याज्ञापयाञ्चकार । तꣳहोवाच यथा मा त्वं गोतमाऽवदो यथेयं । न प्राक्त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति । तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति । तस्मै होवाच ॥ ७ ॥

अर्थ-वह प्रसिद्ध राजा उक्त कथन सुनकर दुःखी हुआ और उस प्रसिद्ध गौतम को आज्ञा दी कि तुम चिरकाल तक मेरे समीप वास करो, उस गौतम को राजा बोले कि हे गौतम जिसप्रकार आपने मुझसे पूछा है आपसे पूर्व यह विद्या ब्राह्मणों को प्राप्त न थी इसलिये सब लोकों में निश्चयपूर्वक क्षत्रियों का ही अधिकार हुआ, इस प्रकार गौतम को समझाकर पश्चात् उनको उपदेश किया ॥

भाष्य-एक समय आरुणि ऋषि का प्रसिद्ध पुत्र श्वेतकेतु पञ्चाल देश की सभा में आये, वहां पर उनसे जैवलि प्रवाहण बोले कि हे कुमार! आपको पिता उद्दालक ने क्या शिक्षा दी है? श्वेतकेतु ने कहा कि मैं सुशिक्षित हूं, तब राजा ने उससे पांच प्रश्न किये (१) यहां से प्रजा कहां जाती है (२) वहां से पुनः कैसे लौट आती है (३) देवयान और पितृयाण मार्ग का भेद कहां होता है (४) वह लोक क्यों नहीं भरजाता जहां यह सब प्रजा मरकर जाती है (५) पांचवी आहुति में जल पुरुष वाचक कैसे होजाता है? इन पांचो प्रश्नों में से श्वेतकेतु एक का भी उत्तर न देसका, तब वहां से निरुत्तर हो अपने पिता के समीप आकर बोला कि बिना शिक्षा दिये हुए ही आपने मुझसे कहा कि तुझको मैंने शिक्षा दी है, आज मैं राजा के सन्मुख बहुत लज्जित हुआ, इस प्रकार वह प्रसिद्ध पिता अपने पुत्र के बचन सुनकर बोले कि इन प्रश्नों का उत्तर मैं भी नहीं जानता, हे पुत्र श्वेतकेतो! यदि मैं इन प्रश्नों को जानता होता तो आपसे अवश्य कहता अर्थात् आपको इनका अवश्य उपदेश करता, तदनन्तर इसी निमित्त वह प्रसिद्ध गौतम ऋषि राजा के स्थान पर गये, राजा ने यथाविधि उनका सत्कार किया, फिर प्रातःकाल राजा सभा में आये और उन्होंनें ऋषि गौतम से कहा कि हे गौतम! आप मनुष्य सम्बन्धी धन का वर मुझसे मांगें, तब गौतम ने उत्तर दिया कि यह धन आप ही को शुभ हो, आपने कुमार के प्रति जो प्रश्न किये थे कृपाकरके उनका मुझको उपदेश करें, राजा बोले कि आप चिरकाल तक मेरे समीप वास करें तब यह विद्या आप मुझसे सीख सकेंगे और साथ ही यह भी कहा कि यह विद्या ब्राह्मणों को प्राप्त नहीं हुई और उनको प्राप्त न होने से क्षत्रियों की इस विद्या-

विषयक बड़ी ख्याति है अर्थात् इस विद्याविषयक सर्वत्र क्षत्रियों का ही अधिकार है, इस प्रकार बहुत कुछ कह गौतम को समझाकर पश्चात् राजा ने उनको पञ्चाग्नि विद्या का उपदेश किया ॥

इति तृतीयःखण्डः समाप्तः

अथ चतुर्थःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब जैवलि उक्त प्रश्नों का उत्तर गौतम के प्रति कथन करते हैं:—

असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिश्चन्द्रमाअङ्गारा नक्षत्राणिविस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

अर्थ-हेगौतम ! यह द्युलोक ही अग्निकुण्ड है उसकी आदित्य ही समिधायें, रश्मियें धूम, ज्वाला दिवस, चन्द्रमा अङ्गारे और नक्षत्र चिनगारे हैं ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति । तस्या आहुतेः सोमो राजा सम्भवति॥ २ ॥

अर्थ-प्रकृति की शक्तियें उस अग्नि में परमाणुरूप सद्द्रव्यों का हवन करती हैं उस आहुती से वाष्परूप जल उत्पन्न होता है ॥

भाष्य-इस द्युलोकस्थ अग्नि में प्रकृतिसिद्ध हवन का वर्णन कियागया है कि हे गौतम ! द्युलोकरूप अग्नि जो आदित्यरूप समिधाओं से प्रदीप्त है, नाना प्रकार के नक्षत्रों की रश्मियें जिसका धूम, सब प्रकार के आल्हादजनक पदार्थ उसके अङ्गार स्थानीय और सब नक्षत्र उसके चिनगारे हैं, उस अग्नि में इस प्रकृति की दिव्य शक्तियें अनेकविध परमाणुपुंजों का हवन कर रही हैं, इस हवन से सात्विक् पदार्थ उत्पन्न होते हैं, अर्थात् चन्द्रमा जैसे आल्हादजनक कोटानकोटि ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं, यह बृहत् यज्ञ परमात्मा की ओर से प्रकृति में प्रवाहरूप से सदैव होता रहता है, जैसाकि "सूर्य्याचन्द्रमसौधाता यथापूर्वमकल्पयत्" ऋग्० ८।८।४८।२ इस मन्त्र में वर्णन किया है, और इसी भाव को "वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः" यजु० ३१।१४ इस मन्त्र में इस प्रकार वर्णन किया है कि वसन्तऋतु इस यज्ञ का घृतस्थानी, ग्रीष्म समिद्स्थानीय और शरद् हवि है, इत्यादि, इस प्रकार इस यज्ञ का वर्णन वेद के अनेक स्थलों में पायाजाता है, अधिक क्या इस द्युलोकरूप अग्नि को इस प्राकृत यज्ञ के लिये उपनिषत्कारों ने प्रथम अग्निरूप से वर्णन किया है॥

इति चतुर्थःखण्डः समाप्तः

अथ पञ्चमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब द्वितीयाग्नि का कथन करते हैं:-

पर्जन्यो वाव गौतमाग्निस्तस्य वायुरेव समिदभ्रं
धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादुनयो विस्फुलिङ्गाः ॥ १॥

अर्थ-हे गौतम ! मेघ ही द्वितीय अग्निकुण्ड है, वायु ही उसकी समिधा, अभ्र ही धूम, बिजुली ही ज्वाला, वज्र ही अङ्गार और गर्जन ही विस्फुलिङ्ग हैं ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमꣳ राजानं
जुह्वति । तस्या आहुतेर्वर्षꣳसम्भवति॥२॥

अर्थ-प्रकृति की दिव्यशक्तियें उस पर्जन्यरूप अग्नि में वाष्परूप जल का हवन करती हैं उस आहुति से वृष्टि होती है ॥

भाष्य-इस खण्ड में द्वितीय अग्नि का वर्णन करते हुए रूपकालङ्कार से यज्ञ का कथन किया है कि यह मेघ ही अग्नि है इसमें वायु समिद् हैं, जो धुन्धाकार जल होजाता है वह धूम है, विद्युत् अर्चि और अशनि अङ्गार हैं, जो नभो मण्डल में हृदयों को विदीर्ण करता हुआ विद्युत् का शब्द उत्पन्न होता है वह इसके चिनगारे हैं, इस अग्नि में प्रकृति की दिव्य शक्तियें वाष्परूप जलों का हवन करती हैं जिससे वर्षा होती है अर्थात् केवल पर्जन्यरूप अग्नि ही वृष्टि का कारण नहीं किन्तु वायुयें समिधाओं का काम करतीं और प्रकृति की दिव्य शक्तियें सञ्चित् चतुरणुकादि परमाणुपुंज को एकत्रित करके जब उनकी आहुति देती हैं तब वृष्टि होती है, इस प्रकार पर्जन्यरूप अग्नि वृष्टि का कारण है ॥

इति पंचमःखण्डः समाप्तः

अथ षष्ठःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब तृतीय अग्नि का कथनकरते हैं:-

पृथिवी वाव गौतमाग्निस्तस्याः संवत्सर एव समिदाकाशो
धूमो रात्रिरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गाः ॥१॥

अर्थ-हे गौतम ! पृथिवी ही अग्नि है, वर्ष ही उसकी समिधा, आकाश ही धूम, रात्रि ही ज्वाला, दिशायें अङ्गार और अवान्तर दिशायें विस्फुलिङ्ग हैं ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वर्षं जुह्वति ।
तस्या आहुतेरन्नꣳसम्भवति ॥ २ ॥

अर्थ-प्रकृति की दिव्य शक्तियें उस पृथिवीरूप अग्नि में वर्षा का हवन करती हैं, उस आहुति से अन्न उत्पन्न होता है ॥

भाष्य-पृथिवीरूप अग्नि के सम्वत्सररूप काल को समिधास्थानीय इस कारण कथन किया गया है कि उक्त समिधाओं से पृथिवी में यज्ञ के फलरूप अन्न की उत्पत्ति होती है, और दिशा आकाशादि अन्न की उत्पत्ति में असाधारण कारण होने से अङ्गारादि स्थानीय कथन कियेगये हैं, इस अग्नि में जब प्रकृति की दिव्यशक्तियें आहुति देती हैं तो इससे अन्न की उत्पत्ति होती है अर्थात् पृथिवी से अन्न की उत्पत्ति एक बृहत् यज्ञ द्वारा होती है अन्यथा नहीं ॥

इति षष्ठःखण्डः समाप्तः

अथ सप्तमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब चतुर्थ अग्नि का कथन करते हैं:—

पुरुषो वाव गौतमाग्निस्तस्य वागेव समित्प्राणो धूमो जिह्वाऽर्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

अर्थ-हे गौतम ! पुरुष ही अग्नि है, वाणी ही उस अग्नि की समिधा, प्राण धूम, जिह्वा ज्वाला, चक्षु अङ्गार और श्रोत्र विस्फुलिङ्ग हैं ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति ।
तस्या आहुते रेतः सम्भवति ॥ २ ॥

अर्थ-प्रकृति की दिव्यशक्तिरूप इन्द्रिय उस अग्नि में अन्न की आहुति देते हैं उस आहुति से वीर्य्य उत्पन्न होता है ॥

भाष्य-यहां पुरुष को अग्नि इस अभिप्राय से वर्णन किया है कि इस अग्नि में रसनादि इन्द्रियें षट् रसों का हवन करते हैं और इस आहुति से रेतस=वीर्य्य की उत्पत्ति होती है ॥

इति सप्तमःखण्डः समाप्तः

अथ अष्टमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब गर्भाधान के लिये योषारूप पञ्चमाग्नि का कथन करते हैं :—

योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिद्य-दुपमन्त्रयते स धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति

तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

अर्थ-हे गौतम ! प्रकृति ही अग्नि है, उसकी संगरूप आसक्ति ही उसमें समिधा हैं, जो रजोगुण के भावों से अपनी ओर खींचती है वह धूम, कारणता ज्वाला है, जो अपने भीतर पुरुष को आसक्त करलेती है वह अङ्गार और जो प्राकृत आनन्द है वह विस्फुलिङ्ग हैं ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति ।
तस्या आहुतेर्गर्भः सम्भवति ॥ २ ॥

अर्थ-उस अग्नि में प्रकृति की दिव्यशक्तियें बीज की आहुति देती हैं उस आहुति से गर्भ होता है ॥

भाष्य-" योषा " के अर्थ यहां मिश्रीभाव को प्राप्त होने वाली प्रकृति के हैं, इसको अग्निरूप इसलिये वर्णन किया है कि प्रकृतिरूप अग्नि में आहुति देने से बिना कोई भी भाव उत्पन्न नहीं होता, और " उपस्थ " के अर्थ यहां संग के हैं किसी गुह्य इन्द्रिय के नहीं, जैसाकि "रथोपस्थमुपाविशत्" गी० १। ४६ में रथ-सम्बन्धी स्थानविशेष के अर्थ " उपस्थ " के हैं ॥

तात्पर्य्य यह है कि प्रकृतिरूप अग्नि में जब बीजरूप आहुति दीजाती है तब उससे गर्भ स्थिर होकर अङ्कुरादिकों की उत्पत्ति होती है, यहाँ प्रकृति और गर्भाधान का कथन प्राणीमात्र के लिये है केवल मनुष्य के लिये नहीं, इससे सिद्ध है कि " योषा " के अर्थ यहां स्त्री के नहीं किन्तु प्रकृति के हैं, क्योंकि यदि " योषा " के अर्थ स्त्री और उपस्थ के अर्थ गुह्यइन्द्रिय होते तो जो कीटादि स्वेदज हैं उनके लिये यह गर्भाधानविधि कैसे लगसक्ती, इसीलिये उक्त प्राकृतिक हवन मानना ही समीचीन है ॥

भाव यह है कि यहां प्रकृति और पुरुष के जोड़े से गर्भाधान का कथन किया गया है किसी स्त्री पुरुष के जोड़े से नहीं, इसलिये उपस्थ आदिकों के श्लील अर्थ करके जिन टीकाकारों ने इस श्लोक में भाव को बिगाड़ा है वह तात्पर्य्य यहां नहीं ॥

इति अष्टमःखण्डः समाप्तः

अथ नवमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब उक्त पांचवीं आहुति का फल कथन करते हैं :—

इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति । स उल्वा-

ऽऽवृतो गर्भो दश वा मासानन्तः शयित्वा यावद्वाथजायते॥१॥

अर्थ-इस प्रकार निश्चयकरके पांचवीं आहुति में जल पुरुषवाची होते हैं, वह गर्भ जेर से आवृत होकर दश महीने अथवा न्यूनाधिक माता के उदर में शयन करके अनन्तर उत्पन्न होता है॥

स जातो यावदायुषं जीवति । तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एव हरन्ति । यत एवेतो यतः सम्भूतो भवति ॥२॥

अर्थ-वह उत्पन्न हुआ पुरुष यावदायुष जीवित रहकर फिर कर्मानुकूल मरण को प्राप्त होता है तब उसको यहां से अग्नियें हीं जहां से उत्पन्न होता है वहीं लेजाती हैं॥

इति नवमःखण्डः समाप्तः

अथ दशमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब तृतीय प्रश्न का उत्तर देते हैं:—

तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरन्ह आपूर्यमाणपक्षमापूर्य्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङेति मासाᳪस्तान् ॥ १ ॥

अर्थ-वह पुरुष जो पूर्वोक्त प्रकार से उक्त विद्या को जानते हैं और वह पुरुष जो वन में श्रद्धापूर्वक तितिक्षा करते हुए उपासना करते हैं वह दोनों अर्चिरादि मार्ग को प्राप्त होते हैं, अर्चिरादि मार्ग से दिन को, दिन से पाक्षिकी दशा को, पाक्षिकी दशा से उत्तरायण के जो छ मास हैं उनको प्राप्त होते हैं॥

मासेभ्यः संवत्सरᳪसंवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति ॥ २ ॥

अर्थ-षट्मासों से संवत्सर को, संवत्सर से आदित्य को, आदित्य से चन्द्रलोक को, चन्द्रलोक से विद्युत् को प्राप्त होकर फिर उस अवस्था में देवभाव को प्राप्त होता है, वह इन लोगों को ब्रह्म को प्राप्त करादेता है, यह देवयान मार्ग है॥

सं०—अब पितृयाणमार्ग का कथन करते हैं:—

अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्तेदत्तमित्युपासते ते धूममभि-

सम्भवन्ति धूमाद्रात्रिꣳरात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान्षड्द-
क्षिणैति मासाꣳस्तान्नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति ॥ ३ ॥

अर्थ-इसके अनन्तर जो यह पुरुष ग्राम में रहकर धर्मशालायें तथा यज्ञादि कर्म और दान देना आदि कर्म करते हैं वह धूम को प्राप्त होते हैं, धूम से रात्रि को, रात्रि से कृष्णपक्ष को, कृष्णपक्ष से जो दक्षिणायन के छः मास हैं उनको प्राप्त होते हैं, यह संवत्सर को प्राप्त नहीं होते ॥

मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष
सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति ॥ ४ ॥

अर्थ-मासों से पितृलोक को, पितृलोक से आकाश को, आकाश से चन्द्रलोक को प्राप्त होते हैं,यह चन्द्रमा जो स्वयंप्रकाश है वह देवों का अन्न है उसको देव खाते हैं, यह पितृयाण मार्ग है ॥

सं०—अब उनकी पुनरावृत्ति कथन करते हैं:—

तस्मिन्यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानंपुनर्निव-
र्तन्ते। यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो
भवति धूमो भूत्वाभ्रं भवति ॥ ५ ॥

अर्थ-उस चन्द्रलोक में जबतक कर्मों का भोग है तबतक वहां रहकर इसके अनन्तर इसी मार्ग को फिर लौट आते हैं, जिसप्रकार प्रथम आकाश को प्राप्त हुए थे उसी क्रम से लौटते हैं, आकाश से वायु को, वायु से धूम होते हैं और धूम से फिर अभ्र=बादल होजाते हैं ॥

अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति ।
त इह व्रीहि यवा ओषधि वनस्पतयस्तिलमाषा
इति जायन्तेऽतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्न-
मत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति ॥ ६ ॥

अर्थ-अभ्र होकर फिर मेघ होते हैं, मेघ होकर फिर वर्षते हैं, फिर वह चावल, जौ, ओषधि, वनस्पतियें, तिल, उड़द, यह सब होते हैं, इनसे उनका निकलना अति कठिन होजाता है, निश्चयकरके जो जो उस अन्न को खाता है और जो गर्भाधान करता है फिर वह उस गर्भ में चलाजाता है ॥

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनि
मापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाऽ

थ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा ॥ ७ ॥

अर्थ-वह जो इस लोक में उत्तम कर्मों वाले हैं वह निश्चयकरके शीघ्र ही जो उत्तम योनि हैं उनको प्राप्त होते हैं, ब्राह्मणयोनि को अथवा क्षत्रिययोनि को अथवा वैश्ययोनि को, और जो यहां निन्दित कर्मों वाले हैं वह शीघ्र ही निन्दित योनि को प्राप्त होते हैं, कुत्तेकी योनि को अथवा शूकर योनि को अथवा चण्डाल योनि को प्राप्त होते हैं ॥

अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन तानीमानी क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयꣳस्थानं तेनासौ लोको न सम्पूर्यते तस्माज्जुगुप्सेत तदेष श्लोकः ॥ ८ ॥

अर्थ-और उक्त दोनों मार्गों में से किसी एक मार्ग से भी नहीं जाते, वह अज्ञानी क्षुद्र जीव वारम्वार आवर्त्तनशील होते हैं और उनकी यह गति होती है कि पैदा हो मर इस प्रकार वारंवार जिसमें आवागमन वना रहता है यह तृतीय स्थान है, इससे वह लोक नहीं भरता, इस कारण अपने आपकी रक्षा करे, उक्त विषय में यह श्लोक है ॥

स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबꣳश्च गुरोस्तल्पमावसन् ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाऽऽचरꣳस्तैरिति ॥९॥

अर्थ-सुवर्ण की चोरी करने वाला, शराब पीने वाला, गुरु की स्त्री से गमन करने वाला, ब्रह्महत्या करने वाला, यह चारो पतित होजाते हैं और पांचवां इनका संग करने वाला भी पतित होजाता है ॥

सं०-अब उक्त पञ्चाग्नि विद्या का फल कथन करते हैं :—

अथ ह य एतानेवं पंचाग्नीन् वेद न सह तैरप्याचरन् पाप्मना लिप्यते शुद्धःपूतः पुण्यलोको भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥ १० ॥

अर्थ—अव यह कथन करते हैं कि जो इन पंचाग्नियों को उक्त प्रकार से जानता है वह निश्चय इनके साथ आचरण करता हुआ भी पापरूपी मल से लिपायमान नहीं होता, जो उक्त प्रकार से जानता है वह शुद्ध पवित्र पुण्यलोक वाला होता है ॥

भाष्य—" य एवं वेद " पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, महर्षि गौतम ने जो जैवलि राजा के निकट जाकर यह प्रार्थना की थी कि हे भगवन् ! जो आपने कुमार से प्रश्न किये थे कृपाकरके उनका मेरे प्रति समाधान करें, राजा ने पृथक् २ पांचो प्रश्नों का समाधान इस प्रकार किया " किसप्रकार जल पञ्चमी आहुति में पुरुषाकार होते हैं " ? इस प्रश्न का समाधान पञ्चाग्नि-विद्या द्वारा किया, जो लोग आरण्य में रहकर श्रद्धा तथा तप से अपने जीवन को व्यतीत करते हैं वह प्रथम ज्ञानार्चि को प्राप्त होते हैं फिर दिन के समान उस अर्चि का प्रकाश होता है फिर पूर्णमा के चांदसदृश उनके विमलज्ञान का प्रकाश होजाता है, इत्यादि इस प्रकार उत्तरोत्तर गति को प्राप्त होते हुए एक प्रकार के अमानवभाव को प्राप्त होते हैं इसी का नाम " देवयान " है, और इनसे भिन्न जो लोग ग्राम में रहकर यज्ञादि कर्म करते हैं वह कर्म की उच्च अवस्था को प्राप्त होते हैं यह " पितृयाण " मार्ग है, इसप्रकार देवयान और पितृयाण का भेद बतलाया, उत्तम कर्मों वाले उत्तम योनि को और नीच कर्मों वाले नीच योनि को प्राप्त होते हैं, इसप्रकार प्रजा की उत्पत्ति तीसरे प्रश्न के उत्तर में कथन की, क्षुद्र कीट पतंगादि द्वारा पुनः २ उत्पत्ति का कथन करके चतुर्थ प्रश्न का उत्तर दिया और आवागमन के बने रहने से वह लोक भरता नहीं, इससे पञ्चम प्रश्न का उत्तरकथन किया, पञ्चाग्नि विद्या के उपक्रम द्वारा जैवलि प्रवाहण ने गौतम के पांचो प्रश्नों का उत्तर दिया, जिससे महर्षि गौतम भलीभांति पंचाग्निविद्या के तत्व को समझ गये ॥

इति दशमःखण्डः समाप्तः

अथ एकादशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०- अब एक आख्यायिका द्वारा ब्रह्मविषयक विचार करते हैं:-

प्राचीनशाल औपमन्यवः सत्ययज्ञः पौलुषि-
रिन्द्रद्युम्नो भाल्लवेयो जनः शार्कराक्ष्यो बुडिल
आश्वतराश्विस्ते हैते महाशाला महाश्रोत्रियाः
समेत्य मीमा॰साञ्चक्रुः को नु आत्मा किं ब्रह्मेति॥१॥

अर्थ—उपमन्यु के पुत्र प्राचीनशाल, पुलुष के पुत्र सत्ययज्ञ, भाल्लवि के पुत्र इन्द्रद्युम्न, शर्कराक्ष के पुत्र जन और अश्वतराश्वि के पुत्र बुडिल, यह पांचो

बड़े गृहस्थ और श्रोत्रिय = वेदवेत्ता इकट्ठे होकर विचार करने लगे कि हमारा आत्मा क्या है और ब्रह्म क्या है ॥

सं०- अब सबका मिलकर आरुणि उद्दालक के पास जाना कथन करते हैं:-

ते ह सम्पादयाञ्चक्रुरुद्दालको वै भगवन्तोऽयमारुणिः सम्प्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति । तꣳहन्ताभ्यागच्छामेति । तꣳहाभ्याजग्मुः ॥ २ ॥

अर्थ—उन सब विद्वानों ने निश्चय किया कि यह जो आरुणि उद्दालक हैं वह निश्चयकरके आजकल भलेप्रकार इस वैश्वानर आत्मा को जानते हैं, हे मित्रो ! हम लोग अब उनके समीप चलें, यह विचारकर वह प्रसिद्ध पांचो उद्दालक के पास आये ॥

स ह सम्पादयाञ्चकार-प्रक्ष्यन्ति मामिमे महाशाला महाश्रोत्रियास्तेभ्यो न सर्वमिव प्रतिपत्स्ये । हन्ताहमन्यमभ्यनुशासानीति ॥ ३ ॥

अर्थ—वह प्रसिद्ध उद्दालक उन सब को आया हुआ देख विचार करने लगे कि यह बड़े गृहस्थ ब्रह्मवेत्ता मुझसे पूछेंगे, और उनको सर्व प्रकार से उत्तर देने में समर्थ नहीं, इसलिये इस समय मैं अन्य उपदेष्टा इनको बतलाऊं, इसप्रकार उन्होंने विचार किया ॥

सं०—अब उद्दालक उनके प्रति अन्य आचार्य्य का कथन करते हैं:—

तान् होवाचाश्वपतिर्वै भगवन्तोऽयं कैकेयः सम्प्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति । तꣳ हन्ताभ्यागच्छामेति । तꣳ हाभ्याजग्मुः ॥ ४ ॥

अर्थ—उन प्रसिद्ध विद्वानों से उद्दालक बोले कि हे पूजनीय देवो ! यह कैकेय के पुत्र अश्वपति निश्चयकरके इस समय इस वैश्वानर ब्रह्म को भलेप्रकार जानते हैं सो आओ हम सब उनके निकट चलें, इस प्रकार विचार कर वह सब उनके समीप उपस्थित हुए ॥

सं०—अब राजा अश्वपति कथन करते हैं:—

तेभ्यो ह प्राप्तेभ्यः पृथगर्हाणि कारयाञ्चकार । स ह प्रातः सञ्जिहान उवाच न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो

न मद्यपो नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतो यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि यावदेकैकस्मा ऋत्विजे धनं दास्यामि तावद्भगवद्भ्यो दास्यामि वसन्तु मे भगवन्त इति ॥ ५ ॥

अर्थ—जब वह प्रसिद्ध महात्मा वहां पहुंच गये तब राजा ने उनकी पृथक् पृथक् पूजा कराई, वह प्रसिद्ध राजा प्रातःकाल उठते ही उनके समीप आकर बोले कि मेरे देश में न चोर है, न कृपण, न मद्य पीने वाला, न अग्निहोत्रादियज्ञ न करने वाला न मूर्ख, न कोई व्यभिचारी है, और जब व्यभिचारी ही नहीं तो व्यभिचारिणी स्त्रियां कैसे होसक्ती हैं, हे ऐश्वर्यसम्पन्न विद्वानो ! मैं यज्ञ करने वाला हूं, जितना एक एक ऋत्विक् को धन दूंगा उतना ही आप लोगों को दूंगा, आप लोग मेरे यहां पर निवास करें, यह प्रार्थना राजा ने की ॥

सं०—अब वह ब्रह्मवेत्ता राजा के प्रति कथन करते हैं:-

ते होचुर्येन हैवार्थेन पुरुषश्चरेत्तꣳहैव वदेदात्मान-मेवेमं वैश्वानरꣳसम्प्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहीति ॥६॥

अर्थ—वह प्रसिद्ध विद्वान् बोले कि जो जिस प्रयोजन से जिसके निकट जाय उससे वही प्रयोजन कहे, सो हम लोग इस प्रयोजन से आपकी सेवा में उपस्थित हुए हैं कि आप इस वैश्वानर परमात्मा का ही इस समय विचार करते हैं उस आत्मा का ही हम लोगों के प्रति कथन करें, यह हमारी प्रार्थना है ॥

सं०—अब राजा कथन करते हैं:—

तान् होवाच प्रातर्वः प्रतिवक्तास्मीति । तेह समित्पाणयः पूर्वाह्णे प्रतिचक्रमिरे । तान् हानुपनीयैवैतदुवाच ॥ ७ ॥

अर्थ—उन महात्माओं से वह प्रसिद्ध राजा बोले प्रातःकाल आप लोगों को प्रत्युत्तर दूंगा, वह महात्मा समिधा लेकर पूर्वाह्ण काल में राजा के समीप गये, तब राजा उपनयन न कराता हुआ ही उनसे बोला कि:—

इति एकादशःखण्डः समाप्तः

अथ द्वादशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब राजा एक एक करके प्रत्येक से प्रश्न करते हुए प्रथम "औपमन्यव" से पूछते हैं:-

औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्स इति ।
दिवमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै सुतेजा
आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से । तस्मा-
त्तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते ॥ १ ॥

अर्थ—हे औपमन्यव ! आप किस लक्षणविशिष्ट ब्रह्म की उपासना करते हैं ? हे ऐश्वर्य्यसम्पन्न राजन् ! मैं द्युलोक को ही उपासता हूं, फिर राजा बोले यह उत्तम तेजोराशि वैश्वानर आत्मा है, उस आत्मा को आप उपासते हैं इसी कारण आपके कुल में सुत, प्रसुत, आसुत* यह तीनों प्रकार के सोमरस देख पड़ते हैं ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भव-
त्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवात्मानं वैश्वानर-
मुपास्ते । मूर्द्धात्वेष आत्मन इति होवाच ।
मूर्द्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

अर्थ—आप अन्न खाते तथा प्रिय देखते हैं, इसी प्रकार जो कोई इस वैश्वानर आत्मा की उपासना करता है वह भी अन्न खाता, प्रिय देखता है, उसके कुल में ब्रह्मतेज होता है परन्तु यह वैश्वानर=व्यापक ब्रह्म सबसे शिरोमणि है, इस प्रकार कथन करके राजा बोले कि यदि आप मेरे पास न आते तो तुम्हारा शिर गिर जाता अर्थात् तुम विद्वानों में लज्जित होते ॥

इति द्वादशःखण्डः समाप्तः

---

* सोम को अहर्गण में "सुत" अहीन में "प्रसुत" और सत्र यज्ञ में "आसुत" कहते हैं अर्थात् आपके कुल में पूर्णरीति से अग्निहोत्री पाये जाते हैं, इसका वर्णन "मीमांसार्य्यभाष्य" में किया गया है विशेषाभिलाषी वहां देखें ॥

अथ त्रयोदशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब राजा "पौलुषि" से प्रश्न करते हैं:—

अथ होवाच—सत्ययज्ञं पौलुषिम्। प्राचीनयोग्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्यादित्यमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै विश्वरूप आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से। तस्मात्तव बहुविश्वरूपं कुले दृश्यते ॥१॥

अर्थ-इसके अनन्तर वह प्रसिद्ध राजा पुलुष ऋषि के पुत्र सत्ययज्ञ से बोले कि हे प्राचीनयोग्य! आप किस लक्षणविशिष्ट ब्रह्म की उपासना करते हैं? हे ऐश्वर्यसम्पन्न राजन्! मैं आदित्य की ही उपासना करता हूं, फिर राजा बोले कि निश्चयकरके यह आदित्य वैश्वानर आत्मा विश्वरूप है, आप जिस आत्मा की उपासना करते हैं इसी कारण आपके कुल में विविध प्रकार के पदार्थ देख पड़ते हैं॥

प्रवृत्तोऽश्वतरीरथो दासीनिष्कोऽत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्स्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते। चक्षुष्ट्वेतदात्मन इति होवाचान्धोऽभविष्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥२॥

अर्थ-अश्वतरीरथ, दासी, मणिमोतियों के हार आपके पास हैं, अन्न खाते हैं, प्रिय देखते हैं, इसी प्रकार जो इस वैश्वानर आत्मा की उपासना करते हैं वह भी अन्न को खाते, प्रिय देखते हैं परन्तु यह आदित्य वैश्वानर का चक्षु है, यह कथन करके राजा बोले कि जो आप मेरे निकट न आते तो अज्ञानी ही बने रहते॥

इति त्रयोदशःखण्डः समाप्तः

अथ चतुर्दशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब राजा "भाल्लवेय" से प्रश्न करते हैं:—

अथ होवाचेन्द्रद्युम्नं भाल्लवेयम्। वैयाघ्रपद्य कं त्वमा-

त्मानमुपास्से इति वायुमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै पृथग्वर्त्मात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से । तस्मात्त्वां पृथग्बलय आयन्ति पृथग्रथश्रेणयोऽनुयन्ति ॥ १ ॥

अर्थ-इसके अनन्तर वह प्रसिद्ध राजा भाल्लवि ऋषि के पुत्र इन्द्रद्युम्न से बोले कि हे वैयाघ्रपद्य ! आप किस लक्षणविशिष्ट ब्रह्म की उपासना करते हैं ? इन्द्रद्युम्न बोला कि हे ऐश्वर्य्यसम्पन्न राजन् ! मैं वायु की ही उपासना करता हूं, तब राजा बोले निश्चयकरके यह विविध प्रकार से गमन करने वाला वायु ही वैश्वानर ब्रह्म है, आप जिस आत्मा की उपासना करते हैं इसी कारण आपको नाना भेटें आती हैं और विविध यान आपके पीछे चलते हैं ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते । प्राणस्त्वेष आत्मान इति होवाच । प्राणस्त उदक्रमिष्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

अर्थ-अन्न खाते हैं, प्रिय देखते हैं, इसी प्रकार जो इस वैश्वानर आत्मा की उपासना करते हैं वह भी अन्न खाते, प्रिय देखते हैं, इसके कुल में ब्रह्मतेज होता है परन्तु यह वायु प्राण समान है, फिर राजा बोले कि जो आप मेरे निकट न आते तो तुम्हारे प्राण निकल जाते अर्थात् आप इस विज्ञान से रहित होकर जीवन व्यतीत करते ॥

इति चतुर्दशःखण्डः समाप्तः

अथ पंचदशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब राजा "शार्कराक्ष्य" से कथन करते हैं:—

अथ होवाच-जनᳪशर्कराक्ष्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्याकाशमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै बहुल आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से । तस्मात्त्वं बहुलोऽसि प्रजया च धनेन च ॥ १ ॥

अर्थ—इसके अनन्तर वह प्रसिद्ध राजा जनशार्कराक्ष्य से बोले कि आप किस लक्षणविशिष्ट ब्रह्म की उपासना करते हैं ? तब वह बोला कि हे ऐश्वर्य्य सम्पन्न राजन् ! मैं आकाश ही की उपासना करता हूं, निश्चयकरके यह बहुव्यापक वैश्वानर आत्मा है जिस आत्मा का आप उपासन करते हैं, इसी कारण आप प्रजा और धन से बहुव्यापक हैं ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते । सन्देहस्त्वेष आत्मन इति होवाच । सन्देहस्ते व्यशीर्य्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

अर्थ—अन्न खाते हैं, प्रिय देखते हैं, इसी प्रकार जो इस वैश्वानर आत्मा की उपासना करते हैं वह भी अन्न को खाते प्रिय देखते हैं, उसके कुल में ब्रह्मतेज होता है परन्तु यह आत्मा का मध्य=धड़समान है, राजा ने कहा कि जो आप मेरे निकट न आते तो तुम्हारा धड़ टूट जाता ॥

इति पंचदशःखण्डः समाप्तः

अथ षोडशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब राजा "आश्वतराश्वि" से प्रश्न करते हैं:—

अथ होवाच-बुडिलमाश्वतराश्विम् । वैयाघ्रपद्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्यप एव भगवो राजन्निति होवाचैषवै रयिरात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से । तस्मात्त्वꣳरयिमान् पुष्टिमानसि ॥ १ ॥

अर्थ—इसके अनन्तर आश्वतराश्वि बुडिल से वह प्रसिद्ध राजा बोले, हे वैयाघ्रपद्य ! आप किस लक्षणविशिष्ट आत्मा की उपासना करते हैं ? वह प्रसिद्ध बुडिल बोले कि हे ऐश्वर्य्यसम्पन्न राजन् ! मैं जल की ही उपासना करता हूं, तब राजा बोले निश्चयकरके यह ऐश्वर्य्यसम्पन्न ही वैश्वानर आत्मा है, आप जिस आत्मा की उपासना करते हैं इसी कारण ऐश्वर्य्यसम्पन्न और पुष्ट हैं ॥

अत्स्यन्नं पश्ययसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते बस्तिस्त्वेष आत्मन इति होवाच ।

वस्तिस्ते व्यभेत्स्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

अर्थ—अन्न खाते हैं, प्रिय देखते हैं, इसी प्रकार जो इस वैश्वानर आत्मा की उपासना करते हैं वह भी अन्न खाते प्रिय देखते हैं, इसके कुल में ब्रह्मतेज होता है, परन्तु यह आत्मा जलस्वरूप है, यह राजा ने कहा, जो आप मेरे समीप न आते तो आपका जलसंग्रह छिन्नभिन्न होजाता ॥

इति षोडशःखण्डः समाप्तः

अथ सप्तदशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब राजा "उद्दालक" के प्रति प्रश्न करते हैं:—

अथ होवाचोद्दालकमारुणिं गौतम कं त्वमात्मा-
नमुपास्स इति पृथिवीमेव भगवो राजन्निति हो-
वाचैष वै प्रतिष्ठात्मावैश्वानरोयं त्वमात्मानमुपास्से-
तस्मात्त्वं प्रतिष्ठितोऽसि प्रजया च पशुभिश्च ॥ १ ॥

अर्थ—इसके अनन्तर वह प्रसिद्ध राजा गौतम गोत्रोत्पन्न आरुणि के पुत्र उद्दालक से बोले कि आप किस लक्षणविशिष्ट ब्रह्म की उपासना करते हैं? प्रसिद्ध उद्दालक ने उत्तर दिया कि हे ऐश्वर्य्यसम्पन्न राजन्! मैं पृथिवी की ही उपासना करता हूं, तब राजा बोले निश्चयकरके यह वैश्वानर आत्मा का ही प्रतिष्ठा=पाद है, आप जिस आत्मा की उपासना करते हैं इसी कारण प्रजा और पशुओं से प्रतिष्ठित हैं ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भव-
त्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वा-
नरमुपास्ते पादौ त्वेतावात्मन इति होवाच पादौ
ते व्यम्लास्येतां यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

अर्थ—अन्न खाते हैं, प्रिय देखते हैं, जो उक्त प्रकार से इस वैश्वानर आत्मा की उपासना करते हैं वह भी अन्न खाते प्रिय देखते हैं, इसके कुल में ब्रह्मतेज होता है, फिर प्रसिद्ध राजा बोले परन्तु यह पृथिवी उस ब्रह्म का पाद समान है, जो आप मेरे पास न आते तो आपके पाद=पैर शिथिल होजाते ॥

भाष्य—पूर्वोक्त श्लोकों में वैश्वानर शब्द परमात्मा का वाचक है, जैसाकि "विश्वेषां विकाराणां नरः" "विश्वानरः" विश्वानर एव वैश्वानरः"=

जो प्रकृति के सब कार्य्यों का कर्त्ता हो उसका नाम **"विश्वानर"** और इसी का नाम **"वैश्वानर"** है, यहां स्वार्थ में तद्धित प्रत्यय है अथवा विश्वेनर= सब जीवों का जो स्वामी हो उसका नाम यहां **"वैश्वानर"** है, यद्यपि वैश्वानर शब्द जाठराग्नि में भी वर्तता है परन्तु यहां परमात्मा विषयक आया है, क्योंकि उक्त छओं महात्माओं से राजा ने बार २ वैश्वानर की उपासना का प्रश्न करके उनकी न्यूनता को पूर्ण किया है, और जो इस प्रकरण में वैश्वानर को प्रादेशमात्र कहा है वह **"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुष."** इस कठ० के वाक्य समान हृदयगत होने के अभिप्राय से कथन किया है, वेदान्तसूत्रों में महर्षि व्यास ने कई एक ऋषियों के मत दिखलाकर इस बात को बलपूर्वक सिद्ध किया है कि वैश्वानर की उपासना से तात्पर्य्य परमात्मा की उपासना का है किसी जड़ पदार्थ की उपासना का नहीं, स्वामी शङ्कराचार्य्य आदि भाष्यकार भी वैश्वानर उपासना से निराकार ब्रह्म की उपासना का ही ग्रहण करते हैं किसी साकार पदार्थ की उपासना का नहीं, और यह बात इस प्रकरण से भी स्पष्ट प्रतीत होती है कि जब **"सत्ययज्ञपौलुषि"** ने राजा के पूछने पर अपने आपको आदित्य का उपासक बतलाया तो राजा ने कथन किया कि आदित्य उस वैश्वानर का चक्षु है उक्त उपासक को यह भी बोधन किया कि यदि तुम मेरे समीप न आते तो चक्षुहीन होजाते, जिसका भाव यह है कि यदि तुम आदित्य=सूर्य्य की ही उपासना करते और उसको ब्रह्म का चक्षुस्थानीय न जानते तो तुम सदैव के लिये अज्ञानी रहते. इसी भाव से वेद तथा उपनिषदों के कई एक स्थलों में सूर्य्य तथा चन्द्रमा को नेत्र स्थानी कथन कियागया है किसी साकार मूर्त्ति के अभिप्राय से नहीं।

स्मरण रहे कि यदि आदित्यादिकों को ब्रह्म मानकर उनकी पूजा करना उपनिषत्कारों को अभीष्ट होता तो इस स्थल में आदित्यादि जड़ों की व्यावृत्ति करके एकमात्र वैश्वानर ब्रह्म की उपासना कथन न कीजाती और नाही चक्षु, प्राण, शरीर, आदिकों से रहित होने का भय जड़ोपास्ति में उपासक को बतलाया जाता ॥

सार यह है कि इस स्थल में वैश्वानर को विराटरूपद्वारा वर्णन कियागया है जैसाकि पुरुषसूक्त में पुरुष को विराट्रूप से वर्णन किया है किसी मूर्त्ति के अभिप्राय से नहीं, इसीप्रकार सब उपासकों की उपासनाओं में राजा ने न्यूनता बतलाकर एकमात्र वैश्वानर की उपासना का ही विधान किया है जो उक्त श्लोकों के अर्थों से भलेप्रकार स्पष्ट है, इसलिये अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं ॥

इति सप्तदशःखण्डः समाप्तः

अथ अष्टादशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब अश्वपति राजा सबको अभिमुख करके उक्त ज्ञान का फल कथन करते हैं:—

तान् होवाचैते वै खलु यूयं पृथगिवेममात्मानं वैश्वानरं विद्वाꣳसोऽन्नमत्थ। यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति ॥ १ ॥

अर्थ—उन प्रसिद्ध महात्माओं से राजा बोले कि निश्चयकरके आप लोग भि॰ २ रूपसे इस वैश्वानर आत्मा को जानते हुए अन्न खाते हैं परन्तु जो इस ब्रह्मको उक्त प्रकार से प्रादेशमात्र सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रत्यक्षवत् जानने वाला व्यापक ब्रह्मको उपासता है वह सब लोकों में, सब भूतों में और सब आत्माओं में अन्न खाता अर्थात् आनन्द भोगता है॥

सं०—अब उक्त वैश्वानर आत्मा को रूपकालङ्कार द्वारा कथन करते हैं:—

तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्द्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्माऽऽत्मा सन्देहो बहुलो वस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्य्यपचन आस्यमाहवनीयः ॥ २ ॥

अर्थ—उस प्रसिद्ध व्यापक ईश्वर का तेजोराशि द्युलोक ही मूर्द्धा, सूर्य्य चक्षु, वायु प्राण समान, आकाश धड़ समान, वस्ति जल, पृथिवी पाद, यज्ञवेदि वक्षस्थल समान, यज्ञकुश लोम समान, गार्हपत्याग्नि हृदय, दक्षिणाग्नि मन समान और आहवनीयाग्नि ही मुख समान है॥

इति अष्टादशःखण्डः समाप्तः

अथ एकोनविंशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब प्रथमाहुति द्वारा प्राणवायु की तृप्ति कथन करते हैं:—

तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयꣳस यां प्रथमामाहुतिं

जुहुयात्तां जुहुयात्प्राणाय स्वाहेति प्राणस्तृप्यति ॥ १ ॥

अर्थ—जो होमीय द्रव्य प्रथमाहुति में हवन करे उस होमीय द्रव्य से वह यजमान जिस प्रथम आहुति को देवे उसकी विधि यह है कि उस प्रथमाहुति को "प्राणाय स्वाहा" यह बोलकर अग्नि में देवे, इससे प्राण तृप्त होते हैं ॥

प्राणे तृप्यति चक्षुस्तृप्यति चक्षुषितृप्यत्यादित्य-स्तृप्यत्यादित्ये तृप्यति द्यौस्तृप्यति दिवि तृप्य-न्त्यां यत्किञ्च द्यौश्चादित्यश्चाधितिष्ठतस्तत्तृ-प्यति तस्यनुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन-तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥

अर्थ-प्राण के तृप्त होने से चक्षु तृप्त होता है, चक्षुओं के तृप्त होने से आदित्य तृप्त होता है, आदित्य के तृप्त होने से द्युलोक तृप्त होता है, द्युलोक के तृप्त होने से जो कुछ द्युलोक और आदित्य के आश्रित है वह सब तृप्त होता है, इन सब की तृप्ति के पश्चात् प्रजा, पशु, अन्न, तेज और ब्रह्मतेज से यजमान तृप्त होता है ॥

भाष्य—इन श्लोकों में हवन द्वारा प्रथमाहुति से प्राणवायु की तृप्ति इस प्रकार कथन कीगई है कि जब होमीय द्रव्य से प्रथमाहुति देवे तो "प्राणाय स्वाहा" यह बोलकर देवे, इससे प्राण तृप्त होते हैं, यहां "प्राण" शब्द परमात्मा और भौतिक वायु का बोधक है, जिसका आशय यह है कि प्रथम यजमान परमात्मा का स्तवन करे, जैसाकि पीछे कई स्थलों में वर्णन कर आये हैं और यह तो प्रत्यक्ष ही है कि हवन से वायु शुद्ध होती है, वायु का शुद्ध होना ही उसकी तृप्ति है, वायु के तृप्त होने से चक्षु की तृप्ति होती है, क्योंकि हवनादि यज्ञों में प्रथम नेत्र का ही सम्बन्धविशेष होता है, प्रकाशक होने से यहां नेत्रशक्तिविशेष का नाम आदित्य है सो नेत्र के तृप्त होने से आदित्य की तृप्ति और चक्षुगोलक का नाम द्युलोक है, सो आदित्य के तृप्त होने से चक्षुगोलक की तृप्ति होती है, और द्युलोक तथा आदित्य के तृप्त होने से अन्य जितने पदार्थ अधिगत हैं उन सब की तृप्ति=शुद्धि होती है, इसके पश्चात् यजमान प्रजासे, पशुओं से, विविध भोग्य पदार्थों से, सांसारिक ऐश्वर्य्यरूप तेज से और ब्रह्मतेज से तृप्त होता है ॥

इति एकोनविंशःखण्डः समाप्तः

अथ विंशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब द्वितीयाहुति द्वारा "व्यान" की तृप्ति कथन करते हैं:—

अथ यां द्वितीयां जुहुयात्तां जुहुयाद्
व्यानाय स्वाहेति व्यानस्तृप्यति ॥ १ ॥

अर्थ—प्रथमाहुति के अनन्तर जिस द्वितीयाहुति का हवन करे उसको **"व्यानाय स्वाहा"** पढ़कर आहुति दे, इससे व्यान तृप्त होता है ॥

भाष्य—यहां व्यान से श्रोत्रेन्द्रिय व्याप्त वायु का ग्रहण है अर्थात् **"व्यानाय स्वाहा"** पढ़कर द्वितीयाहुति दे, इस आहुति से श्रोत्रेन्द्रिय तृप्त होताहै ॥

व्याने तृप्यति श्रोत्रं तृप्यति श्रोत्रे तृप्यति चन्द्र-
मास्तृप्यति चन्द्रमसि तृप्यति दिशस्तृप्यन्ति
दिक्षु तृप्यन्तीषु यत्किञ्च दिशश्च चन्द्रमाश्चाधि-
तिष्ठन्ति तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया
पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥

अर्थ—व्यान के तृप्त होने से श्रोत्र तृप्त होता है, श्रोत्र के तृप्त होने से चन्द्रमा तृप्त होता है, चन्द्रमा के तृप्त होने से दिशायें तृप्त होती हैं, दिशाओं के तृप्त होने से जो कुछ दिशा और चन्द्रमा के अधिकार में है वह सब तृप्त होता है, उस सब की तृप्ति के अनन्तर यजमान प्रजा, पशु, ऐश्वर्य्य, तेज और ब्रह्मतेज से तृप्त होता है ॥

भाष्य—व्यान के तृप्त होने से श्रोत्रेन्द्रिय तृप्त होता है, यहां व्यान नाम श्रोत्रेन्द्रियाधिष्ठित वायु का है, सो इस वायु के तृप्त होने से श्रोत्र की तृप्ति कथन करना समुचित ही है, चन्द्रमा से तात्पर्य्य यहां श्रोत्र की शक्ति का है अर्थात् **"चदि अल्हादे"** धातु से **"चन्द्रमा"** शब्द सिद्ध होता है जिसके अर्थ आनन्ददाता के हैं और श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा शब्द के श्रवण करने से भी आनन्द की प्राप्ति होती है, इसी अभिप्राय से कहा है कि श्रोत्र के तृप्त होने से चन्द्रमा की तृप्ति होती है, चन्द्रमा की तृप्ति से दिशायें तृप्त होती हैं, क्योंकि दिशाओं के सम्बन्ध से ही श्रोत्र में शब्द आता है, सो श्रोत्र की तृप्ति से दिशाओं का

तृप्त होना स्पष्ट है, चन्द्रमा तथा दिशाओं के तृप्त होने से इनके अधिकारी पदार्थ भी तृप्त होते हैं, और सब की तृप्ति के पश्चात् यजमान प्रजा=सन्तान, पशु, अन्न, सांसारिकतेज और ब्रह्मतेज से तृप्त होता है ॥

इति विंशःखण्डः समाप्तः

अथ एकविंशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब तृतीयाहुति द्वारा "अपान" की तृप्ति कथन करते हैं:—

अथ यां तृतीयां जुहुयात्तां जुहुयाद-
पानाय स्वाहेत्यपानस्तृप्यति ॥ १ ॥

अर्थ—इसके अनन्तर जिस तीसरी आहुति से हवन करना हो तो उस आहुती को "अपानाय स्वाहा" इस प्रकार पढ़कर हवन करे, इस आहुति से अपान की तृप्ति होती है ॥

अपाने तृप्यति वाक् तृप्यति वाचि तृप्यन्त्याम-
ग्निस्तृप्यत्यग्नौ तृप्यति पृथिवी तृप्यति पृथिव्यां
तृप्यन्त्यां यत्किञ्च पृथिवी चाग्निश्चाधितिष्ठत-
स्तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिर-
न्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥

अर्थ—अपान के तृप्त होने से वाणी तृप्त होती है, वाणी के तृप्त होने से अग्नि तृप्त होती है, अग्नि के तृप्त होने से पृथिवी तृप्त होती है, पृथिवी के तृप्त होने से जो कुछ पृथिवी और अग्नि के अधिकार में है वह सब तृप्त होता है, उस सब की तृप्ति के अनन्तर यजमान प्रजा, पशु, ऐश्वर्य्य, तेज और ब्रह्म तेज से तृप्त होता है ॥

भाष्य—यहां अपान शब्द से वाक् इन्द्रियस्थानाधिष्ठित वायु का ग्रहण है, इसी अभिप्राय से कहा है कि अपान के तृप्त होने से वाणी तृप्त होती है, और वाणी का उच्चारण अग्नि की सहायता से होता है, क्योंकि जहां अग्नि न हो वहां वाणी का उच्चारण नहीं होसक्ता, इसीसे वायु की तृप्ति द्वारा अग्नि की तृप्ति कथन की है, या यों कहो कि वाणी का देवता अग्नि है, इसलिये अग्नि के

तृप्त होने से पृथिवी की तृप्ति होती है, यहां पृथिवी से तात्पर्य्य वाणीगत स्थान का है और अग्नि तथा पृथिवी के अधिकार में जो पदार्थ हैं उनकी और उनके पश्चात् प्रजा आदि से यजमान की तृप्ति होती है ॥

इति एकविंशःखण्डः समाप्तः

अथ द्वाविंशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अथ चतुर्थी आहुति द्वारा "समान" की तृप्ति कथन करते हैं:--

अथ यां चतुर्थीं जुहुयात्तां जुहुयात् समानाय स्वाहेति समानस्तृप्यति ॥ १ ॥

अर्थ-इसके अनन्तर जिस चतुर्थ आहुति से हवन करना हो उसको "समानाय स्वाहा" पढ़कर आहुति दे, इससे समान की तृप्ति होती है ॥

समाने तृप्यति मनस्तृप्यति मनसि तृप्यति पर्जन्यस्तृप्यति पर्जन्ये तृप्यति विद्युत्तृप्यति विद्युति तृप्यन्त्यां यत्किञ्च विद्युच्च पर्जन्यश्चाधितिष्ठत-स्तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिर-न्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥

अर्थ-समान के तृप्त होने पर मन तृप्त होता है, मन के तृप्त होने पर पर्जन्य तृप्त होता है, पर्जन्य के तृप्त होने पर विद्युत् तृप्त होती है, बिजुली के तृप्त होने पर जो कुछ बिजुली और पर्जन्य के अधिकार में है वह सब तृप्त होता है, उन सब की तृप्ति के अनन्तर यजमान प्रजा, पशु, ऐश्वर्य्य, सांसारिक बल और ब्रह्मतेज से तृप्त होता है ॥

भाष्य- सम्पूर्ण शरीर में विचरने वाले वायु का नाम "समान" है, सो चतुर्थी आहुति "समानाय स्वाहा" पढ़कर दे, इससे समान की तृप्ति होती है और समान के तृप्त होने से मन की तृप्ति यहां इसलिये कथन कीगई है कि मन भी सब इन्द्रियों में समान की न्याईं वर्तता है, यहां मन की शक्ति-विशेष का नाम पर्जन्य तथा मन की गति का नाम विद्युत् है और वह पर्जन्य

के तृप्त होने पर तृप्त होती है, इसके अनन्तर पर्जन्य और विद्युत् के अधिकार में जो कुछ है वह सब तृप्त होता और फिर ब्रह्मतेज आदि से यजमान तृप्त होता है ॥

इति द्वाविंशःखण्डः समाप्तः

अथ त्रयोविंशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब पांचवी आहुति द्वारा "उदान" की तृप्ति कथन करते हैं:—

अथ यां पञ्चमीं जुहुयात्तां जुहुयादुदानाय स्वाहेत्युदानस्तृप्यति ॥ १ ॥

अर्थ—चतुर्थी आहुति के अनन्तर जिस पांचवीं आहुति से हवन करना होतो उसको "उदानाय स्वाहा" पढ़कर हवन करे, इससे उदान की तृप्ति होती है ॥

उदाने तृप्यति त्वक् तृप्यति त्वचि तृप्यन्त्यां वायुस्तृप्यति वायौ तृप्यत्याकाशस्तृप्यत्याकाशे तृप्यति यत्किञ्च वायुश्चाऽऽकाशश्चाधितिष्ठत-स्तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभि-रन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥

अर्थ—उदान की तृप्ति से त्वक् की तृप्ति होती है, त्वचा की तृप्ति होने से वायु की तृप्ति होती है, वायु के तृप्त होने पर आकाश की तृप्ति होती है, आकाश के तृप्त होने पर जो कुछ वायु और आकाश के आश्रित है वह सब तृप्त होता है, उसकी तृप्ति के अनन्तर वह यजमान प्रजा, पशु, ऐश्वर्य्य, सांसारिक तेज और ब्रह्मतेज से (तृप्यति) तृप्त होता है ॥

भाष्य—त्वगिन्द्रिय स्थानाधिष्ठित वायु का नाम "उदान" है, सो उदान वायु की तृप्ति के लिये "उदानाय स्वाहा" पढ़कर पांचवीं आहुति दे, इससे उदान की तृप्ति होती है, उदान से त्वक् की पुष्टि होती है त्वक् की पुष्टि होने से स्पर्शेन्द्रिय की शक्ति बढ़ती है, वायु के तृप्त होने पर आकाश की तृप्ति और आकाश की तृप्ति होने पर जो कुछ आकाश और वायु

के आश्रित है उस सबकी पुष्टि होती है, उसके अनन्तर प्रजा आदि से यजमान की तृप्ति=पुष्टि होती है ॥

इति त्रयोविंशःखण्डः समाप्तः

अथ चतुर्विंशःखण्डः प्रारभ्यते

:o:

सं०—अब अविधिपूर्वक हवन का निषेध करते हुए विधिपूर्वक अग्निहोत्र करने का कथन करते हैं:—

स य इदमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति यथाऽङ्गारान-
पोह्य भस्मनि जुहुयात्तादृक् तत्स्यात् ॥ १ ॥

अर्थ—वह पुरुष जो उक्त पञ्चाहुति विज्ञान को न जानता हुआ अग्निहोत्र करता है वह जैसे अग्निहोत्र के योग्य अङ्गारों को हटाकर भस्म में हवन करने के सदृश है ॥

अथ य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तस्य सर्वेषु
लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु हुतं भवति ॥२॥

अर्थ—और जो पुरुष इस पञ्चाहुति विज्ञान को उक्त प्रकार से जानता हुआ अग्निहोत्र करता है उसका सब लोकों, सब भूतों और सब आत्माओं में अग्निहोत्र होता है ॥

सं०—अब उक्त अग्निहोत्र का फल कथन करते हैं:—

तद्यथेषिकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैव छहास्य सर्वे पाप्मानः
प्रदूयन्ते य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति ॥ ३ ॥

अर्थ—जो पुरुष उक्त प्रकार से जानता हुआ इस अग्निहोत्र को करता है उसके जैसे मुञ्च की रुई अग्नि में प्रक्षिप्त होने पर शीघ्र ही भस्म होजाती है इसी प्रकार इस ज्ञाता की सब पापवासनायें क्षय होजाती हैं ॥

तस्मादु हैवंविद्यद्यपि चण्डालायोच्छिष्टं प्रयच्छे-
दात्मनि हैवास्य तद्वैश्वानरे हुत छ स्यादिति
तदेषश्लोकः ॥ ४ ॥

अर्थ—इसी कारण उक्त प्रकार से जानने वाला पुरुष यद्यपि चण्डाल को उच्छिष्ट देवे तो इसका वह दान वैश्वानर ब्रह्म में ही हुत होता है, इस विषय में यह श्लोक है:—

यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्य्युपासत एवं सर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासत इत्यग्निहोत्रमुपासत इति ॥ ५ ॥

अर्थ-जिसप्रकार इस संसार में क्षुधातुर बालक माता की उपासना करते हैं, इसी प्रकार सब भूतजात अग्निहोत्र की उपासना करते हैं ॥

भाष्य-" अग्निहोत्रमुपासत इति " पाठ दोवार खण्ड की समाप्ति के लिये आया है, इस खण्ड में पञ्चाहुति विज्ञान का महत्व वर्णन करते हुए यह कथन किया है कि जो पुरुष उक्त विज्ञान को न जानकर हवन करता है उस का हवन भस्म=राख में आहुति देने के समान है अर्थात् सर्वथा निष्फल होता है, और जो पुरुष इस पञ्चाहुति विज्ञान को जानकर हवन करता है उसका हवन सब लोकों, सबभूतों और सब जीवों को तृप्त करने वाला होता है अर्थात् विधिपूर्वक किया हुआ हवन ही फलदायक होता है अविधिपूर्वक किया हुआ फलदायक नहीं होता, विधिपूर्वक हवन करनेवाले के लिये यह फल विधान किया है कि जैसे मुञ्ज की रूई अग्नि पर डालते ही तत्काल भस्म होजाती है इसी प्रकार विधिपूर्वक हवन करने वाले के सब पाप शीघ्र ही क्षय होजाते हैं अर्थात् पापों की वासना उसके अन्तःकरण में नहीं रहती और उसका अन्न सर्वदा वैश्वानर अग्नि में ही हुतद्रव्य के समान पुण्यप्रद होता है, यदि वह चण्डाल को भी उच्छिष्ट देता है तोभी उसके तपोबल से वह वैश्वानर अग्नि में हुतद्रव्य के समान पुण्यप्रद होता है अर्थात् उसके सम्बन्ध में जितने कार्य होते हैं उन सब कार्य्यों में उसके आत्मिक बल का प्रभाव बना रहता है, इसलिये चण्डाल भी उसके अन्न को खाकर उत्तम कार्य्य करने के लिये उद्यत होता है, इस विषय में उपनिषत्कार ने यह दृष्टान्त दिया है कि जिसप्रकार भूखे बालक माता की उपासना करते हैं, इसी प्रकार सब भूत उसको मातावत् प्रिय जान कर उसकी उपासना करते हैं, इससे सिद्ध है कि विधिपूर्वक किया हुआ अग्निहोत्र ही फलदायक होता है अविधिपूर्वक किया हुआ नहीं ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे
छान्दोग्योपनिषदार्य्यभाष्ये
पञ्चमःप्रपाठकःसमाप्तः

ओ३म्

अथ षष्ठःप्रपाठकः प्रारभ्यते

सं०—अब महर्षि उद्दालक और श्वेतकेतु के संवाद द्वारा ब्रह्मविद्या का कथन करते हैं:—

ओ३म् श्वेतकेतुर्हाऽऽरुणेय आस तꣳह पितोवाच—श्वेतकेतो वस ब्रह्मचर्य्यम्। न वै सोम्याऽस्मत्कुलीनोऽननूच्य ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति ॥ १ ॥

अर्थ—श्लोक में "ओ३म्" पद मङ्गलवाची है, प्रसिद्ध अरुण ऋषि का पौत्र श्वेतकेतु नामक कुमार था उससे प्रसिद्ध उद्दालक बोले कि हे श्वेतकेतो! ब्रह्मचर्य्यार्थ गुरुकुल में वास कर, क्योंकि हे सोम्य! निश्चयकरके हमारे कुल में वेदों का अध्ययन न करनेवाला अशिक्षित के समान कोई नहीं होता ॥

स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्विꣳशतिवर्षः सर्वान् वेदानधीत्य महामना अनूचानमानी स्तब्ध एयाय तꣳ ह पितोवाच—श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः। येनाश्रुतꣳश्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति ॥ २ ॥

अर्थ—वह प्रसिद्ध श्वेतकेतु बारहवर्ष की अवस्था में गुरुकुल जाकर चौबीस वर्ष की अवस्था पर्य्यन्त सब वेदों को पढ़कर लौट आया, वह श्वेतकेतु कैसा था! बड़े मनवाला, अपने आपको वेदवेत्ता माननेवाला, नम्रतारहित स्वभाववाला, उक्त स्वभाववाले पुत्र से वह प्रसिद्ध उद्दालक बोले कि हे श्वेतकेतो ब्रह्मचारिन्! "नु" वितर्कार्थ में आया है, जो तू यह बड़े मन वाला अपने आपको वेदवेत्ता समझने वाला और अनम्रस्वभाववाला है, क्या तुमने उस उपदेश को अपने आचार्य्य से पूछा था जिससे न सुना हुआ सुनाजाता, न समझा हुआ समझाजाता और न जाना हुआ जाना जाता है, श्वेतकेतु बोला भगवन्! वह उपदेश कैसे होता है ॥

सं०—अब महर्षि उद्दालक कथन करते हैं:—

यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं वि-
ज्ञातꣳस्याद्वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं मृत्ति-
केत्येव सत्यम् ॥ ३ ॥

अर्थ-हे सोम्य ! जैसे एक मिट्टी के टुकड़े से मिट्टी के घट, शरावादि सब विकार जानेजाते हैं, क्योंकि विकार वाणी के आरम्भमात्र नाम वाले हैं, मिट्टी ही सत्य है ॥

सं०—अब उक्त अर्थ में हेतु कथन करते हैं:—

यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं
विज्ञातꣳस्याद्वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं
लोहमित्येव सत्यम् ॥ ४ ॥

अर्थ—हे सोम्य ! जैसे एक सुवर्ण के ज्ञान से सब सुवर्णविकार जाने जाते हैं, क्योंकि विकार वाणी के उत्पादक नाममात्र हैं सुवर्ण ही सत्य है ॥

यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णाय-
संविज्ञातꣳस्याद्वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं
कृष्णायसमित्येव सत्यमेवꣳसोम्य स आदे-
शोभवतीति ॥ ५ ॥

अर्थ—हे सोम्य ! जैसे एक नख काटने वाले लोह के नहेरने से कृष्ण लोह के सब विकार विदित होजाते हैं, क्योंकि विकार वाणी का आरम्भ होने से नाममात्र हैं कृष्णलोह ही सत्य है, हे सोम्य ! वह उपदेश इस प्रकार होता है ॥

सं०—अब श्वेतकेतु पिता उद्दालक के प्रति कथन करते हैं:—

न वै नूनं भगवन्तस्त एतदवेदिषुर्यद्ध्येतदवेदि-
ष्यन् कथं मे नावक्ष्यन्निति । भगवाꣳस्त्वेव मे
तद्ब्रवीत्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥ ६ ॥

अर्थ—वह मेरे आचार्य्य निश्चयकरके इस आदेश को नहीं जानते, क्योंकि जो इस आदेश को जानते होते तो मुझसे कैसे न कहते, अवश्य कहते परन्तु आप ही इस आदेश को मेरे प्रति कथन करें, तब उद्दालक बोले हे सोम्य ! तथास्तु=ऐसा ही होगा, फिर उस प्रसिद्ध पिता उद्दालक ने वक्ष्यमाण उपदेश किया ॥

भाष्य—आरुणि का पुत्र आरुणेय श्वेतकेतु था, उसको पिता ने कहा कि हे पुत्र! तुमको ब्रह्मचर्य्य करना चाहिये ताकि तू ब्रह्मबन्धु * के समान नाममात्र से ही ब्राह्मणों का सम्बन्धी न गिनाजाय किन्तु गुण कर्म स्वभाव से ब्राह्मण गिनाजाय, श्वेतकेतु ने पिता की आज्ञा मान १२ वर्ष पर्य्यन्त गुरुकुल में वास करके वेदों का अध्ययन किया, जब श्वेतकेतु अध्ययन करके घर आया तो उसको यह अभिमान होगया कि मैं सब कुछ जानता हूं, इस प्रकार का भाव श्वेतकेतु में देखकर पिता ने पूछा कि हे श्वेतकेतो! तुमने गुरु से यह आदेश भी पूछा कि जिससे विना सुना सुनाजाय, विना देखा देखाजाय और विना जाना हुआ जाना जाय, श्वेतकेतु ने उत्तर दिया कि हे भगवन्! ऐसा कैसे होसका है कि बिना देखे देखा जाय, बिना सुने सुनाजाय और विना जाने जानाजाय, तब पिता ने उत्तर दिया कि हे सोम्य! जैसे एक मृत्पिण्ड के जानने से मिट्टी के सब विकार जाने जाते हैं, क्योंकि विकार केवल नाममात्र हैं वास्तव में मिट्टीरूप कारण ही सत्य है अथवा जैसे एक सुवर्णपिण्ड से उसके सब विकार ज्ञात होजाते हैं इसीप्रकार अज्ञात वस्तु का ज्ञान उसके कारण के ज्ञान से होता है और जिसप्रकार एक लोहे के नहेरने के ज्ञान से लोहे के सब विकारों का ज्ञान होजाता है इसी प्रकार एक कारण के ज्ञान से कार्य्यों का ज्ञान होजाता है, हे सोम्य! इस प्रकार अज्ञात पदार्थों का ज्ञान होता है, श्वेतकेतु ने कहा हे भगवन्! आपही इस अपूर्व ज्ञान को जानते हैं मेरा आचार्य्य नहीं जानता, यदि वह इस ज्ञान को जानते होते तो मुझको अवश्य इसका उपदेश करते, इसलिये कृपाकरके आप ही इस अपूर्वज्ञान का मुझको उपदेश करें।

इस स्थान में उद्दालक ने परमात्मा को सर्वोपरि कारण बतलाने के लिये यह भूमिका बांधी है, जिसका तात्पर्य्य यह है कि सर्वोपरि परमात्मा के ज्ञान से सब पदार्थों का ज्ञान होजाता है जिसका वर्णन आगे विस्तारपूर्वक किया जायगा॥

इति प्रथमःखण्डः समाप्तः

अथ द्वितीयःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब उद्दालक पुत्र श्वेतकेतु को उपदेश करते हैं:—

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायेत॥ १॥

---

* जो अपने आपको ब्राह्मणों का सम्बन्धी होने से ब्राह्मण कहे और वास्तव में उसमें ब्राह्मणों के धर्म न पाये जायं उसका नाम "ब्रह्मबन्धु" है॥

अर्थ--हे सोम्य ! सृष्टि से पूर्व यह एक ही अद्वितीय ब्रह्म था, उस प्रसिद्ध ब्रह्म के विषय में कोई एक यह कथन करते हैं कि सृष्टि से पूर्व यह असत् ही एक अद्वितीय था उस असत् से सत् उत्पन्न हुआ ॥

कुतस्तु खलु सोम्यैव ७ स्यादिति होवाच-
कथमसतः सज्जायेतेति। सत्त्वेव सोम्येदमग्र
आसीदेकमेवाद्वितीयम् ॥ २ ॥

अर्थ--हे सोम्य ! किस प्रकार ऐसा होसका है अर्थात् असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे होसकी है, उद्दालक बोले कि हे सोम्य ! परन्तु सृष्टि से पूर्व एक अद्वितीय यह सत् ही था ॥

तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति। तत्तेजोऽसृजत।
तत्तेज ऐक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति। तदपोऽसृजत।
तस्माद्यत्र क च शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस
एव तदध्यापो जायन्ते ॥ ३ ॥

अर्थ—उसने ज्ञानपूर्वक संकल्प किया कि बहुतरूप होकर प्रकट होऊं, उसने तेज को उत्पन्न किया, उस तेज ने इच्छा की कि बहुत रूप होकर प्रकट होऊं, उसने जल को उत्पन्न किया, इसीकारण पुरुष जिस किसी स्थान में आतप से सन्तप्त अथवा पसीने से प्रस्वेदित होता है तब तेज से ही जल उत्पन्न होते हैं ॥

ता आप ऐक्षन्त बह्वः स्याम प्रजायेमहीति ता
अन्नमसृजन्त तस्माद्यत्र क च वर्षति तदेव भूयि-
ष्ठमन्नं भवत्यद्भ्य एव तदध्यन्नाद्यं जायते ॥ ४ ॥

अर्थ—उन जलों ने इच्छा की कि हम बहुत रूप होकर प्रकट होवें, उन्होंने पृथिवी को उत्पन्न किया, इसी कारण जहां कहीं वृष्टि होती है वहां ही बहुत अन्न उत्पन्न होता है, जल से ही वह अन्न खाने के योग्य उत्पन्न होता है॥

भाष्य-उद्दालक ने उपदेश किया कि हे श्वेतकेतो ! यह नाम रूपात्मक जगत् सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व सद्रूप होने से ब्रह्माश्रित था और वह ब्रह्म सजातीय, विजातीय, स्वगतभेदशून्य एकमात्र अद्वितीय था अर्थात् उस जैसा कोई न होने से ब्रह्म में सजातीय भेद न था, कोई विजातीय पदार्थ उस प्रकार के ऐश्वर्य्य वाला न होने से विजातीय भेद न था और निराकार होने से स्वगत भेद भी न था।

यहां कई एक लोगों का कथन है कि प्रथम असत् ही था और वह भी उक्त तीनों गुणों से शून्य था अर्थात् उत्पत्ति से पूर्व यह जगत् परमाणुरूप होकर

ब्रह्म में लीनता को प्राप्त था, इसीलिये यह कथन किया गया है कि एकमात्र ब्रह्म ही था, जिस पक्ष में यह उक्त कथन है उसका: तात्पर्य्य यह है कि जब जगत् नाम रूप द्वारा इस भाव को प्राप्त न था उस समय उसको नामरूप के न होने से असत् कथन कियागया है इस भाव से नहीं कि उस समय कुछ भी न था, क्योंकि यदि ऐसा होता तो असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे होती, इससे सिद्ध है कि कार्य्यरूप जगत् न था, इसी भाव को "असदितिचेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात्" ब्र० सू० २।१।७ में भलीभांति वर्णन किया है कि असत् कथन से तात्पर्य्य शून्य का नहीं किन्तु नामरूपात्मक न होने से तात्पर्य्य है, उस सद्रूप ब्रह्म ने ईक्षण किया कि मैं बहुत रूप होकर प्रकट होऊं जिसका तात्पर्य्य यह है कि उसने अपनी प्रकृति को बहुरूप करने का विचार कर प्रथम तैजस पदार्थों को रचा, उसके अनन्तर जल को और जलों के अनन्तर पृथिवी को उत्पन्न किया, यहां इन तीन तत्वों का कथन अन्य तत्वों का उपलक्षण है अर्थात् इसी प्रकार वायु तथा आकाश इन दोनों तत्वों को भी उत्पन्न किया, जैसाकि "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी" तैत्तिरी० २।१।३ इत्यादि श्लोकों में पांचो तत्वों की उत्पत्ति कथन की है यहां उपनिषत्कार ने अग्न्यादि तीन तत्वों की उत्पत्ति कथन की है और सूक्ष्म होने के अभिप्राय से आकाश तथा वायु की उत्पत्ति कथन नहीं की, इसलिये उपनिषद्वाक्यों का उत्पत्ति विषयक परस्पर विरोध नहीं, और जो यहां यह कथन किया है कि तेज ने इच्छा करके जलों को और जलों ने इच्छा करके पृथिवी को उत्पन्न किया, यहां तेजादिकों का इच्छा करना उपचार से है मुख्यतया नहीं, क्योंकि मुख्य ईक्षण ब्रह्म में ही है, या यों कहो कि तेज में व्यापक ब्रह्म ने इच्छा करके जल को और जलगत ब्रह्म ने पृथिवी को उत्पन्न किया, इसलिये जड़गत इच्छा का दोष इस शास्त्र पर नहीं आता ॥

इति द्वितीयःखण्डः समाप्तः

अथ तृतीयःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब सब भूतों के तीन बीज कथन करते हैं:—

तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्याण्डजं जीवजमुद्भिज्जमिति ॥ १ ॥

अर्थ—निश्चयकरके अण्डज, जीवज और उद्भिजरूप से इन भूतों के तीन ही बीज होते हैं ॥

भाष्य—यहां "भूत" शब्द से मनुष्य, पशु, पक्षी आदिकों का ग्रहण है, क्योंकि "एषां" शब्द इन्हीं का निर्देश करता है, इन सब भूतों के तीन ही बीज होते हैं अर्थात् अण्डे से उत्पन्न होने वाले जीवों का नाम "अण्डज" है, जैसे पक्षी आदि, शरीर से उत्पन्न होने वाले जीवोंका नाम "जीवज" है, जैसे मनुष्यादि और पृथिवी के भीतर से निकलने वाले जीवों का नाम "उद्भिज" है, जैसाकि बनस्पति आदि ॥

सं०—अब तेजादि भूतों का नाम रूप में परिणत होना कथन करते हैं:—

सेयं देवतैक्षत-हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति ॥ २ ॥

अर्थ—उस परमात्म देव ने सङ्कल्प किया कि अब मैं इन तेज, जल, पृथिवी तीनों देदीप्यमान भूतों में इस जीवात्मा द्वारा प्रवेश करके नाम और रूप का विस्तार करूं ॥

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेनैव जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नाम रूपे व्याकरोत् ॥ ३ ॥

अर्थ—उक्त तीनों भूतों में से एक २ को तीन २ गुणा करूं, सो इस परमात्मा ने इन तीनों देवताओं में इस जीवरूप आत्मा द्वारा ही प्रवेश करके नाम और रूप को बनाया ॥

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोद्यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवतास्त्रिवृत् त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति ॥ ४ ॥

अर्थ-प्रसिद्ध है कि उस परमात्मा ने उन तीनों देवताओं में से एक २ को तीन २ गुणा किया, हे सोम्य ! जैसे यह तीन देवता एक २ तीन २ गुणा होता है उस त्रिवृत्करण विज्ञान को मुझसे जानो ॥

भाष्य-उक्त परमात्म देव ने इच्छा की कि मैं जीवात्मा द्वारा प्रवेश करके नाम रूप को बनाऊं, इस कारण उसने प्रथम अग्नि, जल, पृथिवी इन तीनों

भूतों को दो २ भागों में विभक्त किया, जैसाकि जल के प्रथम दो भाग करके एक भाग के दो खण्ड कर दूसरे दोनों में मिला दिये इसी प्रकार उन दोनों के भी प्रथम एक २ के दो २ भाग करके फिर एक भाग के दो २ खण्ड कर अपने से अन्य तत्वों में मिला देने का नाम "त्रिवृत्करण" है, और नवीन वेदान्ती इसी के सहारे पर पांच भूतों का पञ्चीकरण करते हैं अर्थात् प्रथम एक तत्व के दो भाग करते हैं फिर एक भाग के चार खण्ड करके उनको दूसरे चारों में मिला देते हैं, इसी प्रकार अन्य तत्वों के भी प्रथम दो भाग करके फिर एक भाग को चार खण्डों में विभक्त कर दूसरे चारों में मिला देना " पञ्चीकरण " कहाता है, जिसका भाव यह है कि आधा अपना भाग रहता है और आधा दूसरे चारों का, इस प्रकार यह नामरूपात्मक जगत् बना है इस नाम रूप को बनाने के लिये परमात्मा ने इस प्रकार तत्वों को बांट दिया ॥

इति तृतीयःखण्डः समाप्तः

——*:०:*——

अथ चतुर्थःखण्डः प्रारभ्यते

——:०:——

सं०-अब उक्त तीनों भूतों के तीन २ रूप वर्णन करते हुए प्रथम अग्नि के तीन रूप कथन करते हैं :—

यदग्ने रोहितꣳरूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणिरूपाणीत्येव सत्यम् ॥ १ ॥

अर्थ-जो अग्नि में रक्तरूप है वह तेज का रूप है, जो शुक्ल रूप है वह जल का रूप है, जो कृष्णरूप है वह पृथिवी का रूप है, यह अग्नि से अग्निपन जाता रहा, क्योंकि विकार वाणी के आरम्भमात्र नाम वाले हैं, तीन रूप ही सत्य हैं ॥

सं०-अब आदित्य के तीन रूप कथन करते हैं :—

यदादित्यस्य रोहितꣳरूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादादित्यादादित्यत्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणिरूपाणीत्येव सत्यम् ॥ २ ॥

अर्थ-जो आदित्य में रक्तरूप दीखता है वह तेज का रूप है, जो शुक्ल रूप है वह जल का, जो कृष्णरूप है वह अन्न=पृथिवी का रूप है, आदित्य से आदित्यपन जाता रहा, क्योंकि विकार वाणी के आरम्भमात्र नाम वाले हैं तीन रूप ही सत्य हैं ॥

सं०-अब चन्द्रमा के तीन रूप कथन करते हैं :—

यच्चन्द्रमसो रोहितꣳरूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागाच्चन्द्राच्चन्द्रत्वं वाचा रम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥३॥

अर्थ-जो चन्द्रमा में रक्त रूप दीखता है वह तेज का रूप है, जो शुक्ल रूप है वह जल का, जो कृष्णरूप है वह अन्न=पृथिवी का रूप है, चन्द्रमा से चन्द्रपन जाता रहा, क्योंकि विकार वाणी के आरम्भमात्र नाम वाले हैं, तीन रूप ही सत्य हैं ॥

सं०-अब विद्युत् के तीन रूप कथन करते हैं :—

यद्विद्युतो रोहितꣳरूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागाद्विद्युतो विद्युत्त्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥४॥

अर्थ-जो विद्युत में रक्तरूप दीखता है वह तेज का, जो शुक्ल रूप है वह जल का और जो कृष्णरूप है वह पृथिवी का है, विद्युत् से विद्युतपन जाता रहा, क्योंकि विकार वाणी के आरम्भमात्र नाम वाले हैं, तीन रूप ही सत्य हैं ॥

सं०-अब उक्त विज्ञान के ज्ञाताओं का कथन करते हैं :—

एतद्ध स्म वै तद्विद्वाꣳस आहुः पूर्वे महाशाला महाश्रोत्रिया न नोऽद्य कश्चनाश्रुतममतमविज्ञातमुदाहरिष्यतीति ह्येभ्यो विदाञ्चक्रुः ॥ ५ ॥

अर्थ-इस विज्ञान को जानते हुए प्राचीन बड़े गृहस्थ ब्रह्मवेत्ता कथन करते थे कि हम लोगों को सम्प्रति कोई भी न सुना हुआ, न समझा हुआ और न जाना हुआ नहीं कहसक्ता, क्योंकि उन्होंने उक्त तीनो रूपों से सब कुछ जान लिया था ॥

सं०-अब उनके ज्ञान का कथन करते हैं :—

यदु रोहितमिवाभूदिति तेजसस्तद्रूपमिति तद्विदाञ्चक्रुर्यदु

शुक्लमिवाभूदित्यपाᳮरूपमिति तद्विदाञ्चक्रुर्यदु कृष्ण-
मिवा भूदित्यन्नस्यरूपमितितद्विदाञ्चक्रुः ॥ ६ ॥

अर्थ-जो रक्त समान प्रतीत हुआ उसको ऋषियों ने जाना कि वह तेज= अग्नि का रूप है, जो शुक्ल समान प्रतीत हुआ उसको उन्होंने जाना कि यह जल का रूप है, जो कृष्ण के समान प्रतीत हुआ वह उन्होंने जाना कि यह अन्न = पृथिवी का रूप है॥

सं०-अब अंत में उद्दालक श्वेतकेतु को शिक्षा देते हैं:—

यद्वविज्ञातमिवाभूदित्येतासामेव देवतानाᳮसमास
इति तद्विदाञ्चक्रुर्यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो
देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत् त्रिवृदेकैका भवति
तन्मे विजानीहीति ॥ ७ ॥

अर्थ—जो कुछ उन ऋषियों को अविज्ञात सा प्रतीत हुआ वह भी इन्हीं तीनो देवताओं का समुदाय है, इस प्रकार उन ऋषियों ने जाना, हे सोम्य! निश्चयकरके जिसप्रकार यह तीनों देवपुरुष को प्राप्त होकर उनमें से एक २ तीन २ प्रकार का होजाता है उस विज्ञान को मुझसे जान॥

इति चतुर्थःखण्डः समाप्तः

अथ पञ्चमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब भुक्त अन्न का तीन प्रकार से परिणाम कथन करते हैं:—

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते, तस्य यः स्थवि-
ष्ठोधातुस्तत्पुरीषं भवति। यो मध्यमस्तन्माᳮ
संयोऽणिष्ठस्तन्मनः ॥ १ ॥

अर्थ—खाया हुआ अन्न तीन प्रकार से विभक्त होता है, खाद्य पदार्थ का जो बहुत स्थूल भाग है वह मल होता है, जो मध्यम भाग है वह मांस, जो सूक्ष्म भाग है वह मन होता है॥

सं०—अब पीत जल का तीन प्रकार का परिणाम कथन करते हैं:—

आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते, तासां यः स्थविष्ठो

धातुस्तन्मूत्रं भवति । यो मध्यमस्तल्लोहितम् ।
योऽणिष्ठः स प्राणः ॥ २ ॥

अर्थ—जल पीने पर तीन भागों में विभक्त होता है, उसका जो स्थूलतम भाग है वह मूत्र होता है, जो मध्यम भाग है वह रुधिर, जो सूक्ष्मतम भाग है वह प्राण होता है ॥

सं०—अब भुक्त घृत तैलादि तैजस पदार्थों का परिणाम कथन करते हैं:—

तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते–तस्य यः स्थविष्ठो
धातुस्तदस्थि भवति । यो मध्यमः स मज्जा,
योऽणिष्ठः सा वाक् ॥ ३ ॥

अर्थ—घृतादि तैजसरूप पदार्थ भुक्त होने पर तीन भागों में विभक्त होते हैं, उनका जो स्थूल भाग है वह अस्थि होता है, जो मध्यम भाग है वह मज्जा, जो अणुतम भाग है वह वाक् होता है ॥

सं०—अब उक्त अर्थ का उपसंहार करते हैं:—

अन्नमय ँ हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्ते-
जोमयी वागिति । भूय एव मा भगवान्
विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥ ४ ॥

अर्थ—हे सोम्य ! निश्चयकरके अन्न प्रधान मन, जलमय प्राण और तेजोमय वाणी है, यह सुनकर श्वेतकेतु बोला आप मुझको पुनरपि विज्ञान सिखलावें, तब प्रसिद्ध उद्दालक बोले हे सोम्य ! तथास्तु ॥

इति पञ्चमःखण्डः समाप्तः

अथ षष्ठःखण्डः प्रारभ्यते

सं०–श्वेतकेतु के कथन करने पर अब उद्दालक प्रकारान्तर से वर्णन करते हैं:—

दध्नः सोम्य मथ्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः
समुदीषति तत्सर्पिर्भवति ॥ १ ॥

अर्थ—हे सोम्य ! मन्थन किये हुए दधि का जो अणुभाग ऊपर को उठता है वह घृत होता है ॥

एवमेव खलु सोम्यान्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा
स ऊर्ध्वः समुदीपति तन्मनो भवति ॥ २ ॥

अर्थ--निश्चयकरके हे सोम्य ! इसको भी पूर्ववत् जानो कि जीवों से खाये हुए अन्न का जो अणुभाग ऊपर को उठता है वह मन होता है ॥

अपा ँ सोम्य पीयमानानां योऽणिमा स
ऊर्ध्वः समुदीषति स प्राणो भवति ॥ ३ ॥

अर्थ--हे सोम्य ! पीये हुए जलों का जो अणु भाग ऊपर को उठता है वह प्राण होता है ॥

तेजसः सोम्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः
समुदीषति सा वाग्भवति ॥ ४ ॥

अर्थ--हे सोम्य ! खाये हुए तेजोगुण प्रधान घृत तैलादि का जो अणु भाग ऊपर को उठता है वह वाणी होता है ॥

सं०--अब अन्त में सबका उपसंहार करते हैंः--

अन्नमय ँ हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्ते-
जोमयी वागिति । भूय एव मा भगवान् विज्ञा-
पयत्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥ ५ ॥

अर्थ--हे सोम्य ! निश्चयकरके अन्नमय मन, जलमय प्राण और तेजोमय वाक् है, यह सुनकर श्वेतकेतु बोला आप मुझको पुनरपि विज्ञान सिखलावें, तब प्रसिद्ध उद्दालक बोले हे सोम्य ! तथाऽस्तु ॥

इति षष्ठःखण्डः समाप्तः

अथ सप्तमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०--अब उद्दालक जीवात्मा को षोडशकल कथन करते हुए उसका स्वरूप वर्णन करते हैंः--

षोडशकलः सोम्य पुरुषः पंचदशाहानि माशीः काममपः
पिबाऽऽपोमयः प्राणो न पिबतो विच्छेत्स्यत इति ॥ १ ॥

अर्थ--हे सोम्य ! जीवात्मा सोलह कला वाला है, यदि पूर्णरूप से जानना

चाहो तो पन्द्रह दिन भोजन मत करो जल इच्छानुसार पीओ, जल पीते हुए तेरा प्राण शरीर से पृथक् न होगा ॥

सं०—अब पिता के किये उपदेश पर श्वेतकेतु का अनुष्ठान कथन करते हैं:—

स ह पञ्चदशाहानि नाऽऽशाथ हैनमुपससाद ।
किं ब्रवीमि भो इत्यृचः सोम्य यजू ँ षि सामानीति ।
स होवाच न वै मा प्रतिभान्ति भो इति ॥ १ ॥

अर्थ–उस प्रसिद्ध श्वेतकेतु ने पन्द्रह दिन नहीं खाया, इसके अनन्तर १६ वें दिन अपने पिता के समीप आकर बोला कि हे भगवन् ! क्या कहूं, उद्दालक बोले ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, यह सब पढ़ो, तब वह श्वेतकेतु बोला हे भगवन् ! निश्चयकरके मुझको कुछ नहीं भासित होता ॥

सं०–अब पिता उद्दालक कथन करते हैं :–

त ँ होवाच यथा सोम्य महतोऽभ्याहितस्यैकोऽङ्गारः खद्योतमात्रः परिशिष्टः स्यात्तेन ततोऽपि न बहु दहेदेव ँ सोम्य ते षोडशानां कलानामेका कलाऽतिशिष्टा स्यात्तयैतर्हि वेदान्नानुभवस्यशान ॥ २ ॥

अर्थ—उस श्वेतकेतु से उद्दालक बोले कि हे सोम्य ! जैसे प्रज्वलित बड़ी अग्नि का एक अङ्गार खद्योतमात्र शेष रहे हुए से फिर बहुत दाह नहीं होता इसी प्रकार हे सोम्य ! तेरी षोडश कलाओं में से एक कला शेष रहगई है इसी से वेदों का अनुभव नहीं होसक्ता, भोजन करो ॥

अथ मे विज्ञास्यसीति, स हाशाथ हैनमुपससाद ।
त ँ ह यत्किञ्च पप्रच्छ सर्व ँ ह प्रतिपेदे, त ँ होवाच ॥ ४ ॥

अर्थ—भोजनानन्तर मेरे कथन को समझोगे, तब उस प्रसिद्ध श्वेतकेतु ने भोजन किया, भोजन के पश्चात् अपने पिता के निकट आया, उस श्वेतकेतु से जो कुछ उद्दालक ने पूछा सबको समझसका, तब उस श्वेतकेतु से फिर उद्दालक बोले ॥

यथा सोम्य महतोऽभ्याहितस्यैकमङ्गारं खद्योतमात्रं परिशिष्टंतं तृणैरुपसमाधाय प्राज्वलयेत्तेन ततोऽपि बहु दहेत् ॥ ५ ॥

अर्थ—हे सोम्य ! जैसे प्रज्वलित बड़ी अग्नि का एक अङ्गार जो खद्योत

मात्र शेष बचा हुआ है उसको तृणों के साथ मिलाकर भलीभांति जलावे तो वह उससे भी बहुत दाह करेगा ॥

एवꣳसोम्य ते षोडशानां कलानामेका कलाऽतिशिष्टाऽभूत्साऽन्नेनोपसमाहिता प्राज्वालीत्तयैतर्हि वेदाननुभवस्यन्नमयꣳहि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति तद्धास्य विजिज्ञाविति विजिज्ञाविति ॥ ६ ॥

अर्थ—हे सोम्य ! इसी प्रकार तेरी सोलह कलाओं में से एक कला जो शेष बच रही है वह अन्न के साथ वर्धित होकर प्रज्वलित होगई, उससे अब वेदों का अनुभव करते हो, क्योंकि हे सोम्य ! मन अन्नमय, प्राण जलमय और वाक् तेजोमय है, उस प्रसिद्ध पिता के उपदेश को श्वेतकेतु ने समझ लिया ॥

भाष्य—" विजिज्ञाविति " पाठ दो वार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, जीवात्मा का स्वरूप बोधन करने के लिये उद्दालक ने श्वेतकेतु से यह कथन किया कि हे पुत्र ! तुम १५ दिन तक कुछ मत खाओ केवल एकमात्र जलपान करो, उसने पिता की आज्ञानुसार ऐसा ही किया, जब पिता ने फिर पूछा कि वेद पढ़कर सुनाओ तब श्वेतकेतु ने कहा कि क्या कहूं, मुझको अब कुछ याद नहीं, पिता ने कहा देखो जिसप्रकार शान्त हुई बड़ी अग्नि का भाग दाह नहीं करसक्ता और फिर वही प्रज्वलित हुआ२ दाह करने को समर्थ हो जाता है इसी प्रकार इस अन्नमय कोषरूप शरीर के क्षीण होने पर तुम्हारा आत्मा वेदपाठ के लिये समर्थ नहीं रहा पर इस आत्मा का अस्तित्व १५ दिन तक न खाने पर भी ज्यों का त्यों बना हुआ है, हे सोम्य ! इस प्रकार इस आत्मा की सूक्ष्मता है जिससे पुरुष विद्याओं को उपलब्ध करता और नित्य नैमित्तिक सब काम करता है, अधिक क्या धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप मनुष्यजन्म के फल चतुष्टय को यही आत्मा लाभ करता है, यदि उक्त आत्मा का अस्तित्व न होता तो नाही कोई पुनर्जन्म के लिये यात्रा करसकता और नाही उक्त फलों को लाभ करसकता, अतएव आत्मा का अस्तित्व जानना आवश्यक है ॥

इति सप्तमःखण्डः समाप्तः

अथ अष्टमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब उद्दालक श्वेतकेतु के प्रति प्रकारान्तर से जीवात्मा का अस्तित्व वर्णन करते हुए प्रथम दृष्टान्त कथन करते हैं:—

उद्दालकोहारुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमुवाच स्वप्नान्तं मे सोम्य विजानीहीति यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सतासोम्यतदासम्पन्नो भवति स्वमपीतोभवति तस्मादेनꣳस्वपितीत्याचक्षते स्वꣳह्यपीतोभवति॥१॥

अर्थ—तदनन्तर अरुण के पुत्र उद्दालक श्वेतकेतु पुत्र को बोले कि हे सोम्य! मुझसे सुषुप्ति अवस्था की विद्या जानो, जिस काल में यह पुरुष सोजाता है उस काल में ब्रह्म के साथ मिलजाता है अर्थात् अपने आपको प्राप्त हो जाता है, इस कारण इसको " स्वपिति " ऐसा कथन करते हैं, क्योंकि अपने स्वरूप में स्थित होता है॥

सं०—अब उक्त अर्थ में दृष्टान्त कथन करते हैं:—

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत एवमेव खलु सोम्यैतन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धनꣳहि सोम्य मन इति॥२॥

अर्थ—जैसे पक्षी सूत्र से बन्धा हुआ चारो ओर गिरकर अन्यत्र स्थान न लाभ करता हुआ बन्धन को ही आश्रय करता है इसी प्रकार निश्चयकरके हे सोम्य! यह मन चारो ओर जाकर अन्यत्र स्थान न पाता हुआ प्राण को ही लाभ करता है, क्योंकि मन प्राणों के अधीन है॥

सं०—अब उद्दालक श्वेतकेतु को भूख और प्यास का तत्व कथन करते हैं:—

अशनापिपासे मे सोम्य विजानीहीति। यत्रैतत्पुरुषोऽशिशिषति नामाऽऽप एव तदशितं नयन्ते तद्यथा गोनायोऽश्वनायपुरुषनाय,इत्येवं तदप आचक्षतेऽशनायेति तत्रैतच्छुङ्गमुत्पतितꣳ सोम्य विजानीहि। नेदममूलं भविष्यतीति॥३॥

अर्थ—हे सोम्य! भूख और प्यास को मुझसे स्पष्टतया जान, जिस काल में यह पुरुष खाने की इच्छा करता है तब उसका नाम " अशिशिषति " होता है, जल ही उसके खाये हुए को लेजाता है, जैसे गौओं का नेता, घोड़ों का नेता,

पुरुषों का नेता होता है इसी प्रकार वह जल भक्षण किये हुए अन्न का नेता कहलाता है, वहां पर हे सोम्य! यह शरीररूप कार्य्य उत्पन्न हुआ जानो, यह बात मूलरहित नहीं है॥

तस्य क्वमूलꣳस्यादन्यत्रान्नादेवमेव खलु सोम्या-
न्नेन शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य शुङ्गेन
तेजो मूलमन्विच्छ। तेजसा सोम्य शुङ्गेन
सन्मूलमन्विच्छ। सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः
प्रजा सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः॥ ४॥

अर्थ—हे सोम्य! उस शरीर का अन्न से भिन्न कहां मूल है, निश्चय-करके इसी प्रकार अन्नरूप कार्य्य से जलरूप मूल को जानो, हे सोम्य! जलरूप कार्य्य द्वारा तेजरूप मूल को जानो, हे सोम्य! तेजरूप कार्य्य से सत्‌रूप मूल को जानो, हे सोम्य! यह सारी प्रजा सद्रूपमूलवाली, सद्रूपआयतन वाली और उसकी सत् में स्थिति है॥

अथ यत्रैतत्पुरुषः पिपासति नाम। तेज एव तत्पीतं
नयते। तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं
तत्तेज आचष्ट उदन्येति। तत्रैतदेव शुङ्गमुत्पतितꣳ
सोम्य विजानीहि। नेदममूलं भविष्यतीति॥ ५॥

अर्थ—अब यह कथन करते हैं कि जिस काल में यह पुरुष प्यासा होता है तब तेज ही उस पीये हुए को यथा स्थान में पहुंचाता है, जैसाकि गौओं का नियन्ता, अश्वों का नियन्ता, पुरुषों का नियन्ता होता है, इसी प्रकार वह तेज उदक का नियन्ता होता है, हे सोम्य! वहां यह कार्य्य उत्पन्न हुआ जानो, यह अमूल नहीं है॥

तस्य क्व मूलं स्यादन्यत्राद्भ्योऽद्भिः सोम्य शुङ्गेन
तेजो मूलमन्विच्छ। तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूल-
मन्विच्छ। सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदा-
यतनाः सत्प्रतिष्ठा यथा तु खलु सोम्येमास्तिस्रो
देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत् त्रिवृदेकैका भवति
तदुक्तं पुरस्तादेव भवत्यस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो

वाङ्मनसि संपद्यते। मनः प्राणे । प्राणस्तेजसि ।
तेजः परस्यां देवतायाम् । स य एषोऽणिमा ॥६॥

अर्थ—उस कार्य्य का जलों से भिन्न क्या मूल है? हे सोम्य! जलरूप कार्य्य से तेजरूप मूल को जानो, हे सोम्य! तेजरूप कार्य्य से सद्रूप मूल को जानो, हे सोम्य! यह सब प्रजा सद्रूप मूल वाली है, सत् आयतन और सत् ही इसकी प्रतिष्ठा है, हे सोम्य! निश्चयकरके जैसे उक्त तीनों देवता पुरुष को प्राप्त होकर एक २ तीन २ भागों में विभक्त होजाता है यह प्रथम ही कथन कर आये हैं, हे सोम्य! जब यह पुरुष प्रयाण करता है तब वाणी मन में लय होजाती है, मन प्राण में, प्राण तेज में और तेज परदेवता में लय होजाता है, और जो यह अणुरूप जीव शेष रहजाता है, इसका सम्बन्ध आगे के श्लोक से है :—

ऐतदात्म्यमिदꣳसर्वं तत्सत्यꣳस आत्मा तत्त्वमसि
श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापय-
त्विति। तथा सोम्येति होवाच ॥ ७ ॥

अर्थ–इस आत्मा का यह पूर्वोक्त सब भाव है और वह सब सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतु! वह आत्मा तू है, हे भगवान्! आप फिर मुझको कथन करें, तब वह प्रसिद्ध उद्दालक बोले तथास्तु ॥

भाष्य—इस खण्ड में सुषुप्ति अवस्था का वर्णन करते हुए महर्षि उद्दालक ने यह कथन किया कि हे श्वेतकेतो! जब यह पुरुष सोता है तब वह अपने स्वाभाविक स्वरूप के साथ सम्पन्न होजाता है अर्थात् उस समय जीव के आगन्तुक गुण उसके साथ नहीं रहते एकमात्र उसका स्वरूपभूत ज्ञान उस समय उपस्थित रहता है, इसलिये इस अवस्था का नाम "स्वपिति" है, इस अवस्था का यह महत्व है कि जब जीव को कहीं भी शान्ति नहीं होती तब पक्षी के समान इतस्ततः भ्रमण करता हुआ अपने स्वरूपभूत स्वस्थान में आकर शान्ति उपलब्ध करता है।

और जो तेज, अप तथा अन्न यह तीनों तत्व हैं इनका भी सत्तारूप से मूल एकमात्र सत् ही है, इसी अभिप्राय से यह कथन किया है कि हे सोम्य! यह सब प्रजा सन्मूला=सद्रूप मूल वाली और सत् ही इसकी प्रतिष्ठा है, इसीलिये इनका लय=सूक्ष्मरूप होकर ब्रह्म में स्थिर होना कथन किया गया है, जब यह पुरुष प्रयाण करता है तब वाणी मन में लय होजाती है, मन प्राण में, प्राण तेज में और तेज उस परदेवतारूप परब्रह्म में लय होजाता है, और जो शेष अणुरूप जीव रहता है वह आत्मा है, इस विषय में महर्षि उद्दालक ने १५ दिन का व्रत कराके श्वेतकेतु को यह कथन किया कि हे श्वेतकेतु! जो कुछ तुम्हारा

वेदादिकों का पढ़ना और उनको धारण करना, इत्यादि अनेक भाव हैं वह सब इसी आत्मा के भाव हैं, उक्त भावों को पुनः स्मरण कराते हुए उद्दालक ने यह कथन किया कि "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं"=यह सब उसी आत्मा के भाव हैं और यह सब सत्य हैं, हे श्वेतकेतु ! "स आत्मा"= वह आत्मा है, और "तत्त्वमसि"=वह तू है, इस प्रकार "तत्त्वमसि" के उपदेश द्वारा यहां श्वेतकेतु को जीवात्मा का अस्तित्व बोधन किया है जीवात्मा को ब्रह्मभाव का उपदेश नहीं किया, क्योंकि "तत्" शब्द पूर्व का परामर्शक होता है और पूर्व जीवात्मा का वर्णन स्पष्ट है, इसलिये "तत्त्वमसि" से जीवात्मा के नित्यत्व का उपदेश ही अभिप्रेत है जीव का ब्रह्म बनना अभिप्रेत नहीं ॥

इति अष्टमःखण्डः समाप्तः

अथ नवमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब द्वितीय दृष्टान्त कथन करते हैं :—

यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति । नानात्ययानां वृक्षाणां रसान् समवहारमेकता॰ रसं गमयन्ति ॥ १ ॥

अर्थ-हे सोम्य ! जैसे मधु बनाने वाली मक्खियां मधु को बनाती हैं अर्थात् नाना फल वाले वृक्षों के रसों को एकत्रित कर एक बना मधुरूप बना देती हैं ॥

ते यथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोस्म्यऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामह इति ॥ २ ॥

अर्थ-हे सोम्य ! जिसप्रकार उस मधुसमूह में वह रस विवेक को प्राप्त नहीं करते कि इस वृक्ष का मैं रस हूं, इस वृक्ष का मैं रस हूं, इसी प्रकार निश्चयकरके सब जनसमूह ब्रह्म के साथ योग होने पर भी नहीं जानता कि हमारा उस परमपिता के साथ सम्बन्ध है ॥

त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदाभवन्ति॥३॥

अर्थ-वह जीव इस संसार में व्याघ्र, सिंह, बैल, शूकर, कीट, पतङ्ग, डांश अथवा मच्छर आदि जो २ पूर्व थे वही २ पुनः होते हैं ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिद ७ँ सर्वं तत्सत्य ७ँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति । भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति । तथा सोम्यैति होवाच ॥४॥

अर्थ-हे सोम्य ! वह जो सूक्ष्म जीव है उसी आत्मा का यह सब भाव है और वह सत्य है, वह आत्मा है, हे श्वेतकेतु ! वह तू है, हे भगवन् ! आप मुझको फिर उपदेश करें, उद्दालक बोले तथास्तु ॥

भाष्य-इस द्वितीय दृष्टान्त में महर्षि उद्दालक ने मधु के छत्ते का दृष्टान्त देकर यह बतलाया कि जिसप्रकार मधुमक्खियां नाना प्रकार के फल फूलों का रस लेकर जब मधु बनाती हैं तब वह यह नहीं जानाजाता कि यह किन २ फल फूलों का रस है, इसी प्रकार जब प्रलयकाल में अथवा सुषुप्तिकाल में जीव ब्रह्म के साथ मिल जाते हैं तब वह उक्त रसों के समान जाने नहीं जाते फिर जब वही जीव व्याघ्र, सिंह, कीट, पतङ्गादि योनियों को प्राप्त होते हैं उस समय उनका अणुरूप आत्मा सर्वथा भिन्न होता है, वह सत्य है और वह आत्मा हे श्वेतकेतु तू है ॥

इति नवमःखण्डः समाप्तः

अथ दशमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब तीसरा दृष्टान्त कथन करते हैं :—

इमाः सोम्य नद्यः पुरस्तात् प्राच्यः स्यन्दन्ते पश्चात्प्रतीच्यस्ताः समुद्रात् समुद्रमेवापि यन्ति । स समुद्र एव भवति ता यथा तत्र न विदुरिय-महमस्मीयमहमस्मीति ॥ १ ॥

अर्थ-हे सोम्य ! पूर्वदिशा को जानेवाली यह नदियें पूर्व की ओर वहती हैं, पश्चिम की ओर जानेवाली पश्चिम की ओर बहती हैं, वह सब नदियें समुद्र से समुद्र को ही जाती हैं और वहां पर वह समुद्र ही होजाती हैं, सो जैसे वह नदियें उस समुद्र को प्राप्त होकर यह नहीं जानतीं कि यह मैं हूं, यह मैं हूं ॥

एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सत आगम्य न

विदुः सत आगच्छामह इति। त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदाभवन्ति ॥ २ ॥

अर्थ–इसी प्रकार निश्चयकरके हे सोम्य ! यह सब प्रजा सत्स्वरूप ब्रह्म से आकर यह नहीं जानतीं कि हम सत् से आये हैं, वह जीव इस संसार में व्याघ्र, सिंह, बैल, शूकर, कीट, पतङ्ग, डांश अथवा मच्छर जो २ पूर्वजन्म में थे वही पुनः होते हैं ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिद ँ सर्वं तत्सत्य ँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। भूय एवमा भगवान् विज्ञापयत्विति। यथा सोम्येति होवाच॥३॥

अर्थ–वह जो यह सूक्ष्म जीव है उसी आत्मा का यह सब भाव है और वह सत्य है, वह आत्मा है, हे श्वेतकेतु ! वह तू है, भगवान्=हे भगवन् ! आप मुझको फिर भी उपदेश करें, उद्दालक बोले तथास्तु ॥

भाष्य–हे श्वेतकेतो ! जिसप्रकार नदियें बहती हुई समुद्र में लीन होती हैं और फिर वृष्टि द्वारा समुद्र से लौटकर यह नहीं जानतीं कि हम वही अमुक २ नदी हैं इसी प्रकार हे सोम्य ! यह सब प्रजा प्रलय तथा सुषुप्ति की अवस्था से उठकर जब अपने २ जन्म को धारण करती हैं तब जीव यह नहीं जानते कि इससे पूर्व हम अमुक २ शरीर में थे।

भाव यह है कि यहां नदियों का दृष्टान्त जीव ब्रह्म की एकता के अभिप्राय से नहीं, क्योंकि यदि जीव ब्रह्म की एकता के अभिप्राय से होता तो नाना जीवों के जन्मों का दृष्टान्त न दिया जाता, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि नदियों का दृष्टान्त केवल सुषुप्ति अवस्था तथा प्रलय अवस्था में ब्रह्म में सूक्ष्म होकर रहने के अभिप्राय से है एकता के अभिप्राय से नहीं ॥

इति दशमःखण्डः समाप्तः

अथ एकादशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०–अब चतुर्थ दृष्टान्त कथन करते हैं:–

अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभ्याहन्या-ज्जीवन् स्रवेद्यो मध्येऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेद्योऽग्रेऽ

भ्याहन्याज्जीवन् स्रवेत्स एष जीवेनाऽऽत्मना-नुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति ॥ १ ॥

अर्थ-हे सोम्य! इस महान् वृक्ष की जड़ में जो प्रहार करे तो जीता हुआ ही स्रवित् होता रहेगा, जो वृक्ष के मध्य में प्रहार करे तो जीता हुआ स्रवित् होता रहेगा, इसी प्रकार जो वृक्ष के अग्रभाग में कोई प्रहार करे तो जीता हुआ ही स्रवित होता रहेगा, क्योंकि यह वृक्ष जीवात्मा द्वारा व्याप्त होकर पृथिवी से रसरूप जल चूसता हुआ सहर्ष खड़ा रहता है ॥

अस्य यदेकाᳬ शाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति द्वितीयां जहात्यथ सा शुष्यति। तृतीयां जहात्यथ सा शुष्यति। सर्वं जहाति सर्वः शुष्यत्ये-वमेव खलु सोम्य विद्धीति होवाच ॥ २ ॥

अर्थ-इस वृक्ष की किसी एक शाखा को जब जीव त्याग देता है तब वह शाखा सूख जाती है, जब द्वितीय शाखा को त्यागता है तब वह सूख जाती है, जब जीव तीसरी शाखा को त्यागता है तब वह सूख जाती है, जब सब को त्याग देता है तब सम्पूर्ण वृक्ष सूखजाता है, उद्दालक बोले कि हे सोम्य! इसीप्रकार निश्चयकरके शरीर की दशा जानो ॥

जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति। स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदᳬ सर्वं तत्सत्यᳬ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

अर्थ-निश्चयकरके यह शरीर जीव रहित होने पर ही मरता=निश्चेष्ट हो जाता है, हे सोम्य! जीव नहीं मरता, वह आत्मा तू है, (शेष पूर्ववत्)

भाष्य-इस श्लोक का शेष अर्थ पीछे कर आये हैं पाठकगण वहीं पर देखलें, महर्षि उद्दालक श्वेतकेतु से बोले कि हे श्वेतकेतु! जिसप्रकार वृक्ष की एक शाखा को जब जीव छोड़ देता है तब वह सूख जाती है, जब दूसरी को छोड़ देता है तब वह सूख जाती है, इसीप्रकार जीव से रहित होने पर यह शरीर मृतक कहलाता है जीव के साथ मृतक कदापि नहीं कहाजाता, वह जीव जिसकी सत्ता से शरीर जीवित कहाजाता है वह तू है, अर्थात् शरीर के मरने से जीव नहीं मरता।

जो लोग "तत्" शब्द के अर्थ पूर्वप्रकृत "सत्" के करते हैं अर्थात

"तत्त्वम्" वाच्य ब्रह्म और "त्वं" पद वाच्य जीव को ठहराते हैं उनको यहां निष्पन्नता की दृष्टि से देखना चाहिये कि इस चतुर्थ अभ्यास अर्थात् इस वृक्ष के दृष्टान्त में कौनसा ऐसा लिङ्ग है जो "तत्" शब्द के अर्थ ब्रह्म बतलाये, कोई नहीं, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि यह प्रकरण जीव को अविनाशी बोधन करता है विनाशी नहीं ॥

इति एकादशःखण्डः समाप्तः

अथ द्वादशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब पांचवां दृष्टान्त कथन करते हैं:—

न्यग्रोधफलमत आहरेतीदं भगव इति भिन्धीति ।
भिन्नं भगव इति । किमत्र पश्यसीत्याराव्य इवेमा
धाना भगव इत्यासामङ्गैकां भिन्धीति । भिन्ना भगव
इति किमत्र पश्यसीति । न किञ्चन भगव इति ॥१॥

अर्थ—हे सोम्य ! इस वट के वृक्ष से फल ला, हे भगवन् । यह ले आया हूं, तब उद्दालक बोले इसको तोड़ो, हे भगवन् । तोड़ दिया, उद्दालक बोले इसके भीतर क्या देखते हो, हे भगवन् ! छोटे दानों के समान बीज हैं, हे पुत्र ! इनमें से एक को फोड़ो, हे भगवन् ! तोड़ दिया, इसमें क्या देखते हो, हे भगवन् ! कुछ नहीं ॥

त ँ होवाच यं वै सोम्यैतमणिमानं न निभालयस
एतस्य वै सोम्यैषोऽणिम्न एवं महान्यग्रोध-
स्तिष्ठति श्रद्धत्स्व सोम्येति ॥ २ ॥

अर्थ—उद्दालक फिर श्वेतकेतु से बोले कि हे सोम्य ! निश्चयकरके तुम जिस अणु अंश को नहीं देखते हो इसी अणुतम बीज का यह महान् वटवृक्ष शाखा पल्लवादि से भूषित खड़ा है, हे सोम्य ! तुम विश्वास करो ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिद ँ सर्वं तत्सत्य ँ
स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति । भूय एव
मा भगवान् विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥३॥

अर्थ- " हे श्वेतकेतु ! वह आत्मा तू है " (शेष पूर्ववत्) ॥

भाष्य-जब श्वेतकेतु " तत्त्वमसि " के चतुर्थ अभ्यास से भी जीवात्मा की सूक्ष्मता न समझसका तो महर्षि उद्दालक ने श्वेतकेतु से कहा कि तुम इस बट का बीज हमारे पास लाओ जब वह बटबीज ले आया तब उद्दालक ने श्वेतकेतु से तुड़वाकर कहा कि इसमें कुछ देखते हो उसने कहा कुछ नहीं दीखता तब उद्दालक ने कहा कि जिस सूक्ष्मता को तुम नहीं देखते उसी सूक्ष्मता से बना हुआ यह बट का महान् वृक्ष तुम्हारे सन्मुख है, इसलिये हे सोम्य ! तुम श्रद्धा करो कि वह इसी प्रकार सूक्ष्म जीवात्मा है जिसको तुम नहीं देखसकते, और वह जीवात्मा तू है ।

यदि यहां " तत्त्वमसि " से जीव ब्रह्म की एकता अभिप्रेत होती तो बटबीज का दृष्टान्त कदापि न दियाजाता, क्योंकि इस दृष्टान्त का जीव ब्रह्म की एकता में कोई उपयोग नहीं ॥

इति द्वादशःखण्डः समाप्तः

अथ त्रयोदशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब छठा दृष्टान्त कथन करते हैं:—

लवणमेतदुदकेऽवधायाथ मा प्रातरुपसीदथा इति स ह तथा चकार। तꣳहोवाच यद्दोषा लवणमुदकेऽवाधा अङ्ग । तदाहरेति तद्धावमृश्य न विवेद ॥ १ ॥

अर्थ-हे सोम्य ! इस लवण पिण्ड को जल में रखकर तदनन्तर प्रातःकाल मेरे समीप आओ, उस प्रसिद्ध श्वेतकेतु ने वैसा ही किया, तब उसको वह उद्दालक बोले कि रात्रि में जो लवण जल में रखा था हे पुत्र ! उसको ले आओ, उसको खोजा तो नहीं पाया, तब श्वेतकेतु पिता से बोला कि वह लवणपिण्ड नहीं मिलता ॥

यथा विलीनमेवाङ्गास्यान्तादाचामेति। कथमिति। लवणमिति । मध्यादाचामेति । कथमिति लवण-मित्यन्तादाचामेति । कथमिति । लवणमित्यभि-प्राश्यैनदथमोपसीदथा इति । तद्ध तथा चकार । तच्छश्वत्संवर्त्तते तꣳहोवाचात्र वाव किल तत्सोम्य

न निभालयसेऽत्रैव किलेति ॥ २ ॥

अर्थ-हे प्रिय पुत्र ! जल में विलीन हुए लवण को जिसप्रकार जान सकोगे वह यह है कि इस लवणयुक्त जल के उपरिभाग से जल लेकर आचमन करो. श्वेतकेतु ने वैसाही किया तब पिता बोला यह जल कैसा है ? लवण युक्त है, इस जल के मध्य में से लेकर आचमन करो, कैसा है ? लवणयुक्त है, इसके नीचे का जल लेकर आचमन करो, कैसा है ? लवणयुक्त है, इसका आचमन करके पश्चात् मेरे निकट आओ, श्वेतकेतु ने वैसाही किया, वह लवण सर्वदा जल में विद्यमान है, फिर उद्दालक बोले हे सोम्य ! वह लवण इसी जल में विद्यमान होने पर भी नहीं देखते हो कि यहां ही है ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिद ँ सर्वं तत्सत्य ँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति। तथा सोम्येति होवाच।३।

अर्थ-" हे श्वेतकेतु ! वह आत्मा तू है " (शेष पूर्ववत्) ॥

भाष्य-महर्षि उद्दालक बोले कि हे प्रिय पुत्र ! जिस प्रकार सूक्ष्मरूप से मिला हुआ नमक जल में ग्रहीत नहीं होता इसीप्रकार जीवात्मा इस शरीर के साथ ग्रहीत नहीं होता पर अपनी सत्तामात्र से ग्रहीत होता है, उसकी सत्ता तीनों कालों में सद्रूप है और वह आत्मा तू है ॥

इति त्रयोदशःखण्डः समाप्तः

अथ चतुर्दशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब सातवां दृष्टान्त कथन करते हैं:—

यथा सोम्य पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विसृजेत्स यथा तत्र प्राङ्वोदङ्वाऽधराङ्वा प्रत्यङ्वा प्रध्मायीताभिनद्धाक्ष आनीतोऽभिनद्धाक्षो विसृष्टः ॥ १ ॥

अर्थ-हे सोम्य ! जैसे गन्धार देश से किसी पुरुष को कोई आंखें बांधकर ले आवे और उसको वह निर्जन वन में छोड़दे तो वह जैसे उस वन में पूर्वाभिमुख अथवा उत्तराभिमुख, पश्चिमाभिमुख अथवा नीचे का मुख करके चिल्ला उठे कि मैं आंखें बांधकर लाया गया और बद्धनेत्र ही छोड़ागया हूं ॥

तस्य यथाऽभिनहनं प्रमुच्य प्रब्रूयादेतां दिशं गन्धारा एतां दिशं व्रजेति। स ग्रामाद्ग्रामं पृच्छन् पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसम्पद्येतैवमेवेहाचार्यवान् पुरुषो वेद। तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति॥ २॥

अर्थ-हे सोम्य! जैसे कोई उस पुरुष के बन्धन को खोलकर कहे कि इस दिशा को गन्धार देश है, इस ओर जाओ, वह यदि पण्डित और बुद्धिमान् है तो एक ग्राम से दूसरे ग्राम को पूछता हुआ गन्धार देश कोही प्राप्त होजायगा, इसीप्रकार इस लोक में आचार्य्यवान् पुरुष ही जानता है, उस आचार्य्यवान् पुरुष को तभी तक विलम्ब है जबतक इस शरीर को नहीं छोड़ता, शरीर त्यागने के अनन्तर ब्रह्म को प्राप्त होता है॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳसर्वं तत्सत्यꣳस आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच।३।

अर्थ-"हे श्वेतकेतु! वह आत्मा तू है" (शेष पूर्ववत्)॥

भाष्य-गन्धार देश से जो पुरुष आंखें बांधकर लाया गया है और निर्जन जंगल में उसकी आँखें खोलदीगई हैं तो जिसप्रकार वह पुरुष बिना उपदेष्टा के अपने पूर्व स्थान को प्राप्त नहीं होसका इसीप्रकार अदृष्टों से बांधा हुआ पुरुष इस पुररूप शरीर में आकर अपने पूर्वरूप को आचार्य्योपदेश के बिना प्राप्त नहीं होसकता, इसी अभिप्राय से उद्दालक ने कथन किया कि हे श्वेतकेतु! आचार्य्यवान् पुरुष ही उक्त तत्व को जानसका है अन्य नहीं, इस दृष्टान्त से भी यही सिद्ध हुआ कि जीवात्मा अपने यथार्थरूप को गुरु के उपदेश द्वारा ही जानसका है, इससे यह भाव कदापि नहीं निकलता कि गुरु के उपदेश द्वारा जीव ब्रह्म बन जाता है, क्योंकि यदि प्रथम किसी समय में ब्रह्म होता तो भूला हुआ दशमस्त्वमसि के समान तदुपदेष्टा द्वारा ब्रह्म बनसकता पर जब वह प्रथम कभी ब्रह्म था ही नहीं तो गुरु के उपदेश द्वारा ब्रह्म कैसे बनसका है, यदि यह कहाजाय कि जीवभाव से प्रथम जीवात्मा ब्रह्म ही था तो फिर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि वह जीव कैसे बन गया? यदि कहाजाय कि अविद्या से, तो कठिनाई यह है कि जीव से प्रथम अविद्या किसको लगी? यदि कहें कि जीव को, तो जीव तो अभी हुआ ही नहीं, शेष रहा ब्रह्म यदि ब्रह्म में अविद्या उत्पन्न होकर जीव बना तो फिर ब्रह्म ज्ञानस्वरूप कैसे? यदि ज्ञानस्वरूप भी

अविद्याग्रस्त होजाता है तो फिर उसको आचार्य्य का उपदेश निष्फल है, इत्यादि तर्कों से स्पष्ट सिद्ध है कि यहां अविद्याग्रस्त ब्रह्म से बने हुए जीव को आचार्य्य का उपदेश नहीं किन्तु अनादिसिद्ध शरीरादिकों के साथ मिलकर अपने अविनाशीपन से भूले हुए जीव को "तत्त्वमसि" का उपदेश है ॥

इति चतुर्दशःखण्डः समाप्तः

अथ पञ्चदशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब आठवां दृष्टान्त कथन करते हैं :—

पुरुषꣳसोम्योतोपतापिनं ज्ञातयः पर्य्युपासते जानासि मां जानासि मामिति । तस्य यावन्न वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायां तावज्जानाति ॥ १ ॥

अर्थ-हे सोम्य ! और दृष्टान्त यह है कि पुरुष को ज्वरादि से पीड़ित होने पर उसके बन्धु बान्धवादि चारो ओर बैठकर कहते हैं कि तुम मुझको जानते हो, तुम मुझको जानते हो, उस मुमूर्षु पुरुष की जब तक वाणी मन में, मन प्राण में, प्राण तेज में और तेज परादेवता=ब्रह्म में लीन नहीं होता तबतक वह जानता है ॥

अथ यदास्य वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायामथ न जानाति ॥ २ ॥

अर्थ-इसके अनन्तर जब उक्त पुरुष की वाणी मन में, मन प्राण में, प्राण तेज में और तेज परदेवता ब्रह्म में लीन होजाता है तब वह किसी को नहीं जानता ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳसर्वं तत्सत्यꣳस आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति । भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥३॥

अर्थ-"हे श्वेतकेतु ! वह आत्मा तू है" (शेष पूर्ववत्) ॥

भाष्य-उद्दालक ने कहा कि हे श्वेतकेतो ! जब यह पुरुष प्रयाणकाल में इस शरीर को त्यागता है तब इसके सब सम्बन्धी आकर कहते हैं कि तुम मुझको पहचानते हो, तुम मुझको पहचानते हो, जब तक उसकी वाणी मन में, मन

प्राण में, प्राण तेज में और तेज परदेवतारूप परब्रह्म में प्रविष्ट नहीं होता तब तक वह पुरुष सबको पहचानता है पर जब यह सब क्रमागत एक दूसरे में लय होजाते हैं तब यह किसी को नहीं जानता, वह जो इसका सूक्ष्म स्वरूप है वह जीवात्मा है और हे श्वेतकेतु वह तू है ॥

यहां इस दृष्टान्त से स्पष्ट करदिया कि जीवात्मा को अविनाशी बोधन करने के लिये ही उक्त प्रकरण है, क्योंकि यदि ऐसा न होता तो जीवात्मा के मृत्युकाल का दृष्टान्त देकर उसको अविनाशी सिद्ध न किया जाता प्रत्युत ब्रह्म का वर्णन करके फिर यह कथन किया जाता कि "तत्त्वमसि श्वेतकेतो" इससे स्पष्ट सिद्ध है कि जीव को ब्रह्म बनाने में इस प्रकरण को मायावादियों ने खेंच कर लगाया है और उनके मार्गानुगामी कई एक अन्य टीकाकार भी इस प्रकरण को ब्रह्मपरक ही लगाते हैं जो सर्वथा असङ्गत है ॥

इति पञ्चदशःखण्डः समाप्तः

अथ षोडशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब नवम दृष्टान्त कथन करते हैं :-

पुरुषꣳसोम्योतहस्तगृहीतमानयन्त्यपहार्षीत् स्तेयमकार्षीत् परशुमस्मै तपतेति। स यदि तस्य कर्ता भवति तत एवानृतमात्मानं कुरुते। सोऽनृताभिसन्धोऽनृतेनाऽऽत्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति। स दह्यतेऽथ हन्यते ॥ १ ॥

अर्थ-हे सोम्य! और दृष्टान्त यह है कि राजकर्मचारी पुरुष को हाथ बांधकर राजा के निकट लाते और कहते हैं कि इसने मेरा धन अपहरण किया है अर्थात् चोरी करके ले आया है, तब राजा कहता है कि इसके लिये परशुनामा यन्त्र तपाओ, यदि वह उस चोरी का कर्त्ता है तो उस चोरी के छिपाने से ही अपने को मिथ्यावादी सिद्ध करता और वह अनृतभाषी पुरुष अनृत से अपने आत्मा को छिपाकर उस तप्त परशु यन्त्र को पकड़ता और उससे वह जलकर मरजाता है ॥

अथ यदि तस्याकर्ता भवति तत एव सत्यमात्मानं कुरुते। स सत्याभिसन्धः सत्येनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स न दह्यतेऽथ मुच्यते ॥ २ ॥

अर्थ-और यदि वह उस चोरी का न करने वाला होता है तो वह अपनी सत्यता से ही अपने को सत्य सिद्ध करता है, वह सत्यात्मा पुरुष सत्य से अपने आत्मा को ढाप=ढ़कके उस तप्त परशु को पकड़ लेता है; वह उससे दग्ध नहीं होता और छूटजाता है ॥

स यथा तत्र नादाह्येतैतदात्म्यमिदꣳसर्वं तत्सत्यꣳस आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति । तद्धास्य विजिज्ञाविति विजिज्ञाविति ॥ ३ ॥

अर्थ—जैसे वह सत्यात्मक पुरुष उस परीक्षा में दग्ध नहीं हुआ उसी आत्मा का यह सब भाव है और वह सत्य है हे श्वेतकेतु ! वह आत्मा तू है, तब वह श्वेतकेतु बोला कि इस विज्ञान को मैंने जाना ॥

भाष्य—" विजिज्ञाविति " पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है अर्थात् श्वेतकेतु ने अपने पिता महर्षि उद्दालक से कहा कि मैंने आत्मा का तत्व भलीभांति जाना, तप्त परशु का दृष्टान्त सत्याभिसन्ध के लिये " मोक्ष " और अनृताभिसन्ध के लिये " बन्ध " की प्राप्ति कथन करता है, एवं जो पुरुष शरीरात्मवादी अनृताभिसन्ध हैं वह बन्धन को प्राप्त होते और जो " न जायते म्रियते वा कदाचन " इत्यादि वाक्यों द्वारा सत्याभिसन्ध हैं वह मुक्ति को प्राप्त होते हैं, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि यह प्रकरण जीवात्मा विषयक सत्यज्ञान का बोधक है जीव को ब्रह्म बनानेरूप मिथ्या ज्ञान का बोधक नहीं ।

भाव यह है कि उक्त नौ प्रकार के दृष्टान्तों में जीवात्मा का स्वरूप बोधन कियागया है जीव को ब्रह्मभाव बोधन नहीं कियागया, यदि यह प्रकरण सद्रूप ब्रह्म के साथ जीवात्मा की एकता बोधन करने के लिये होता तो उक्त नवों अभ्यासों अर्थात् नव वार तत्त्वमसि के उपदेश में जीव ब्रह्म की एकता का उपपादन अवश्य होता परन्तु ऐसा कहीं नहीं, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि महर्षि उद्दालक ने इस प्रपाठक में जिसप्रकार परमात्मा तथा तेज, अप और अन्नरूप प्रकृति का उपपादन किया है इसी प्रकार यहां जीवात्मा के अविनाशीरूप का भी उपपादन किया है, इसमें जीव ब्रह्म की एकता का गन्ध भी नहीं ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे छान्दोग्योपनिषदार्य्यभाष्ये षष्ठः प्रपाठकः समाप्तः

ओ३म्

अथ सप्तमःप्रपाठकः प्रारभ्यते

सं०—अब नारद के प्रति सनत्कुमार का उपदेश कथन करते हैं:—

अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदस्त ᳫ होवाच यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति ॥१॥

अर्थ—नारद सनत्कुमार को प्राप्त होकर बोले कि हे भगवन्! आप मुझको अध्ययन करावें. उस नारद से प्रसिद्ध सनत्कुमार ने कहा कि जो आप जानते हैं वह मेरे प्रति कथन करें, उससे आगे आपको मैं उपदेश करूंगा॥

सं०—अब नारद कथन करते हैं:—

स होवाचर्ग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेद ᳫ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्य ᳫ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्या ᳫ सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि॥ २ ॥

अर्थ—वह प्रसिद्ध नारद बोले कि हे भगवन्! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चतुर्थ अथर्ववेद को जानता हूं, पांचवें इतिहास, पुराण तथा उपनिषद् शास्त्र, कलाकौशलादि की विद्या, गणितविद्या, चिन्हों द्वारा वृष्टि आदि का ज्ञान, कानों की विद्या, तर्क शास्त्र, नीति शास्त्र, निरुक्त, आध्यात्मिक विद्या, तत्वों की विद्या, शस्त्रविद्या=धनुर्विद्या, नक्षत्र विद्या, सर्पों के विषों का ज्ञान तथा उनके उपायों की विद्या, नृत्यगीत वाद्यादि विद्या और प्राकृत जनों की विद्या, इन सब विद्याओं को हे भगवन्! मैं जानता हूं॥

सं०—अब सनत्कुमार कथन करते हैं:—

सोऽहं भगवो मंत्रविदेवास्मि नाऽत्मविच्छ्रुत ᳫ ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति! सोऽहं भगवः

शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति।
त ँ होवाच-यद्वै किञ्चैतदध्यगीष्ठा नामैवैतत् ॥ ३ ॥

अर्थ—हे भगवन्! मैं मंत्रवेत्ता ही हूं आत्मवित् नहीं, और आपके समान ब्रह्मवेत्ताओं से मैंने सुना है कि ब्रह्मवित् ही शोक को तरता है, हे भगवन्! वह मैं शोकित होने से आत्मवित् नहीं, आप मुझ शोकित को शोक से पार करें, यह विनय है तब उस नारद को वह प्रसिद्ध सनत्कुमार बोले कि निश्चयकरके जो कुछ इस विज्ञान का आपने अध्ययन किया है यह सब नाम ही है॥

नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वण-
श्चतुर्थ इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेदःपित्र्यो
राशिर्दैवो निधिर्वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्या
ब्रह्मविद्या। भूतविद्या क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्या
सर्पदेवजनविद्या नामैवैतन्नामोपास्स्वेति ॥ ४ ॥

अर्थ—हे नारद! निश्चयकरके ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा चतुर्थ अथर्ववेद नाम ही है और पञ्चम इतिहासपुराण, उपनिषद् शास्त्र, पित्र्य, राशि, दैव, निधि, वाकोवाक्य, एकायन, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, और सर्पदेवजनविद्या, यह सब नाम ही हैं, नाम की उपासना करो॥

सं०—अब उक्त नामोपासक के लिये फल कथन करते हैं:—

स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य
यथाकामचारो भवति यो नाम ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति
भगवो नाम्नो भूय इति। नाम्नो वाव भूयोऽस्ती-
ति। तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ ५ ॥

अर्थ—वह पुरुष जो नाम को बड़ा समझकर उपासना करता है वह जहां तक नाम की गति है वहां तक यह पुरुष स्वेच्छाचारी होता है, "यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, हे भगवन्! नाम से भी बड़ा कोई पदार्थ है? हां नाम से भी बड़ा पदार्थ है, वह कृपाकरके मेरे प्रति कथन करें॥

भाष्य—ब्रह्मविद्या के ज्ञानार्थ नारद ने सनत्कुमार से पुनः अध्ययन करने का प्रश्न किया कि हे भगवन्! मैं ब्रह्मविद्या के रहस्यों को जानना चाहता हूं, तब नारद को अध्ययन कराना स्वीकार करने से पूर्व सनत्कुमार ने उससे पूछा कि प्रथम यह बतलावें कि आपने क्या २ अध्ययन किया है? इसका उत्तर नारद ने यह दिया

कि मैंने ऋगादि चारों वेद, पांचवें इतिहासपुराण और उपनिषद्शास्त्र तथा शिल्पशास्त्रादि विद्याओं का अध्ययन किया है, एवं पूर्व पठित सब विद्यायें गिनकर सुनादीं, जिनमें भूतविद्या और सर्पविद्या का भी वर्णन है, भूतविद्या से तात्पर्य्य यहां तत्वों की विद्या का है किसी अलौकिक भूत पिशाचादि की विद्या से तात्पर्य्य नहीं, सर्पविद्या से तात्पर्य्य वैद्यकविद्या का है और यह विद्या यहां अन्य सब चिकित्साशास्त्र का उपलक्षण है अर्थात् नारद ने कहा कि मैंने चिकित्साशास्त्र को भी पढ़ा है।

जो कई एक लोग "पञ्चमं वेदानां वेदं" इस वाक्य का विशेषण "इतिहासपुराण" बनाकर यह अर्थ करते हैं कि इतिहासपुराण पांचवां वेद है, यह ठीक नहीं, क्योंकि उक्त वाक्य का विशेषण इतिहासपुराण नहीं किन्तु इतिहासपुराण का सम्बन्ध पञ्चम के साथ है, जैसाकि पूर्व अथर्वण के साथ चतुर्थ का अन्वय है अर्थात् चतुर्थ अथर्ववेद, इसीप्रकार यहां पांचवी संख्या पर इतिहासपुराण को गिना है, अथवा वेद शब्द यहाँ उपचार से कहा है, और पुराण शब्द सर्ग प्रतिसर्गादि विद्या का बोधन करनेवाले के अर्थ में है, इन सब विद्याओं के जानने पर भी नारद जो शोकग्रस्त रहा इसका कारण यह है कि नारद ने उक्त विद्यायें शब्दमात्र पढ़ी थीं अनुष्ठानी न था, इसी अभिप्राय से सनत्कुमार ने कहा कि हे नारद! जो विद्यायें आपने मुझको पढ़कर सुनाई हैं वह नाम हैं, आपको उचित है कि आप प्रथम नाम के तत्व को समझें, यहां जो यह कथन किया है कि नाम की ब्रह्मदृष्टि से उपासना करे, इसका तात्पर्य्य यह है कि नाम को अर्थ की प्रतीति में बड़ा समझकर उसका अनुष्ठान करें और ऐसा अनुष्ठान करने वाला सब अर्थों के समझने में योग्य होजाता है, फिर नारद ने पूछा कि हे भगवन्! नाम से भी कोई बड़ा है तब सनत्कुमार ने कहा कि हां नाम से भी बड़ा है जिसका वर्णन आगे करते हैं॥

इति प्रथमःखण्डः समाप्तः

अथ द्वितीयःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब सनत्कुमार नारद के प्रति वाणी की विशेषता कथन करते हैं:—

वाग्वाव नाम्नो भूयसी। वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञापयति यजुर्वेद ँ सामवेदमाथर्वणंचतुर्थमितिहास पुराणंपञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्य ँराशिं दैवं निधिं वाको वाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां

क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्याम् । दिव-ञ्चपृथिवीञ्च वायुञ्चाकाशञ्चापश्च तेजश्चदेवाᳶ-श्चमनुष्याᳶश्च पशूᳶश्च वयाᳶसि च । तृणवन स्पतीञ्छ्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकम् । धर्मञ्चाऽधर्मञ्च सत्यञ्चाऽनृतञ्च साधुचासाधुच हृदयज्ञञ्चा-हृदयज्ञञ्च यद्वै वाङ्नाभविष्यन्न धर्मो नाऽधर्मोव्य-ज्ञापयिष्यन्न सत्यं नाऽनृतं न साधु नाऽसाधु न हृदयज्ञो नाहृदयज्ञो वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयति वाचमुपास्स्वेति ॥१॥

अर्थ-हे नारद ! वाणी नाम से बड़ी है, क्योंकि वाणी ही ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, चतुर्थ अथर्ववेद, पंचम इतिहासपुराण, वेदानांवेद, पित्र्य, राशि, दैव, निधि, वाकोवाक्य, एकायन, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्र-विद्या, सर्पदेवजनविद्या और द्युलोक, पृथिवीलोक, वायु, आकाश, जल, तेज, देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण वनस्पति, हिंसक जीव, कीटपतङ्गादि क्षुद्रजन्तु, धर्म और अधर्म, सत्य और अनृत, साधु और असाधु, हृदय को प्रिय और अप्रिय, इन सब को वाणी ही जतलाती है, निश्चयकरके जो वाणी न होती तो न धर्म न अधर्म, न सत्य, न अनृत, न अच्छा, न बुरा, न हृदयप्रिय, न अप्रिय, जानाजाता, वाणी ही इनसब को विज्ञापित करती है, इसलिये हे नारद ! वाणी की ही उपासना कर ॥

सं०-अब उक्त वाणी के उपासक को फल कथन करते हैं:—

स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्वाचो गतं तत्रा-स्य यथाकामचारो भवति यो वाचं ब्रह्मेत्यु-पास्तेऽस्ति भगवो वाचो भूय इति वाचो वाव भूयोऽस्तीति । तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

अर्थ-हे नारद ! वह पुरुष जो वाणी को श्रेष्ठ मानकर उपासना करता है जहां तक वाणी की गति है वहां तक वह पुरुष स्वेच्छाचारी होता है "यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते" पाठ दोबार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, हे भगवन् ! वाणी से भी बड़ा कोई पदार्थ है ? तब सनत्कुमार बोले हां वाणी से भी बड़ा है, हे भगवन् ! उसको आप मेरे प्रति कथन करें ॥

भाष्य-यहां वाणी को नाम से बड़ा इस अभिप्राय से कथन किया है कि जितने नाम हैं वह सब वाणी से व्याप्त हैं, अधिक क्या जो कुछ धर्माधर्मरूप

अर्थजात है वह सब वाणी द्वारा ही ज्ञात होता है, क्योंकि वाणी ही इन सब को जनाती है, जो पुरुष वाणी के तत्व को जानता है वह वाणी के व्यापार में कुशल होने से सर्वप्रिय होता है ॥

इति द्वितीयःखण्डः समाप्तः

अथ तृतीयःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब सनत्कुमार वाणी से मन को बड़ा कथन करते हैं :—

मनो वाव वाचो भूयो यथा वै द्वे वाऽऽमलके द्वे वा कोले द्वौ वाऽक्षौ मुष्टिरनुभवत्येवं वाचञ्च नाम च मनोऽनुभवति । स यदा मनसा मनस्यति मंत्रानधीयीयेत्यथाधीते । कर्माणि कुर्वीयेत्यथ कुरुते । पुत्रांश्च पशूंश्चेच्छेयेत्यथेच्छत इमञ्च लोकममुञ्चेच्छेयेत्यथेच्छते । मनोह्यात्मा मनोहि लोको मनो हि ब्रह्म मन उपास्स्वेति ॥ १ ॥

अर्थ—हे नारद ! वाणी से मन श्रेष्ठ है, जैसे मुट्ठी दो आमलों, दो बेरों अथवा दो बहेड़ों को अनुभव करती है अर्थात् अपने अन्दर रखती है, वैसे ही मन वाणी और नाम इन दोनों को अनुभव करता है, कोई पुरुष जब मन से मनन करता है कि मंत्रों का अध्ययन करूं, पश्चात् पढ़ता है, कर्मों को करूं, पश्चात् करता है, पुत्रों और पशुओं की इच्छा करता है, पश्चात् यत्न करता है, जब पुरुष इस लोक तथा परलोक की इच्छा करता है, पश्चात् यत्न करता है, निश्चयकरके मन ही आत्मा, मन ही लोक और मन ही बड़ा है, इसलिये हे नारद ! मन की उपासना कर ॥

सं०—अब मन के उपासक को फल कथन करते हैं :—

स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्मनसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो मनो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो मनसो भूय इति । मनसो वाव भूयोऽस्तीति । तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

अर्थ—जो पुरुष मन को श्रेष्ठ समझकर उपासना करता है वह जितनी मन की गति है वहां तक स्वेच्छाचारी होता है "यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, हे भगवन् ! मन से भी कोई बड़ा है ? हां मन से भी निश्चयकरके बड़ा है, आप वह मेरे लिये कथन करें ॥

इति तृतीयःखण्डः समाप्तः

—:o:—

अथ चतुर्थःखण्डः प्रारभ्यते

—:o:—

सं०—अब सनत्कुमार मन से सङ्कल्प को श्रेष्ठ कथन करते हैं :—

सङ्कल्पो वाव मनसो भूयान्यदा वै सङ्कल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयतितामु नाम्नीरयति नाम्नि मंत्रा एकं भवन्ति मंत्रेषु कर्माणि ॥ १ ॥

अर्थ—हे नारद ! सङ्कल्प मन से बड़ा है, क्योंकि निश्चयकरके जब पुरुष सङ्कल्प करता है उसके अनन्तर मनन करता है फिर वाणी से कथन करके उसी वाक्य को नाम द्वारा उच्चारण करता है, नाम में मंत्र एक होते और मंत्रों में कर्म एक होते हैं ॥

भाष्य—कर्तव्याकर्तव्य विषयों को पृथक् २ समर्थन करने का नाम "सङ्कल्प" है, या यों कहो कि अन्तःकरण की एक वृत्तिविशेष का नाम "सङ्कल्प" है, और यह सङ्कल्प मन से बड़ा है, क्योंकि प्रथम किसी कर्तव्य की मन में इच्छा होती है उसके अनन्तर मनन करता है कि यह कर्म करूं वा न करूं, इत्यादि, फिर मन द्वारा स्थिर कर वाणी को प्रेरणा करता है और फिर वाणी को नाम में प्रेरता है, कर्तव्याकर्तव्य के अभिप्राय से यह कहा है कि मंत्रों में कर्म एक होते हैं अर्थात् वेद में कर्तव्य का ही विधान किया गया है अकर्तव्य का नहीं ॥

तानि ह वैतानि सङ्कल्पैकायनानि सङ्कल्पात्मकानि सङ्कल्पे प्रतिष्ठितानि । समक्लृपतां द्यावापृथिवी समकल्पेतां वायुश्चाकाशञ्च समकल्पन्ताऽऽपश्च तेजश्च । तेषा ᳪ संक्लृप्त्यै वर्ष ᳪ सङ्कल्पते वर्षस्य संक्लृप्त्या अन्न ᳪ सङ्कल्पतेऽन्नस्य संक्लृप्त्यै प्राणाः सङ्कल्पन्ते प्रा-

णानाᳩसंकॢप्त्यै मंत्राः संकल्पन्ते मंत्राणाᳩ संकॢप्त्यै कर्माणि संकल्पन्ते कर्मणाᳩसंक्लृप्त्यै लोकः संकल्पते लोकस्य संक्लृप्त्यै सर्वᳩसंकल्पते। स एष संकल्पः संकल्पमुपास्स्वेति ॥ २ ॥

अर्थ-हे नारद ! पूर्वोक्त मन आदि सङ्कल्पाश्रय हैं, सङ्कल्पस्वरूप हैं, सङ्कल्प में प्रतिष्ठित हैं, द्युलोक तथा पृथिवी संकल्प वाले हैं, वायु और आकाश सङ्कल्प से ही प्रतीत होते हैं, जल और तेज सङ्कल्प से जानेजाते हैं, उक्त पदार्थों के सङ्कल्प निमित्त वर्षा सङ्कल्प करती है, वृष्टि के सङ्कल्पनिमित्त अन्न सङ्कल्प करता है, अन्न के सङ्कल्पनिमित्त प्राण सङ्कल्प करते हैं, प्राण के सङ्कल्पनिमित्त मंत्र सङ्कल्प करते हैं, मंत्रों के सङ्कल्पनिमित्त सङ्कल्पपूर्वक कर्म किये जाते हैं, कर्मों के सङ्कल्पनिमित्त लोक सङ्कल्प करते हैं, लोक के सङ्कल्पनिमित्त सब सङ्कल्प करते हैं, वह यह संकल्प है, सङ्कल्प की ही उपासना कर ॥

सं०-अब उक्त सङ्कल्प के ज्ञाता का फल कथन करते हैं:—

स यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते क्लृप्तान् वै स लोकान् ध्रुवान् ध्रुवः प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिद्ध्यति। यावत्संकल्पस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवः संकल्पाद्भूय इति संकल्पाद्वाव भूयोऽस्तीति। तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ ३ ॥

अर्थ-वह पुरुष जो संकल्प को बड़ा समझकर उपासना करता है निश्चय करके वह सामर्थ्ययुक्त उत्तम लोकों को प्राप्त होता है, दृढ़सङ्कल्प पुरुष दृढ़ लोकों को प्राप्त होता है, प्रतिष्ठित पुरुष प्रतिष्ठित लोकों को प्राप्त करता है, क्लेशरहित होकर सुखी लोकों को प्राप्त होता है, जहां तक संकल्प की गति है वहां तक स्वेच्छाचारी होता है "यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, हे भगवन् ! संकल्प से भी कोई बड़ा है, हां संकल्प से भी बड़ा है, आप वह मेरे प्रति कथन करें ॥

इति चतुर्थःखण्डः समाप्तः

अथ पञ्चमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब सनत्कुमार संकल्प से चित्त को बड़ा कथन करते हैं :—

चित्तं वाव संकल्पाद्भूयो यदा वै चेतयतेऽथ संकल्पयते ऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति तामु नाम्नीरयति नाम्नि मंत्रा एकं भवन्ति मंत्रेषु कर्माणि ॥ १ ॥

अर्थ-हे नारद ! चित्त संकल्प से बड़ा है, निश्चयकरके जब पुरुष किसी पदार्थ का चिन्तन करता है कि इसको ग्रहण करूं वा त्याग करूं, उसके अनन्तर संकल्प करता पश्चात् मनन करता है, तब वाणी के उच्चारणार्थ प्रेरित करता है, उसी वाणी को नाम निमित्तक प्रेरता है, नाम में मंत्र एक होते हैं मंत्रो में कर्म एक होते हैं ॥

तानि ह वा एतानि चित्तैकायनानि चित्तात्मकानि चित्ते प्रतिष्ठितानि । तस्माद्यद्यपि वहुविदचित्तो भवति । नायमस्तीत्येवैनमाहुर्यदयं वेद यद्वाऽयं विद्वान्नेत्थमचित्तः स्यादित्यथ यद्यल्पविच्चित्तवान् भवति । तस्मा एवोत शुश्रूषन्ते चित्तं ह्येवैषामेकायनं चित्तमात्मा चित्तं प्रतिष्ठाचित्तमुपास्स्वेति ॥२॥

अर्थ-हे नारद ! निश्चयकरके वह पूर्वोक्त संकल्पादि चित्त के आश्रित हैं, चित्तस्वरूप हैं, चित्त में ही प्रतिष्ठित हैं, इस कारण यद्यपि कोई पुरुष विविध प्रकार वेदादि का ज्ञाता हो परन्तु स्थिर चित्त न हो तो इसको लोग कहते हैं कि यह नहीं है अर्थात् न होने के बराबर है, जो यह पुरुष जानता है निश्चयकरके यदि यह शास्त्रों का ज्ञाता होता तो ऐसा अस्थिर चित्त न होता और यदि कोई थोड़ा जानने वाला अच्छे चित्तवाला है तो उस पुरुष का सब सत्कार करते हैं, उक्त सबका चित्त ही आश्रय, चित्त ही आत्मा और चित्त ही प्रतिष्ठा है, इस कारण हे नारद ! चित्त की ही उपासना कर ॥

सं०—अब उक्त चित्त के ज्ञाता को फल कथन करते हैं :—

स यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते चित्तान्वै स लोकान् ध्रुवान् ध्रुवः प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिद्ध्यति । यावच्चित्तस्यगतं तत्राऽस्य यथाकामचारो भवति यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवश्चित्ता

य इति चित्ताद्वाव भूयोऽस्तीति । तन्मे भग-
वान् ब्रवीत्विति ॥ ३ ॥

अर्थ— वह पुरुष जो चित्त को बड़ा समझकर चित्त से उपासना करता है, निश्चयकरके वह दृढ़संकल्प पुरुष दृढ़ लोकों को प्राप्त होता है, वह प्रतिष्ठित पुरुष प्रतिष्ठित लोकों को प्राप्त होता है, वह क्लेशरहित पुरुष सुखी लोकों को प्राप्त होता है, जहां तक चित्त की गति है वहां तक यह पुरुष स्वेच्छाचारी होता है "यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, हे भगवन् चित्त से भी कोई बड़ा है ? हां चित्त से भी बड़ा है, आप वह मेरे प्रति कथन करें ॥

इति पञ्चमःखण्डः समाप्तः

——*०*——

अथ षष्ठःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब चित्त से ध्यान को बड़ा कथन करते हैं :—

ध्यानं वाव चित्ताद्भूयो ध्यायतीव पृथिवी ध्याय-
तीवान्तरिक्षं ध्यायतीव द्यौर्ध्यायन्तीवाऽऽपो ध्या-
यन्तीव पर्वता ध्यायन्तीव देवमनुष्यास्तस्माद्य
इह मनुष्याणां महत्तां प्राप्नुवन्ति ध्यानपादांशा
इवैव ते भवन्त्यथयेऽल्पाः कलहिनः पिशुना
उपवादिनस्तेऽथ ये प्रभवो ध्यानपादांशाइवैव
ते भवन्ति ध्यानमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

अर्थ—हे नारद ! ध्यान चित्त से बड़ा है क्योंकि पृथिवी ध्यानावस्थित सी प्रतीत होती है, अन्तरिक्ष ध्यानावस्थित सा प्रतीत होता है, द्युलोक ध्यानावस्थित सा प्रतीत होता है, जल ध्यानावस्थित प्रतीत होता है, पर्वत ध्यानावस्थित प्रतीत होते हैं, विद्वान् मनुष्य ध्यानावस्थित प्रतीत होते हैं, इस कारण मनुष्यों के मध्य जो पुरुष इस लोक में महत्व को प्राप्त होते हैं वह निश्चयकरके ध्यान के एकपाद की न्याईं हैं और जो अल्प हैं वह कलह करने वाले, दूसरों के दोषों को देखने वाले और परोक्ष में निन्दा करने वाले होते हैं, और जो मनुष्यों के प्रभु होते हैं वह, निश्चयकरके ध्यान के प्रभाव से होते हैं, इसलिये हे नारद ! ध्यान की ही उपासना कर ॥

सं०—अब ध्यानकर्ता को फल कथन करते हैं :—

स यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते यावत् ध्यानस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो ध्यानाद्भूय इति ध्यानाद्वाव भूयोऽस्तीति । तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

अर्थ—जो पुरुष ध्यान को बड़ा समझकर उपासना करता है वह जहां तक ध्यान की गति है वहां तक स्वेच्छाचारी होता है "यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, हे भगवन् ! ध्यान से भी कोई बड़ा है ? हां ध्यान से भी बड़ा है, वह आप मेरे प्रति कथन करें ॥

इति षष्ठःखण्डः समाप्तः

——*:०:*——

अथ सप्तमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब ध्यान से विज्ञान को बड़ा कथन करते हैं:—

विज्ञानं वाव ध्यानाद्भूयो विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदꣳसामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳराशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यां दिवञ्च पृथिवीञ्च वायुञ्चाकाशञ्चापश्च तेजश्च देवाꣳश्च मनुष्याꣳश्च पशूꣳश्च वयाꣳसि च तृणवनस्पतीञ्छ्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकं धर्मञ्चाधर्मञ्च सत्यञ्चानृतञ्च साधुचासाधु च हृदयज्ञञ्चाहृदयज्ञञ्चान्नञ्च रसञ्चेमञ्च लोकममुञ्च विज्ञानेनैव विजानाति । विज्ञानमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

अर्थ—हे नारद! विज्ञान ध्यान से बड़ा है, क्योंकि निश्चयकरके विज्ञान से ही पुरुष ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, चतुर्थ अथर्ववेद, पंचम इतिहास पुराण, वेदानांवेद, पित्र्य, राशि, दैव, निधि, वाकोवाक्य, एकायन, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पदेवजनविद्या, इनसब विद्याओं को जानता है, और द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, जल, तेज, देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, तृणवनस्पती, श्वपदानि, कीट, पतङ्ग, पिपीलिकादि क्षुद्रजन्तुओं का तत्व भी विज्ञान द्वारा ही जाना जाता है, और धर्म, अधर्म, सत्य, असत्य, साधु, असाधु हृदयप्रिय, हृदयअप्रिय, रस, अन्न, यह लोक और परलोक, इन सब को पुरुष विज्ञान से ही जानता है, इसलिये हे नारद! विज्ञान की ही उपासना कर ॥

सं०—अब विज्ञानी के लिये फल कथन करते हैं:—

स यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते विज्ञानवतो वै स लोकान् ज्ञानवतोऽभिसिद्धयति। यावद्विज्ञानस्यगतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो विज्ञानाद्भूय इति विज्ञानाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

अर्थ—जो पुरुष विज्ञान को बड़ा समझकर उपासना करता है निश्चय करके ज्ञानवान् होकर ज्ञानवाले लोकों को प्राप्त होता है, जहां तक विज्ञान की गति है वहां पर्य्यन्त यह पुरुष स्वेच्छाचारी होता है "यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, हे भगवन्! विज्ञान से भी कोई पदार्थ बड़ा है? हां विज्ञान से भी बड़ा है, वह मेरे प्रति आप कथन करें ॥

इति सप्तमःखण्डः समाप्तः

अथ अष्टमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब विज्ञान से बल को बड़ा कथन करते हैं:—

बलं वाव विज्ञानाद्भूयोऽपि ह शतं विज्ञानवतामेको बलवानाकम्पयते। स यदा बली भवत्यथोत्थाता भवत्युत्तिष्ठन् परिचरिता भवति। परिचरन्नुपसत्ता भवत्युपसीदन्द्रष्टा भवति। श्रोता भवति। मन्ता भवति।

बोद्धा भवति। कर्त्ता भवति। विज्ञाता भवति। बलेन वै पृथिवी तिष्ठति। बलेनान्तरिक्षम्। बलेन द्यौर्बलेन पर्वता बलेन देवमनुष्या बलेन पशवश्च वयाꣳसि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकम्। बलेन लोकस्तिष्ठति। बलमुपास्स्वेति॥१॥

अर्थ—हे नारद! निश्चयकरके बल विज्ञान से भी बड़ा है, क्योंकि एक बलवाला शतशः विज्ञानी पुरुषों को कंपायमान करदेता है, वह पुरुष जब बली होता है तब कार्य्य करने को उद्यत होता है, उत्साहपूर्वक सेवा करने के योग्य होता है, सेवा करता हुआ समीपता को प्राप्त होता है, समीपता लाभ करके द्रष्टा होता, श्रोता होता, मन्ता=मनन करने वाला होता, ज्ञानवान् होता, अनुष्ठान करने वाला होता और विशेषरूप से जाननेवाला होता है, बल से ही भूलोक स्थित है, बल से अन्तरिक्ष, बल से द्युलोक, बल से पर्वत, बल से विद्वान् पुरुष, बल से पशु पक्षी और तृण तथा वनस्पति, हिंसक पशु और कीट, पतङ्ग पिपीलकादि सब जीव जन्तु बल से ही स्थित हैं, बल से ही सब लोकलोकान्तर स्थित हैं, इसलिये हे नारद! बल की ही उपासना कर॥

सं०—अब बलवान् पुरुष को फल कथन करते हैं:—

स यो बलं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्बलस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति। यो बलं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो बलाद्भूय इति बलाद्वाव भूयोऽस्तीति। तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति॥२॥

अर्थ-वह पुरुष जो बल को बड़ा समझकर उपासना करता है, जहांतक बल की गति है वहां तक यह स्वेच्छाचारी होता है "यो बलं ब्रह्मेत्युपास्ते" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, हे भगवन्! बल से भी कोई बड़ा है? हां बल से भी बड़ा है, वह आप मेरे लिये कथन करें॥

इति अष्टमःखण्डः समाप्तः

अथ नवमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब बल से अन्न को बड़ा कथन करते हैं:—

अन्नं वाव बलाद्भूयस्तस्माद्यद्यपि दशरात्रीर्नाश्नीयाद्यद्यु ह जीवेदथवाऽद्रष्टाऽश्रोताऽमन्ताऽबोद्धाऽकर्त्ताऽविज्ञाता भवत्यथाऽन्नस्या

ऽऽये द्रष्टा भवति । श्रोता भवति । मन्ता भवति । बोद्धा भवति । कर्ता भवति । विज्ञाता भवत्यन्नमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

अर्थ-हे नारद ! अन्न बल से बड़ा है, इसी कारण यद्यपि कोई यदि दशरात्री अन्न न खाय तो मरजाय अथवा कोई प्रसिद्ध बलिष्ट पुरुष जीवित भी रहे तो वह न देखने वाला, न सुनने वाला, मनन न करने वाला, विचार रहित, काम न करने वाला, न जानने वाला होता है, और जब अन्न की प्राप्ति होजाती है तब द्रष्टा होता, श्रोता होता, मन्ता होता, बोद्धा होता, कर्त्ता होता और ज्ञानवान् होता है, इसलिये हे नारद ! अन्न की उपासना कर ॥

सं०-अब अन्न के उपासक को फल कथन करते हैं :—

स योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽन्नवतो वै स लोकान् पानवतोऽभिसिद्ध्यति । यावदन्नस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवोऽन्नाद्भूय इत्यन्नाद्वाव भूयोऽस्तीति । तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

अर्थ-वह पुरुष जो अन्न को बड़ा समझकर उपासना करता है वह निश्चय करके अन्न और पान वाले लोकों को प्राप्त होता है, जहांतक अन्न की गति है वहांतक स्वेच्छाचारी होता है, जो अन्न को बड़ा समझकर उपासना करता है, हे भगवन् ! अन्न से भी कोई बड़ा है ? हां अन्न से भी बड़ा है, वह आप मेरे प्रति कथन करें ॥

इति नवमःखण्डः समाप्तः

अथ दशमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब अन्न से जल को बड़ा कथन करते हैं:—

आपोवावान्नाद्भूयस्यस्तस्माद्यदासुवृष्टिर्न भवति व्याधीयन्ते प्राणा अन्नं कनीयो भविष्यतीत्यथ यदा सुवृष्टिर्भवत्यानन्दिनःप्राणा भवन्त्यन्नं बहु भविष्यतीत्याप एवेमा मूर्त्ता येयं पृथिवी यदन्तरिक्षंयद्द्यौर्यत्पर्वता यद्देव मनुष्या यत्पशवश्च

वयांऽसि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकमाप एवेमामूर्त्ता अप उपास्स्वेति ॥१॥

अर्थ-हे नारद ! जल अन्न से बड़ा है, इसी कारण जब सुवृष्टि नहीं होती तब प्राणी दुःखित होते हैं कि अब के अन्न बहुत कम होगा और जब अच्छी वृष्टि होती है तब प्राणी आनन्दित होते हैं कि अन्न बहुत होगा, यह जल ही मूर्तिमान् हैं जो यह पृथिवी, जो अन्तरिक्ष, जो यह द्युलोक, जो पर्वत, जो यह विद्वान् मनुष्य, जो पशु पक्षी और तृण तथा वनस्पति, हिंसक पशु, कीट, पतङ्ग, पिपीलकादि क्षुद्रजन्तु यह सब जल ही की मूर्तियां हैं, हे नारद ! जल ही की उपासना कर ॥

सं०-अब जल के उपासक को फल कथन करते हैं :—

स योऽपो ब्रह्मेत्युपास्त आप्नोति सर्वान्कामांऽस्तृप्तिमान् भवति। यावदपां गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति योऽपो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवोऽद्भ्यो भूय इत्यद्भ्यो वाव भूयोऽस्तीति। तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

अर्थ—वह पुरुष जो जल को बड़ा समझकर उपासना करता है वह सब कामनाओं को प्राप्त होता और तृप्तिवाला होता है, जहांतक जल की गति है वहांतक स्वेच्छाचारी होता है " योऽपोब्रह्मेत्युपास्ते " पाठ दोवार क अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, हे भगवन् ! जल से भी कोई बड़ा है ? हां जल से भी बड़ा है, वह आप मेरे प्रति कथन करें ॥

इति दशमःखण्डः समाप्तः

अथ एकादशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब जल से तेज को बड़ा कथन करते हैं:—

तेजो वावाद्भ्यो भूयस्तद्वा एतद्वायमुपगृह्याकाशमभितपति तदाहुर्निशोचति नितपति वर्षिष्यति वा इति। तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाऽथापः सृजते तदेतदूर्ध्वाभिश्च तिरश्चीभिश्चविद्युद्भिरा-

ह्रादाश्चरन्ति । तस्मादाहुर्विद्योतते स्तनयति
वर्षिष्यति वा इति तेज एव तत्पूर्वं दर्शयि-
त्वाऽथापः सृजते तेज उपास्स्वेति ॥ १ ॥

अर्थ—हे नारद ! तेज जल से बड़ा है, क्योंकि निश्चयकरके यह तेज वायु को साथ लेकर आकाश को तपाता है तव लोग कहते हैं कि गरम होरहा है, तपा रहा है, निश्चयपूर्वक वर्षा होगी, तेज ही अपने रूप को प्रथम दिखाकर अनन्तर जलों को बनाता है, सो यह तेज ऊर्ध्वस्थित और तिरछीगति वाली विद्युत् के साथ गर्जन करता है, इसी कारण कथन करते हैं कि विद्युत् चमकता है, गर्जता है, निश्चयपूर्वक वर्षा होगी, तेज ही उस दृश्य को प्रथम दिखाकर अनन्तर जल को उत्पन्न करता है, सो हे नारद ! तेज की ही उपासना कर ॥

सं०-अब उक्त तेज के उपासक को फल कथन करते हैं:—

स यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते तेजस्वी वै स तेजस्वतो
लोकान् भास्वतोऽपहततमस्कानभिसिद्ध्यति ।
यावत्तेजसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति ।
यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवस्तेजसो भूय इति
तेजसो वाव भूयोऽस्तीति । तन्मे भगवान्
ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

अर्थ—वह पुरुष जो तेज को बड़ा समझकर उपासना करता है, वह तेजस्वी होता है, निश्चयकरके वह तेजस्वी, देदीप्यमान, अज्ञानरूप अन्धकार से रहित लोकों को प्राप्त होता है, जहां तक तेज की गति है वहां तक यह पुरुष स्वेच्छाचारी होता है "यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, हे भगवन् ! तेज से भी कोई बड़ा है ? हां निश्चयकरके तेज से भी बड़ा है, वह आप मेरे प्रति कथन करें ॥

इति एकादशःखण्डः समाप्तः

अथ द्वादशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब तेज से आकाश को बड़ा कथन करते हैं:—

आकाशो वाव तेजसो भूयानाकाशे वै सूर्य्या-

चन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राण्यग्निराकाशेनाह्व-
यत्याकाशेनशृणोत्याकाशेन प्रतिशृणोत्याकाशे
रमत आकाशे न रमत आकाशे जायत
आकाशमभिजायत आकाशमुपास्स्वेति ॥ २ ॥

अर्थ—हे नारद ! आकाश तेज से बड़ा है, क्योंकि आकाश में ही सूर्य्य, चन्द्रमा, विद्युत् तथा नक्षत्र और आग्नेयशक्ति विद्यमान है, आकाश द्वारा ही एक दूसरे को पुकारता, आकाश के द्वारा ही सुनता, आकाश द्वारा ही प्रत्युत्तर देता, आकाश में ही क्रीड़ा करता, आकाश में ही रमण करता, आकाश में ही सब पदार्थ उत्पन्न होते और आकाश में ही पुष्ट होते हैं, इसलिये हे नारद ! आकाश की ही उपासना कर ॥

सं०—अब आकाश के उपासक को फल कथन करते हैं:—

स य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्त आकाशवतो वै स
लोकान् प्रकाशवतोऽसम्बाधानुरुगायवतोऽभिसि-
द्ध्यति । यावदाकाशस्य गतं तत्रास्य यथा-
कामचारो भवति य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति
भगव आकाशाद्भूय इत्याकाशाद्वाव भूयोऽ-
स्तीति । तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

अर्थ—वह पुरुष जो आकाश को बड़ा समझकर उपासना करता है वह निश्चयकरके आकाश वाले प्रकाशयुक्त, सब बाधाओं से रहित, विस्तीर्ण=खुले हुए लोकों को प्राप्त होता है, जहांतक आकाश की गति है वहांतक यह स्वेच्छाचारी होता है " य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्ते " पाठ दोबार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, हे भगवन् ! आकाश से भी कोई बड़ा है ? हां आकाश से भी बड़ा है, वह आप मेरे लिये कथन करें ॥

इति द्वादशःखण्डः समाप्तः

अथ त्रयोदशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब आकाश से स्मरण को बड़ा कथन करते हैं:—

स्मरो वावाऽऽकाशाद्भूयस्तस्माद्यद्यपि बहव आसीरन्न

स्मरन्तो नैव ते कञ्चनशृणुयुर्न मन्वीरन्न विजानीरन्। यदा वाव ते स्मरेयुरथशृणुयुरथमन्वीरन्नथ विजानीरन्। स्मरेण वै पुत्रान्विजानातिस्मरेण पशून् स्मरमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

अर्थ—हे नारद! स्मरण आकाश से बड़ा है, इसी कारण यद्यपि स्मरण न करते हुए किसी स्थान में बहुत आदमी बैठजायं तो वह न तो किसी शब्द को सुन सकेंगे, न मनन कर सकेंगे, न जान सकेंगे परन्तु जब वह स्मरण कर सकेंगे तभी सुन सकेंगे, तभी मनन करसकेंगे और तभी जान सकेंगे, निश्चयकरके स्मरण से ही पुत्रों को जानता और स्मरण से पशुओं को जानता है, हे नारद! स्मरण की ही उपासना कर॥

सं०—अब उक्त उपासक को फल कथन करते हैं:—

स यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्ते यावत् स्मरस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवः स्मराद्भूय इति स्मराद्वावभूयोऽस्तीति। तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

अर्थ—वह पुरुष जो स्मरण को बड़ा समझकर उपासना करता है, जहांतक स्मरण की गति है, वहांतक वह स्वेच्छाचारी होता है "यः स्मरंब्रह्मेत्युपास्ते" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, हे भगवन्! स्मरण से भी कोई बड़ा है? हां स्मरण से भी बड़ा है, वह आप मेरे लिये कथन करें॥

इति त्रयोदशःखण्डः समाप्तः

अथ चतुर्दशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब स्मरण से आशा को बड़ा कथन करते हैं:—

आशा वाव स्मराद्भूयस्याशेद्धो वै स्मरो मन्त्रानधीते कर्माणि कुरुते पुत्रांश्च पशूंश्चेच्छत इमञ्च लोकममुञ्चेच्छत आशामुपास्स्वेति ॥ १ ॥

अर्थ-हे नारद! आशा स्मरण से बड़ी है, क्योंकि आशा से वर्धित पुरुष ही स्मरण करने वाला होता और वही मंत्रों का अध्ययन करता, फिर कर्म

करता है, कर्मों से पुत्रों की और पशुओं की इच्छा करता है, इस लोक और परलोक की इच्छा करता है, इसलिये हे नारद ! आशा की उपासना कर ॥

सं०-अब आशा के उपासक को फल कथन करते हैं :—

स य आशां ब्रह्मेत्युपास्ते आशयाऽस्य सर्वेकामाः समृध्यन्त्यमोघा ह्यस्याशिषो भवन्ति यावदाशाया गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति य आशां ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव आशाया भूय इत्याशाया वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

अर्थ—वह पुरुष जो आशा को बड़ा समझकर उपासना करता है, इसकी आशा के कारण सब कामनायें वृद्धि को प्राप्त होती हैं, प्रसिद्ध है कि उस पुरुष को आशायें पूर्ण होती हैं, जितनी आशा की गति है वहां तक यह पुरुष स्वेच्छाचारी होता है "य आशां ब्रह्मेत्युपास्ते" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, हे भगवन् ! आशा से भी कोई बड़ा है ? हां आशा से भी निश्चयकरके बड़ा है, वह आप मेरे प्रति कथन करें ॥

इति चतुर्दशःखण्डः समाप्तः

अथ पञ्चदशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब आशा से प्राणों को बड़ा कथन करते हैं :—

प्राणो वाऽऽशाया भूयान्यथा वा अरानाभौ समर्पिता एवमस्मिन् प्राणे सर्वꣳसमर्पितं। प्राणः-प्राणेन याति प्राणः प्राणं ददाति । प्राणायद-दाति । प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणःस्वसा प्राण आचार्य्यः प्राणो ब्राह्मणः ॥ १ ॥

अर्थ—हे नारद ! प्राण आशा से बड़ा है, जैसे रथ की नाभि में आरे लगे रहते हैं इसी प्रकार इस प्राण में सब समर्पित हैं, इन्द्रिय प्राण द्वारा व्यवहार करते हैं, प्राण ही सबको प्राणनशक्ति देता है, प्राण को देता है, प्राण ही पिता, प्राण ही माता, प्राण ही भ्राता, प्राण ही बहिन, प्राण ही आचार्य्य और प्राण ही ब्राह्मण है ॥

स यदि पितरं वा मातरं वा भ्रातरं वा स्वसारं वाऽऽचार्य्यं वा ब्राह्मणं वा किञ्चिद्भृशमिव प्रत्याह धिक्त्वाऽस्त्वित्यवैनमाहुः पितृहा वै त्वमसि मातृहा वै त्वमसि भ्रातृहा वै त्वमसि स्वसृहा वै त्वमस्याचार्य्यहा वै त्वमसि ब्राह्मणहा वै त्वमसीति॥ २॥

अर्थ—वह पुरुष यदि पिता, माता, भ्राता, बहिन, आचार्य्य अथवा ब्राह्मण को कुछ अनुचित के समान वचन कहे तो इसको लोग कहते हैं कि तुझको धिक्कार है जो तू पिता का मारने वाला, माता का हनन करने वाला, भ्राता का हनन करने वाला, भगिनी का हनन करने वाला, आचार्य्य का मारने वाला और ब्राह्मण का हनन करने वाला है, इस प्रकार इस पुरुष से लोग कहते हैं॥

अथ यद्यप्येनानुत्क्रान्तप्राणान् शूलेन समासं व्यतिसंदहेन्नैवैनं ब्रूयुः पितृहासीति। न मातृहासीति। न भ्रातृहासीति। न स्वसृहासीति। नाचार्य्यहासीति। न ब्राह्मणहासीति॥ ३॥

अर्थ—इसके अनन्तर यद्यपि प्राण निकले हुए इन माता पिता आदिकों को शूल से इकट्ठा करके पुत्रादि जलाते हैं तथापि इनको कोई भी नहीं कहता कि यह पिता का हनन करने वाला है, न माता का हनन करने वाला, न भाई का हनन करने वाला, न भगिनी का हनन करने वाला, न आचार्य्य का हनन करने वाला और न ब्राह्मण का हनन करने वाला कोई कहता है, अतएव प्राण ही सबसे बड़ा है॥

सं०—अब प्राण को बड़ा मानने वाले के लिये फल कथन करते हैं:—

प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति। स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवति। तञ्चेद्ब्रूयुरतिवाद्यसीत्यतिवाद्यस्मीति ब्रूयान्नापह्नुवीत॥ ४॥

अर्थ—निश्चयकरके प्राण ही माता पिता आदि सब होता है, वही उक्त प्रकार से देखता हुआ, मानता हुआ, जानता हुआ, सत्यवादी होता है, यदि उस अतिवादी पुरुष को कोई कहे कि तू अतिवादी है तो वह उत्तर देवे कि मैं अतिवादी हूं, कभी न छिपावे॥

इति पंचदशःखण्डः समाप्तः

अथ षोडशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-प्राण को बड़ा वर्णन करने के अनन्तर अब सनत्कुमार नारद को सत्स्वरूप ब्रह्म का उपदेश करते हैं :—

एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति । सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानीति सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति । सत्यं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

अर्थ-निश्चयकरके वह अतिवादी है जो सद्रूप ब्रह्म के साक्षात् द्वारा अतिवादी होता है, नारद ने कहा कि हे भगवन्! मैं सत्य=ब्रह्म से अतिवादी होऊं, सनत्कुमार ने कहा कि सत्य ही जिज्ञासनीय है, फिर नारद बोले कि हे भगवन्! सत्य की मैं जिज्ञासा करता हूं ॥

भाष्य-नारद सनत्कुमार से प्राण तक बराबर प्रश्न करते रहे परन्तु जब सनत्कुमार ने कहा कि हे नारद! प्राण-सब से श्रेष्ठ है इसी की उपासना कर, क्योंकि इसी में पूर्वोक्त सब पदार्थ समर्पित हैं, यह सुनकर नारद प्रश्न करने से विरत होगये, फिर सनत्कुमार ने कहा कि हे नारद! प्राण का ज्ञाता अति वादी=सत्यवादी होता है, यदि उससे कोई कहे कि तुम अतिवादी हो तो वह यह उत्तर देवे कि मैं अतिवादी हूं वह किसी के प्रति छिपावे नहीं परन्तु वास्तव में सनत्कुमार का अभिप्राय यह है कि केवल प्राण का ज्ञाता ही अतिवादी नहीं होता प्राण से परे जो सत्य है उसके साथ योग करने वाला अतिवादी होता है अर्थात् सब से ऊपर जो परब्रह्म परमात्मा है उसको योगाभ्यास द्वारा जब पुरुष प्राप्त करता है तब वह अतिवादी होता है, जैसाकि मुण्ड० ३।१।४ में वर्णन किया है कि :—

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी । आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥

अर्थ—वह प्राणस्वरूप परमात्मा सब भूतों द्वारा प्रकट है, विद्वान् पुरुष उसको जानता हुआ मिथ्या बोलने वाला नहीं होता अर्थात् वह अतिवादी=सत्यवादी होता है और आत्मा में क्रीड़ा वाला, आत्मा में रति=प्रीतिवाला तथा आत्मविषयक अनुष्ठान वाला होता है और ऐसा पुरुष ही ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ कहाजाता है, सो हे नारद! तू उसी सत्यस्वरूप ब्रह्म की जिज्ञासा कर, तब नारद ने कहा हे भगवन्! मैं उसी की जिज्ञासा करता हूं आप मुझको उसी सत्यस्वरूप ब्रह्म का उपदेश करें ॥

इति षोडशःखण्डः समाप्तः

अथ सप्तदशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब सनत्कुमार नारद को सत्य का उपदेश करते हैं :—

यदा वै विजानात्यथ सत्यं वदति। नाविजानन् सत्यं वदति। विजानन्नेव सत्यं वदति। विज्ञानं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति। विज्ञानं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

अर्थ—निश्चयकरके जब जानता है तब ब्रह्म को ही कहता है, न जानता हुआ सत्य को नहीं कहता, जानता हुआ ही सत्य बोलता है, इस कारण विज्ञान ही जानने योग्य है, तब नारद ने कहा कि हे भगवन्! विज्ञान की ही जिज्ञासा करता हूं अर्थात् सत्य के लिये विज्ञान अवश्य जानना चाहिये ॥

इति सप्तदशःखण्डः समाप्तः

अथ अष्टादशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब सनत्कुमार मननविषयक कथन करते हैं :—

यदा वै मनुतेऽथ विजानाति। नामत्वा विजानाति। मत्वैव विजानाति। मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति। मतिं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

अर्थ-जब पुरुष मनन करता है तब जानता है मनन के विना नहीं जानता, मनन करके ही जानता है, हे नारद! मनन ही विजिज्ञासितव्य है, हे भगवन्! मैं मनन की ही जिज्ञासा करता हूं ॥

इति अष्टादशःखण्डः समाप्तः

अथ एकोनविंशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब सनत्कुमार श्रद्धा का उपदेश करते हैं :—

यदावै श्रद्दधात्यथ मनुते। नाश्रद्दधन् मनुते। श्रद्दधदेव मनुते। श्रद्धात्वेव विजिज्ञासितव्येति। श्रद्धां भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

अर्थ-निश्चयकर के जब श्रद्धा होती है तभी मनन करता है अश्रद्धा वाला मनन नहीं करता, श्रद्धा वाला ही मनन करता है, इस कारण हे नारद ! तू श्रद्धा की ही जिज्ञासा कर, तब नारद बोला हे भगवन् ! मैं श्रद्धा को विशेषरूप से जानना चाहता हूं ॥

इति एकोनविंशःखण्डः समाप्तः

अथ विंशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब सनत्कुमार निष्ठा का उपदेश करते हैं :—

यदा वै निस्तिष्ठत्यथ श्रद्दधाति । नानिस्तिष्ठन् श्रद्दधाति। निस्तिष्ठन्नेव श्रद्दधाति। निष्ठात्वेव विजिज्ञासितव्येति । निष्ठां भगवो विजिज्ञास इति॥ १ ॥

अर्थ—जब पुरुष निष्ठा करता है तभी श्रद्धालु होता है, निष्ठा न करने वाला श्रद्धालु नहीं होता, निष्ठा करने वाला ही श्रद्धावान् होता है, इसलिये हेनारद ! निष्ठा ही जिज्ञासनीय है, फिर नारद बोले हे भगवन् ! मैं निष्ठा के जानने की इच्छा करता हूं ॥

इति विंशःखण्डः समाप्तः

अथ एकविंशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब सनत्कुमार कृति का उपदेश करते हैं :—

यदा वै करोत्यथ निस्तिष्ठति । नाकृत्वानिस्तिष्ठति । कृत्वैव निस्तिष्ठति । कृतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति । कृतिं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १॥

अर्थ—जब श्रद्धा आदि करता है तभी नैष्ठिक होता है न करने वाला नैष्ठिक नहीं होता, करके ही नैष्ठिक होता है, इसलिये हे नारद ! कर्तव्य ही का पालन करना चाहिये, तब नारद बोले हे भगवन् ! मैं कर्तव्य को विशेषरूप से जानने की इच्छा करता हूं ॥

इति एकविंशःखण्डः समाप्तः

अथ द्वाविंशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब सनत्कुमार नारद को सुख का उपदेश करते हैं :—

यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति। नासुखं लब्ध्वा-
करोति। सुखमेव लब्ध्वा करोति। सुखंत्वेव विजि-
ज्ञासितव्यमिति। सुखं भगवो विजिज्ञास इति॥१॥

अर्थ—जब पुरुष सुख को लाभ करता है तभी कर्म करने की इच्छा करता है, सुख पाये विना नहीं करता, सुख को प्राप्त करके ही करता है, सुख ही विजिज्ञासनीय है, तब नारद बोले हे भगवन्! मैं सुख को विशेषरूप से जानने की इच्छा करता हूं॥

इति द्वाविंशःखण्डः समाप्तः

—:o:—

अथ त्रयोविंशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब सनत्कुमार भूमा को विजिज्ञासितव्य कथन करते हैं:—

यो वै भूमा तत् सुखम्। नाल्पे सुखमस्ति।
भूमैव सुखम्। भूमात्वेव विजिज्ञासितव्य इति
भूमानं भगवो विजिज्ञास इति॥ १॥

अर्थ—जो भूमा है वही सुख है अल्प में सुख नहीं, भूमा ही सुखस्वरूप है, इसलिये भूमा ही जिज्ञासनीय है, फिर नारद बोले हे भगवन्! मैं भूमा की जिज्ञासा करता हूं, यहां भूमा नाम परमात्मा का है॥

इति त्रयोविंशःखण्डः समाप्तः

अथ चतुर्विंशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब भूमा का स्वरूप कथन करते हैं :—

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स
भूमाऽथ, यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्

योवै भूमा तदमृतमथयदल्पं तन्मर्त्यं स भगवःकस्मि-
न्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति ॥ १ ॥

अर्थ—जहां अन्य को नहीं देखता, अन्य को नहीं सुनता, अन्य को नहीं जानता, वह भूमा है, और जहां दूसरेको देखता, दूसरे को सुनता और दूसरेको जानता है वह अल्प है, निश्चयकरके जो भूमा है वह अमृत है और जो अल्प है वह मृत्यु है, नारद कथन करते हैं कि हे भगवन् ! वह भूमा किसमें प्रतिष्ठित है ? सनत्कुमार—अपनी महिमा में अथवा अपनी महिमा में भी प्रतिष्ठित नहीं ॥

सं०-अब महिमा का कथन करते हैं :—

गो अश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यंदास
भार्य्यं क्षेत्राण्यायतनानीति नाहमेवं ब्रवीमि ब्रवी-
मीति होवाचान्यो ह्यन्यस्मिन् प्रतिष्ठित इति ॥२॥

अर्थ—इस संसार में गौ, अश्व, हाथी, सुवर्ण, दान, भार्या, क्षेत्र और गृहादि को महिमा कहते हैं परन्तु ब्रह्मविषयक उक्त महिमा का मैं कथन नहीं करता, क्योंकि इस महिमा में अन्य अन्य में प्रतिष्ठित हैं, वह प्रसिद्ध सनत्कुमार नारद के प्रति बोले कि अब मैं तुम्हारे प्रति भूमाविषयक महिमा कथन करता हूं ॥

इति चतुर्विंशःखण्डः समाप्तः

अथ पंचविंशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब भूमाविषयक महिमा का कथन करते हैं :—

स एवाधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात्
स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदꣳसर्वमित्यथातो
ऽहङ्कारादेश एवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं
पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदꣳसर्वमिति ॥१॥

अर्थ—वही भूमा नीचे, वही ऊपर, वही पीछे, वही पूर्व में, वही दक्षिण में, वही उत्तर में स्थित है, वही इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्यापक होरहा है और इसी हेतु जो अहंभाव से उपदेश किया है अब उसका कथन करते हैं, मैं ही नीचे, मैं ही ऊपर, मैं ही पीछे, मैं ही आगे, मैं ही दक्षिण में, मैं ही उत्तर में और मैं

ही इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्यापक हूं ॥

सं०–अब उक्त ज्ञान का फल कथन करते हैं :—

अथात आत्माऽऽदेश एवात्मैवाऽधस्तादात्मोपरिष्टा-
दात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत
आत्मोत्तरत आत्मैवेदꣳसर्वमिति । स वा एष
एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्म-
क्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड्
भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवत्यथ
येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भव-
न्ति तेषाꣳ सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति ॥ २ ॥

अर्थ—हे नारद ! अब तुम्हें ब्रह्मात्मवादी का ही उपदेश कथन करते हैं, आत्मा ही नीचे, आत्मा ही ऊपर, आत्मा ही पीछे, आत्मा ही पूर्व में, आत्मा दक्षिण में, आत्मा ही उत्तर में और आत्मा ही इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्यापक है, वह पुरुष जो इस परमात्मा को उक्त प्रकार से देखता हुआ, उक्त प्रकार से मनन करता हुआ, इस प्रकार के भावों वाला जानता है वह निश्चयकरके परमात्मा में रमण करता है, परमात्मा में क्रीडा करता है, परमात्मा से योग करता है, परमात्मा में ही आनन्द भोगता है और वह राजा होता है, वह सब लोकों में स्वेच्छाचारी होता है, और जो इस विज्ञान से विपरीत जानते हैं वह राजा से भिन्न प्रजा होते हैं, उनको यह विनश्वर लोक प्राप्त होते हैं और उनको सब लोकों में पराधीनता होती है ॥

इति पंचविंशःखण्डः समाप्तः

अथ षड्विंशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०–अब उपसंहार में परमात्मा को उक्त सब पदार्थों का आधार कथन करते हैं :—

तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वान एवं विजानत
आत्मतः प्राण आत्मत आशाऽऽत्मतः स्मर आत्मत
आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप आत्मत

आविर्भावतिरोभावावात्मतोऽन्नमात्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्यानमात्मतश्चित्तमात्मतः सङ्कल्प आत्मतो मन आत्मतो वागात्मतो नामात्मतो मन्त्रा आत्मतः कर्माण्यात्मत एवेदꣳसर्वमिति ॥१॥

अर्थ—हे नारद ! उक्त प्रकार से देखने वाले के लिये, मनन करने वाले के लिये, उक्त प्रकार से जानने वाले के लिये, परमात्मा से प्राण, आत्मा से आशा, आत्मा से स्मरण, आत्मा से आकाश, आत्मा से तेज, आत्मा से जल, आत्मा से उत्पत्ति तथा प्रलय, आत्मा से अन्न, आत्मा से बल, आत्मा से विज्ञान, आत्मा से ध्यान, आत्मा से चित्त, आत्मा से सङ्कल्प, आत्मा से मन, आत्मा से वाणी, आत्मा से नाम, आत्मा से मन्त्र, आत्मा से कर्म और आत्मा से ही इन निखिल पदार्थों की प्राप्ति होती है ॥

सं०-अब उक्त विषय में प्रमाण कथन करते हैं :—

तदेष श्लोको न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताꣳसर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वश इति । स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादशःस्मृतः शतञ्च दशचैकश्च सहस्राणि च विꣳशतिः । आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षस्तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारस्तꣳ स्कन्द इत्याचक्षते तꣳस्कन्द इत्याचक्षते ॥ २ ॥

अर्थ—उक्त ब्रह्मज्ञानी विषयक यह श्लोक प्रमाण है, उस भूमा नाम ब्रह्म को देखने वाला मृत्यु को नहीं देखता, न रोग को न दुःखों को देखता है, वह ब्रह्मदर्शी निश्चयपूर्वक सब ओर से ब्रह्म को ही देखता है, इस कारण सब प्रकार से सर्व को ही प्राप्त होता है, वह ब्रह्मवित् पुरुष एक होता है, पश्चात् तीन होता है, पांच, सात तथा नौ प्रकार का होता है और फिर एकादश कहलाता है, सौ, दश, एक, सहस्र और बीस होता है, आहार के शुद्ध होने पर अन्तःकरण की शुद्धि होती है, अन्तःकरण की शुद्धि से उस भूमा=परमात्मा का स्मरण होता है, स्मृति से हृदय की सब ग्रन्थियों का नाश होजाता है, इस प्रकार सम्पूर्ण आख्या-

यिका को समाप्त करते हुए भगवान् सनत्कुमार ने शुद्धान्तःकरण नारद को अज्ञानरूप अन्धकार से पार परमात्मतत्व को दर्शाया, सनत्कुमार को "स्कन्द" नाम से कथन करते हैं ॥

भाष्य—"तं स्कन्द इत्याचक्षते" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, जब नारद ने सनत्कुमार से कहा कि हे भगवन्! मुझको अध्ययन कराओ, तब सनत्कुमार ने नारद की परीक्षार्थ यह उत्तर दिया कि जो आपने अध्ययन किया है वह प्रथम सुनाओ उससे आगे हम कहेंगे, नारद ने उत्तर दिया कि यद्यपि मैंने ऋगादि सब वेद अन्य तर्क शास्त्रादि सब ग्रन्थ और ब्रह्मविद्यादि का भलेप्रकार अध्ययन किया है तथापि मैं शोकातुर हूं तब सनत्कुमार ने कहा कि तुमने नाममात्र से उक्त सब वेदों तथा विद्याओं का अध्ययन किया है इसलिये तुम शोकातुर हो, आप संज्ञासंज्ञीभाव की उपासना करें अर्थात् इस तत्व को विचारें कि ऋगादि वेद किसका स्तवन करते हैं, फिर नारद ने पूछा कि हे भगवन्! नाम से भी कोई बड़ा है? सनत्कुमार ने उत्तर दिया कि जिसमें सब नाम माला के मणकों के समान पुरोये हुए हैं वह वाणी नाम से बड़ी है, इस प्रकार नाम से वाणी, वाणी से मन, मन से सङ्कल्प, एवं उत्तरोत्तर श्रेष्ठ का उपदेश करते हुए अन्त में नारद को ब्रह्म का उपदेश किया, यहां सनत्कुमार का नामादिकों की उपासना से तात्पर्य्य नहीं किन्तु सर्वोपरि ब्रह्म को उपासना के लिये विन्यास किया है अर्थात् सब पदार्थों का बलाबल कथन करते हुए अन्त में उसीको सर्वोपरि ठहराया है और उसका स्वरूप यह वर्णन किया है कि वह सर्वत्र व्यापक तथा सर्वाधार है, ज्ञाता, श्रोता, मन्ता तथा बोद्धादि कोई उसके सदृश नहीं और जो श्रवण तथा मनन करने वाला जीव है वह भी उससे भिन्न अल्पज्ञ है, वह परमात्मा किसी महत्व के आश्रित नहीं किन्तु सम्पूर्ण महत्व उसी के आश्रित हैं अर्थात् वही ऊपर, वही नीचे, वही पूर्व, वही पश्चिम और वही दक्षिण, उत्तर में सर्वत्र परिपूर्ण है, जब पुरुष अहंग्रह उपासना करता है तब वह यह कथन करता है कि "अहमेवाधस्तात्, अहमुपरिष्टात्"=मैं ही नीचे और मैं ही ऊपर हूं, इसका तात्पर्य्य यह नहीं कि जीव ब्रह्म होकर यह कथन करता है किन्तु "अहंग्रह" उपासना के अभिप्राय से इस प्रकार का कथन है और जब उपासक उसका आत्मत्वेन कथन करता है तब यह कहता है कि आत्मा ही ऊपर, आत्मा ही नीचे और आत्मा ही सब दिशाओं में है, इस प्रकार जानने वाले पुरुष के लिये यह फल कथन किया है कि वह ब्रह्म में ही क्रीडा करता और ब्रह्म में ही उसका संयोग होता है, वह सर्वथा स्वतंत्र होकर सब लोकों में स्वच्छन्द विचरता है, प्राणादिक सब उसी से उत्पन्न होते और उसी में लय को प्राप्त होते हैं, जब उपासक उसकी निदिध्यासनरूप भक्ति करता है तब उसका ऐसा सामर्थ्य बढ़ जाता है कि वह अकेला ही मुक्ति अवस्था

में अनेक शक्तियों को लाभ करता है, इसी अभिप्राय से "एकधा भवति, त्रिधा भवति" इत्यादि कथन किया है परन्तु यह सामर्थ्य उसको तब मिलता है जब आहार की शुद्धि से अन्तःकरण की शुद्धि और अन्तःकरण की शुद्धि से ध्रुवा स्मृति उत्पन्न होती है, उस ध्रुवा स्मृतिरूप कर्मजन्य सामर्थ्य से अन्तःकरण की सब ग्रन्थियें भेद को प्राप्त होकर परमात्मा का दर्शन होता है, इस तत्व का सनत्कुमार ने शुद्धान्तःकरण वाले नारद के प्रति उपदेश किया, श्रेष्ठता के कारण सनत्कुमार को "स्कन्द" नाम से कथन किया गया है ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे
छान्दोग्योपनिषदार्य्यभाष्ये
सप्तमः प्रपाठकः समाप्तः

ओ३म्

अथ अष्टमःप्रपाठकः प्रारभ्यते

सं०-सप्तम प्रपाठक में भूमा का भलेप्रकार वर्णन करके अब इस प्रपाठक में "दहराकाश" का कथन करते हैं:—

अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥ १ ॥

अर्थ—अब "दहराकाश" का वर्णन करते हैं कि इस ब्रह्मपुर नाम शरीर में जो यह सूक्ष्म हृदय कमलरूप गृह है इसमें दहर=सूक्ष्म मध्यवर्ती आकाश है, उस आकाश में जो अन्तर्वर्ती ब्रह्म है वह खोजने योग्य और निश्चयकरके वही जानने योग्य है ॥

सं०—अब जिज्ञासु उक्त अर्थ में आशङ्का करता है:—

तञ्चेद्ब्रूयुर्यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥ २ ॥

अर्थ—यदि आचार्य्य से शिष्य पूछे कि इस शरीर में जो यह सूक्ष्म हृदय कमलरूप गृह है और इसमें जो सूक्ष्म मध्यवर्ती आकाश है इस आकाश में कौन पदार्थ विद्यमान है जो अन्वेष्टव्य और विजिज्ञासितव्य है ॥

सं०-अब आचार्य्य उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं:—

स ब्रूयात्, यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेवसमाहिते। उभावग्निश्च वायुश्च सूर्य्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि। यच्चास्येहास्ति यच्चनास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितमिति ॥३॥

अर्थ-वह आचार्य्य इस प्रकार कथन करे कि जितना यह आकाश है उतना ही यह हृदयान्तर्वर्ती ब्रह्म है, इस ब्रह्म के यह द्युलोक और पृथिवीलोक निश्चय-

करके अन्दर स्थित हैं, अग्नि और वायु यह दोनों, सूर्य्य और चन्द्रमा यह दोनों, विद्युत् और नक्षत्र, यह सब उसी ब्रह्म में समाहित हैं, और जो इस जिज्ञासु का इस लोक में कुछ है और जो नहीं है वह सब इस ब्रह्म में स्थित है॥

सं०-अब जिज्ञासु पुनः आशङ्का करता है :—

तञ्चेद्ब्रूयुरस्मिꣳश्चेदिदं ब्रह्मपुरे सर्वं समाहितं सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामा यदैतज्जरावाऽप्नोति प्रध्वंसते वा किं ततोऽतिशिष्यत इति ॥४॥

अर्थ-यदि उस आचार्य्य से शिष्य कहे कि यदि इस ब्रह्मपुर में यह सब स्थित है और सब भूतजात और सब कामनायें स्थित हैं तो जब वृद्धावस्था अथवा कोई रोग इस शरीर को प्राप्त होता है तो नष्ट होजाता अथवा निर्बल होजाता है तब क्या शेष रहजाता है ॥

सं०-अब आचार्य्य कथन करते हैं :—

स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति न बधेनास्य हन्यत एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन्कामाः समाहिता एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पो यथा-ह्येवेह प्रजा अन्वाविशन्ति यथानुशासनं यं यमन्तमभिकामा भवन्ति यं जनपदं यं क्षेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति ॥ ५ ॥

अर्थ-वह आचार्य्य उक्त प्रश्नों का यह उत्तर देवे कि इस शरीर की जरावस्था से यह ब्रह्म जीर्ण नहीं होता, इसके वध से हनन नहीं होता, क्योंकि यह ब्रह्म अविनाशी है, इस ब्रह्म में कामनायें सब प्रकार से स्थित हैं, यह ब्रह्म सर्वव्यापक, पाप से रहित, जरावस्था रहित, मृत्यु से रहित, शोक से रहित, खाने की इच्छा से रहित, प्यास से रहित, सत्यकाम और सत्यसङ्कल्प है, इस लोक में जिसप्रकार प्रजायें राजा की आज्ञानुकूल चलनेवाली होती हैं अर्थात् जिस२ सीमा, जिस २ प्रदेश और जिस २ विभाग की कामना करने वाली होती हैं उस २ का ही उपभोग करती हैं ॥

सं०-अब उक्त विषय में दृष्टान्त कथन करते हैं:—

तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते तद्य इहात्मानमननुविद्य

व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवत्यथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ ६ ॥

अर्थ-उक्त विषय में यह दृष्टान्त है कि जिसप्रकार इस लोक में कृषि वा सेवा आदि से प्राप्त हुआ धन भोग से अथवा अन्य प्रकार से क्षय होजाता है इसी प्रकार परलोक में दानादि पुण्य से उपार्जित भोगसाधन क्षय होजाते हैं, इसलिये ब्रह्म की उपासना निष्काम करनी चाहिये ॥

दूसरा दृष्टान्त यह है कि इस लोक में जो अविद्वान् पुरुष परमात्मा और इन सत्यकामनाओं को भलेप्रकार न जानते हुए यहां से प्रस्थान करते हैं उन अज्ञानी पुरुषों का सब लोकों में स्वच्छन्दगमन नहीं होता, और जो विद्वान् पुरुष इस लोक में परमात्मा और इन सत्यकामनाओं को जानकर यहां से पयान करते हैं उनका सब लोकों में कामचार होता है ॥

भाष्य-इस खण्ड में दहराकाश * का वर्णन किया गया है कि इस शरीर में जो सूक्ष्म हृदयकमलरूप गृह है उसमें सूक्ष्मता से ब्रह्म व्यापक है, उसमें जो ब्रह्म है वह भलेप्रकार खोजने और जानने योग्य है, यदि यहां कोई यह आशङ्का करे कि इस शरीर में जो सूक्ष्म हृदयकमलरूप गृह उसमें जो सूक्ष्म आकाश है उस आकाश में कौन सूक्ष्म पदार्थ विद्यमान है जो अन्वेष्टव्य और विजिज्ञासितव्य है ? इसका उत्तर आचार्य्य ने यह दिया कि जितना यह बाह्य आकाश है उतना ही यह हृदयान्तर्वर्ति ब्रह्म है, प्रश्न—तो ब्रह्म परिच्छिन्न हुआ ? उत्तर-ब्रह्म अपरिच्छिन्न है, यहां आकाश के तुल्य परिमाण का ग्रहण नहीं किन्तु ब्रह्म के समान अन्य दृष्टान्त न मिलने के कारण यहां बाह्याकाश का दृष्टान्त दिया गया है आकाश के परिमाण समान ब्रह्म नहीं, क्योंकि वेद में इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को जिसमें आकाश भी सम्मिलित है परमात्मा का एकपादस्थानीय कथन किया है, जैसाकि "पादोऽस्यविश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतंदिवि" यजु० ३१ । ३=यह सब ब्रह्माण्ड उस महान् परमात्मा का एक पाद स्थानीय और तीन पाद अमृत हैं, इसलिये आकाश परिमाण के समान ब्रह्म का परिमाण मानना ठीक नहीं, दूसरी बात यह है कि "तस्माद्वाएतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" तैत्ति० ब्रह्मा० अ० १ । ३ इत्यादि वाक्यों में परमात्मा

---

* दहराकाश यहां ब्रह्म का नाम है जिसका "वेदान्तार्य्यभाष्य" अ० सू० १ । ३ । १३ में भलेप्रकार वर्णन कियागया है ।

से आकाश की उत्पत्ति कथन कीगई है फिर समानता किस प्रकार होसकी है. उसी ब्रह्म में द्युलोक, पृथिवीलोक, अग्नि, वायु, सूर्य्य, चन्द्रमा, विद्युत् और नक्षत्र यह सब समाहित हैं, अधिक क्या जीवात्मा का जो इस लोक में है और जो नहीं है अर्थात् जो कुछ होचुका है वा होगा वह सब परमात्मा में समाहित है।

दूसरा प्रश्न यह होता है कि यदि इस ब्रह्मपुर में यह सब स्थित हैं अर्थात् सब भूतजात और उनकी सब कामनायें स्थित हैं तो जब इस शरीर को वृद्धावस्था प्राप्त होती अथवा नष्ट होजाता है तो क्या शेष रह जाता है अर्थात् ब्रह्म को भी जरा मृत्यु अवश्य होना चाहिये ? इसका उत्तर आचार्य्य ने यह दिया है कि इस शरीर की जरावस्था से ब्रह्म जर्जर नहीं होता और नाही इस शरीर के वध से ब्रह्म का हनन होता है, क्योंकि वह अविनाशी है, इसी भाव को कठ० २। १८ में इस प्रकार वर्णन किया है कि:—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयम् पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

अर्थ—परमात्मा न उत्पन्न होता और न मरता है, उसका कोई उपादान कारण नहीं और न यह किसी का उपादान कारण है, यह अजन्मा, नित्य, अनादि और सनातन है, शरीर के नाश होने पर यह नाश नहीं होता, सब कामनायें इसमें स्थित हैं, वह सर्वव्यापक तथा पाप से रहित है, जरावस्था तथा मृत्यु से रहित, शोक से रहित, खाने की इच्छा और पिपासा से रहित है, सत्यकाम और सत्यसङ्कल्प है, जो उपासक उस परमपिता परमात्मा की आज्ञापालन करता हुआ जिस २ पदार्थ की कामना करता है वही उसको प्राप्त होजाता है परन्तु जिसप्रकार कृषि अथवा सेवा आदि से प्राप्त किया हुआ धन भोग वा अन्य प्रकार से क्षय होजाता है इसी प्रकार सकामकर्मी के दानादि पुण्य से उपार्जित भोगसाधन क्षय होजाते हैं निष्काम कीहुई उपासना ही फलदायक होती है सकाम नहीं, इसीलिये कहा है कि जो विद्वान्=ब्रह्मवेत्ता परमात्मा तथा सत्यकामनाओं को भलेप्रकार जानता हुआ यहां से पयान करता है उस ज्ञानी पुरुष का सब लोकों में स्वच्छन्दगमन होता है और सकामकर्मी अविद्वान् जिसने परमात्मा और सत्यकामनाओं को नहीं जाना वह बार २ जन्म मरण को प्राप्त होकर अनेक प्रकार के कष्ट भोगता है॥

इति प्रथमःखण्डः समाप्तः

अथ द्वितीयःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब उक्त ब्रह्मवेत्ता मुक्त पुरुष का ऐश्वर्य्य कथन करते हैं:—

स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः

समुत्तिष्ठन्ति तेन पितृलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ १ ॥

अर्थ—वह मुक्त पुरुष यदि पितृलोक की कामना वाला होता है तो इसके सङ्कल्प से ही पितर उपस्थित होजाते हैं, उन पितरों से सम्पन्न होकर ऐश्वर्य्य को प्राप्त होता है ॥

अथ यदि मातृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्यमातरः समुत्तिष्ठन्ति । तेन मातृलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ २ ॥

अर्थ—और यदि वह मुक्त पुरुष मातृलोक की कामना वाला होता है तो इसके सङ्कल्प से ही मातायें उपस्थित होजाती हैं, उन माताओं से सम्पन्न होकर पूजा जाता है ॥

अथ यदि भ्रातृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य भ्रातरः समुत्तिष्ठन्ति । तेन भ्रातृलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ३ ॥

अर्थ—और यदि वह भ्रातृलोक की कामना वाला होता है तो सङ्कल्प से ही इसके भ्राता उपस्थित होजाते हैं, उन भ्राताओं से सम्पन्न होकर पूज्य होता है ॥

अथ यदि स्वसृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य स्वसारः समुत्तिष्ठन्ति तेन स्वसृलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ४ ॥

अर्थ—और यदि वह स्वसृलोक की कामना वाला होता है तो सङ्कल्प से ही इसकी बहनें उपस्थित होजाती हैं, उन बहिनों से सम्पन्न होकर प्रतिष्ठित होता है ॥

अथ यदि सखिलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य सखायः समुत्तिष्ठन्ति तेन सखिलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ५ ॥

अर्थ—और यदि वह सखिलोक की कामना वाला होता है तो सङ्कल्प से ही इसके सखा उपस्थित होजाते हैं, उन सखाओं से सम्पन्न होकर ऐश्वर्य्यशाली होता है ॥

अथ यदि गन्धमाल्यलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्यगन्धमाल्ये समुत्तिष्ठतस्तेन गन्धमाल्यलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥६॥

अर्थ—और यदि वह गन्धमाला की कामना वाला होता है तो सङ्कल्प से ही इसको गन्धमाला उपस्थित होजाती हैं, उन गन्धमालाओं से सम्पन्न होकर पूजा जाता है ॥

अथ यद्यन्नपानलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्यान्नपाने समुत्तिष्ठतस्तेनान्नपानलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ७ ॥

अर्थ—और यदि वह अन्न पान की कामना वाला होता है तो सङ्कल्प से ही इसको अन्न पान उपस्थित होजाते हैं, उस अन्नपान से सम्पन्न होकर ऐश्वर्य्यशाली होता है ॥

अथ यदि गीतवादित्रलोककामो भवति सङ्कल्पा-
देवास्य गीतवादित्रे समुत्तिष्ठतस्तेन गीतवादि-
त्रलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ८ ॥

अर्थ—और यदि वह गीत तथा वादित्र की कामना वाला होता है तो सङ्कल्प से ही इसको गीत तथा वादित्र=बाजा उपस्थित होते हैं, उन गीतवादित्र की प्राप्ति से सम्पन्न होकर प्रतिष्ठित होता है ॥

अथ यदि स्त्रीलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य स्त्रियः
समुत्तिष्ठन्ति तेन स्त्रीलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ९ ॥

अर्थ—और यदि वह स्त्री की कामना वाला होता है तो सङ्कल्प से ही इसको स्त्रियां प्राप्त होजाती हैं, उन स्त्रियों से सम्पन्न होकर प्रतिष्ठित होता है ॥

यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामं कामयते सोऽस्य
सङ्कल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन सम्पन्नो महीयते ॥ १० ॥

अर्थ—वह मुक्त पुरुष जिस २ पदार्थ की कामना वाला होता अथवा कामनाओं से अतिरिक्त जिस २ कामना को करता है वह उसको सङ्कल्प से ही प्राप्त होजाती हैं, उन कामनाओं से सम्पन्न होकर पूज्य होता है ॥

भाष्य—इस खण्ड में मुक्त पुरुष का ऐश्वर्य्य इस प्रकार वर्णन किया है कि वह सब लोकलोकान्तरों में स्वेच्छाचारी होकर विचरता है और उसका ऐसा अपूर्व सामर्थ्य होता है कि उसके लिये सब भोग आत्मभूत होते हैं अर्थात् अपने सामर्थ्य से ही उक्त भोगों को लाभ कर लेता है किसी विषयान्तर की उसको आवश्यकता नहीं होती ॥

इति द्वितीयः खण्डः समाप्तः

अथ तृतीयःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब जिन कारणों से उक्त ऐश्वर्य्य प्राप्त नहीं होता उनका कथन करते हैं:-

त इमे सत्याः कामा अनृतापिधानास्तेषाᳪसत्यानाᳪसताम
नृतमपिधानं यो यो ह्यस्येतः प्रैति न तमिह दर्शनाय लभते ॥१॥

अर्थ-वह उक्त सब कामनायें सत्य हैं, परन्तु सबको प्राप्त नहीं होतीं, क्योंकि अनृतरूप ढकने से ढकी हुई हैं अर्थात् उन सत्यकामनाओं को ढकने वाला निरन्तर सब के हृदयों में वर्तमान अनृतरूप अविद्या ही ढकना है, इसी कारण निश्चयकरके यहां से इसका जो २ मरकर जाता है उसके दर्शन की यहां इच्छा करता हुआ भी प्राप्त नहीं करसकता ॥

सं०-अब सत्य कामनाओं के ज्ञाता विद्वान् पुरुष को फल कथन करते हैं:—

अथ ये चास्ये ह जीवा ये च प्रेता यच्चान्यदिच्छन्न लभते सर्वं तदत्रगत्वा विन्दतेऽत्र ह्यस्यैते सत्याःकामा अनृतापिधानास्तद्यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुरेव मेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः ॥२॥

अर्थ—और इस विद्वान् पुरुष के जो सम्बन्धी इस लोक में जीवित हैं, जो मरगये हैं और जो अन्य पदार्थ हैं उन सबकी इच्छा करता हुआ भी प्राप्त नहीं करसकता, और विद्वान् पुरुष इन सब को परमात्मा के निकट जाकर प्राप्त करता है, क्योंकि ब्रह्म में विद्वान् पुरुष के लिये ही यह सत्यकामनायें हैं जो अनृत से ढकी हुई हैं, उक्त विषय में दृष्टान्त है कि जैसे क्षेत्र का स्वामी क्षेत्र को भले प्रकार न जानने वाला ऊपर २ व्यापार करते हुए भी क्षेत्र के भीतर गढी हुई हिरण्यनिधि को नहीं जानते, इसी प्रकार यह सब प्रजायें प्रतिदिन ब्रह्म को प्राप्त होती हुई भी अनृत से ढकी हुई होने के कारण इस ब्रह्म को लाभ नहीं करसकीं ॥

सं०-अब आत्मा का स्वरूप कथन करते हैं:—

स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तꣳहृदयमिति तस्माद्धृदयमहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति ॥ ३ ॥

अर्थ—यह आत्मा हृदय देश में है, उसका यही निर्वचन है कि हृदय में यह आत्मा है इसी कारण इसको "हृदय" कहते हैं, ऐसा जानने वाला निश्चयकरके प्रतिदिन उच्च अवस्था को प्राप्त होता है ॥

भाष्य—हृद् + अयं = हृदयं = हृदय में अयं = आत्मा होने से इसका नाम "हृदय" है, जो पुरुष परमात्मा को अपने हृदय में निरन्तर विद्यमान मानकर सांसारिक यात्रा करते हैं वह सदा ही उन्नत होते हैं अर्थात् वह परमात्मा के न्यायरूप दण्ड से भयभीत होकर वेदोक्त

आज्ञा का पालन करने के कारण, पाप के भागी, नहीं होते, वह सदा ही सत्य का अवलम्बन करते हैं, इसीलिये, कथन किया है कि उनकी उच्च अवस्था होती है॥

सं०-अब उक्त ब्रह्म का प्रकारान्तर से कथन करते हैं:—

अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय
परंज्योतिरुपसम्पद्यस्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत
एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति।
तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति॥४॥

अर्थ-और जो यह जीवात्मा है वह इस शरीर को त्याग परमात्मा को प्राप्त होकर अपने निजरूप से वर्तमान हुआ २ उसी में विचरता है, आचार्य्य बोले कि हे शिष्यो! जिसमें यह जीवात्मा स्थित होता है वही परमात्मा है, वही अमृत, अभय और यही ब्रह्म है, निश्चय करके इस ब्रह्म का नाम "सत्य" है॥

सं०-अब ब्रह्म के उक्त "सत्य" नाम की व्याख्या करते हैं:—

तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि "सति यमिति"
तद्यत् "सत्" तदमृतमथ यत् "ति" तन्मर्त्यमथ
यत् "यम्" तेनोभे यच्छति। यदनेनोभे यच्छति
तस्माद् "यम्" अहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति॥५॥

अर्थ-निश्चयकरके ब्रह्म के "सत्य" नाम में स, ति, य यह तीन अक्षर हैं, इन अक्षरों में जो सकार है वह अमृत है और जो तकार है वह मर्त्य है और जो यकार अक्षर है वह उक्त दोनों को नियम में रखने के कारण "य" कहलाता है, निश्चयकरके ऐसा जानने वाला प्रतिदिन उच्च अवस्था को प्राप्त होता है॥

भाष्य-"सत्य" पद में स+त+य यह तीन अक्षर हैं, "स" का अर्थ अमृत जीवात्मा तथा "त" का अर्थ मर्त्य=प्रकृति और "य" का अर्थ ब्रह्म है अर्थात् जीव और प्रकृति को जो अपने अधीन रखता है उसका नाम "सत्य" है, यहां परिवर्त्तनशील होने से प्रकृति को "मर्त्य" कहा गया है, क्योंकि उसके महदादि कार्य्य आविर्भाव तिरोभाव को प्राप्त होते हैं, जो सत्य को भलेप्रकार जानता है वह प्रतिदिन उच्चगति को प्राप्त होता है॥

इति तृतीयःखण्डः समाप्तः

अथ चतुर्थःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब परमात्मा को सेतु कथन करते हैं:—

अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसम्भेदाय नैत ँ सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्नशोको न सुकृतं न दुष्कृतम् ॥१॥

अर्थ-जो परमात्मा पूर्व अपहतपाप्मादि विशेषणविशिष्ट कथन कियागया है वह सेतु है, क्योंकि इन लोकलोकान्तरों को नियम में रखता है, इस सेतु को दिन और रात्रि प्राप्त नहीं करसकते, न जरा अवस्था, न मृत्यु, न शोक, न धर्म और न अधर्म इस सेतु को प्राप्त करसकते हैं ॥

भाष्य-वह परमात्मा जो इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को नियम में चलाने वाला है वह अपहतपाप्मा, विजर, विमृत्यु और विशोकादि विशेषणयुक्त है वही इस संसार का सेतु है अर्थात् यदि ईश्वर इस जगत् को धारण न करे तो इसमें गड़बड़ होकर यह तत्काल ही नष्ट होजाय, इस संसार की रक्षा के लिये ब्रह्म ही सेतु और विधृति है और उसको अमृत का भी सेतु कथन किया है, जैसाकिः—

" यस्मिन् द्यौःपृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह
प्राणैश्च सर्वैः । तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या
वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः ॥ मुण्ड० २।२।५

अर्थ-जिस अविनाशी ब्रह्म में द्युलोक, पृथिवीलोक, अन्तरिक्ष लोक और सब इन्द्रियोंके साथ मन ओतप्रोत हैं उस आत्मा को जानो, उससे भिन्न अन्य वाणियों को छोड़दो, क्योंकि वही अमृत का सेतु है, इसी भाव को यजु० ३१।१८ में इस प्रकार वर्णन किया है कि " तमेवविदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"=उसी को जानकर पुरुष मृत्यु का अतिक्रमण कर जाता है अन्य कोई मार्ग नहीं, यह दिन और रात्रि जो पुरुष की आयुको क्षीण करके मृत्युको प्राप्त कराते हैं वह उसको प्राप्त नहीं करसकते और न जरा, न मृत्यु, न शोक, न मोह, न धर्म और न अधर्म वहां तक पहुंचसकते हैं, वह इन सब से परे सत्यस्वरूप है, जो पुरुष उसकी आज्ञा का पालन करते हुए अपना जीवन व्यतीत करते हैं वह भी परमात्मा के उक्त गुणों को धारण करके अमृत होजाते हैं ॥

सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्तेऽपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकस्तस्माद्वा एत ँ सेतुं तीर्त्वाऽन्धःसन्ननन्धो भवति विद्धः

सन्नविद्धो भवत्युपतापी सन्ननुपतापी भवति। त-
स्माद्वा एतꣳसेतुं तीर्त्वापि नक्तमहरेवाभिनिष्पद्यते।
सकृद्विभातो ह्येवैष ब्रह्मलोकः ॥ २ ॥

अर्थ-उक्त विशेषण युक्त परमात्मा के ज्ञान से सब पाप निवृत्त होजाते हैं, क्योंकि यह ब्रह्म पाप से रहित है, इसी कारण निश्चयकरके इस सेतु से तरकर अन्ध नेत्र वाला होता, दुखी पुरुष सुखी होता और रोगी अरोगी=रोग रहित होता है, इसी कारण इस सेतु को प्राप्त करके रात्रि भी दिन ही होजाती है, क्योंकि यह ब्रह्म सर्वदा प्रकाशस्वरूप है ॥

सं०-अब उक्त ब्रह्म के ज्ञाता को फल कथन करते हैं:—

तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्य्येणानुविन्दति तेषामेवैष ब्रह्म-
लोकस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ ३ ॥

अर्थ—वह पुरुष जो निश्चयकरके ब्रह्मचर्य्य द्वारा ब्रह्म को प्राप्त करते हैं उन्हीं को यह ब्रह्मलोक प्राप्त होता और उन्हीं का सब लोकों में स्वच्छन्द गमन होता है ॥

इति चतुर्थःखण्डः समाप्तः

—:o:—

अथ पञ्चमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब ब्रह्मचर्य्य को यज्ञरूप से वर्णन करते हैं :—

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्य्यमेव तद्ब्रह्मचर्य्येण
ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दतेऽथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मच-
र्य्यमेव तद्ब्रह्मचर्य्येण ह्येवेष्ट्वाऽऽत्मानमनुविन्दते ॥ १ ॥

अर्थ—अब यह कथन करते हैं कि जिसको "यज्ञ" कहते हैं वह ब्रह्मचर्य्य ही है, क्योंकि उस ब्रह्मचर्य्य से ही जो ज्ञाता होता है वही ब्रह्म को प्राप्त होता है और जिसको "इष्ट" कहते हैं वह ब्रह्मचर्य्य ही है, क्योंकि ब्रह्मचर्य्य द्वारा ही यजन करके ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥

भाष्य—वेद तथा शास्त्रों में ब्रह्मप्राप्ति के अनेक साधन कथन किये हैं परन्तु मुख्य साधन ब्रह्मचर्य्य ही है और इसी कारण इसको महर्षियों ने यज्ञरूप से वर्णन किया है अर्थात् जिसके द्वारा जानाजाय उसको "यज्ञ" कहते हैं, सो यहां यज्ञ नाम ब्रह्मचर्य्य का है, क्योंकि ब्रह्मचर्य्य द्वारा ही उस परमपिता परमात्मा का ज्ञान होता है, जैसा कि अथर्व० ११।३।१६ में ब्रह्मचर्य्य की

महिमा वर्णन करते हुए यह कथन:किया है कि:—

ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ।
इन्द्रोह ब्रह्मचर्य्येण देवेभ्यः स्वराभरत ॥

अर्थ—ब्रह्मचर्य्य के प्रभाव से ही विद्वान् मृत्यु को जय करके दीर्घायु होते हैं और परमात्मा भी ब्रह्मचारी विद्वानों को ही प्राप्त होता और उनको सम्पूर्ण सुख देता है ॥

अथ यत्सत्त्रायणमित्याचक्षते ब्रह्मचर्य्यमेव तद्ब्रह्मचर्य्येण ह्येव सत आत्मनस्त्राणंविन्दतेऽथ यन्मौनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्य्यमेव तद्ब्रह्मचर्य्येणह्येवाऽऽत्मानमनुविद्य मनुते ॥ २ ॥

अर्थ-और जिसको "सत्त्रायण" यज्ञ * कहते हैं वह ब्रह्मचर्य्य ही है, क्योंकि ब्रह्मचर्य्य से ही अविनाशी जीव की रक्षा होती है, और जिसको "मौन" कहते हैं वह ब्रह्मचर्य्य ही है, क्योंकि ब्रह्मचर्य्य से ही परमात्मा को भलेप्रकार जानकर मनन करता है ॥

अथ यदनाशकायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्य्यमेव तदेष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्य्येणानुविन्दतेऽथ यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्य्यमेव तदरश्च ह वै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितोदिवि तदैरं मदीय ँ सरस्तदश्वत्थः सोमसवनस्तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमित ँ हिरण्मयम् ॥ ३ ॥

अर्थ-और जिसको "अनाशकायन" यज्ञ कहते हैं वह ब्रह्मचर्य्य ही है, क्योंकि यह आत्मा नष्ट नहीं होता जिसको ब्रह्मचर्य्य से प्राप्त करते हैं, और जिसको "अरण्यायन" यज्ञ कहते हैं वह ब्रह्मचर्य्य ही है, निश्चयकरके ब्रह्मप्राप्ति निमित्त अर=कर्मकाण्ड और ण्य=ज्ञानकाण्डरूप दो समुद्र हैं, यहां से तीसरा स्थान जो द्युलोक है वहां अन्न से पूर्ण हर्षदायक सर है जहां अमृत

---

* सत्त्रायण यज्ञ का वर्णन "मीमांसार्य्यभाष्य" में विस्तारपूर्वक किया गया है विशेषाभिलाषी वहां देखलें, और "मौन" शब्द का अर्थ "गीतायोगप्रदीपार्य्यभाष्य" में देखें ।

चूता हुआ अश्वत्थ वृक्ष है, ऐसी जो प्रभुनिर्मित ज्योतिर्मय ब्रह्मपुरी है उसको ब्रह्मचर्य्य के बिना कोई नहीं पासक्ता ॥

भाष्य-जिस यज्ञ में उपवास विधान किये गये हैं उसका नाम "**अनशनायन**" यज्ञ है जिसका वर्णन "**मीमांसार्य्यभाष्य**" में किया गया है, जो उक्त यज्ञ है वह ब्रह्मचर्य्य ही है, क्योंकि जिसप्रकार उक्त यज्ञ का फल चिरकालस्थायी होता है इसी प्रकार ब्रह्मचर्य्यरूप साधन द्वारा पुष्ट हुआ आत्मा नष्ट नहीं होता, किन्तु अतुल बलवाला होता है और "**अरण्यायन**" नामक जो यज्ञ है वह भी ब्रह्मचर्य्य ही है, क्योंकि ब्रह्मप्राप्तिनिमित्त जो कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड यह दो बड़े समुद्र हैं इन समुद्रों को ब्रह्मचारी ही तरकर अपने लक्ष्य पर पहुँचता है अन्य नहीं, इसी ब्रह्मचर्य्य की पुष्टि में अलङ्कार द्वारा यों वर्णन किया है कि यहां से तृतीयस्थान जो द्युलोक है वहां ब्रह्मानन्दरूप भोगों से पूर्ण हर्षदायक एक सर=सरोवर है और वहीं अमृत चूता हुआ एक अश्वत्थ वृक्ष है, और अपराजिता=जिसको कोई जीत न सके अर्थात् जिसके बराबर कोई नहीं ऐसा जो प्रभुनिर्मित देदीप्यमान ब्रह्मपुरी=ब्रह्म का स्थान उसको भी ब्रह्मचारी ही प्राप्त कर आनन्दित होता है अन्य नहीं ॥

सं०-अब उक्त ब्रह्मचारी के लिये फल कथन करते हैं :—

तद्य एवैतावरं च ण्यञ्चार्णवौ ब्रह्मलोके ब्रह्मचर्य्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥४॥

अर्थ-जो पुरुष ब्रह्मप्राप्ति के साधन कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड इन दोनों समुद्रों को ब्रह्मचर्य्य द्वारा प्राप्त करते हैं उन्हीं का यह ब्रह्मलोक है अर्थात् उन्हीं को ब्रह्म प्राप्ति होती है और उन्हीं का सब लोकों में स्वच्छन्दगमन होता है ॥

इति पञ्चमःखण्डः समाप्तः

——:०:——

अथ षष्ठःखण्डः प्रारभ्यते

——:०:——

सं०-अब जीव की गति कथन करते हैं :—

अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिङ्गलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येत्यसौ वा आदित्यः पिङ्गल एष शुक्ल एष नील एष पीत एष लोहितः ॥ १ ॥

अर्थ—अब यह कथन करते हैं कि जो यह हृदय की नाड़ियें हैं वह पिङ्गल=भूरे वर्णवाली, अतिसूक्ष्म स्थिर हैं, श्वेत, नीली, पीतवर्ण और रक्तवर्ण की यह सब नाड़ियें निश्चयकरके यह सूर्य्य पिंगल वर्ण है, यही शुक्ल, यही नील, यही पीत और यही लोहित है ॥

तद्यथा महापथ आतत उभौग्रामौ गच्छतीमञ्चामुंचैवमेवैता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्तीमञ्चामुञ्चामुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते। ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते। तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः ॥ २ ॥

अर्थ—वह आदित्य जैसे दूर तक फैला हुआ महान् विस्तीर्णमार्ग समीपस्थ और दूरस्थ इन दोनों ग्रामों को प्राप्त होता है इसी प्रकार सूर्य्य की यह किरणें इसलोक=पृथिवी, परलोक=सूर्य्य इन दोनों लोकों को प्राप्त होती हैं, वह किरणें उस आदित्य से निकलकर चारों ओर विस्तीर्ण होकर इन नाड़ियों में प्रविष्ट होती हैं, वह किरणें इन नाड़ियों से निकलकर बाहर शरीर में फैलतीं और फिर उस आदित्य में प्रविष्ट होती हैं ॥

तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति। तन्न कश्चन पाप्मा स्पृशति तेजसा हि तदा सम्पन्नो भवति ॥३॥

अर्थ—वह जीवात्मा जिस काल में इस सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त होकर सम्पूर्ण इन्द्रियवृत्तियों को अपने में संहार कर लेता है तब भलेप्रकार प्रसन्न चित हुआ स्वप्न नहीं देखता, उस काल में इन नाड़ियों में प्रविष्ट हुआ होता है, उस समय कोई पाप उसको स्पर्श नहीं करता, क्योंकि तब अपने तेज से सम्पन्न होता है ॥

अथ यत्रैतदबलिमानं नीतो भवति तमभित आसीना आहुर्जानासि मां जानासि मामिति। स यावदस्माच्छरीरादनुत्क्रान्तो भवति तावज्जानाति ॥ ४ ॥

अर्थ—इसके अनन्तर जिसकाल में यह जीवात्मा मृत्युजनक निर्बलता को प्राप्त होता है उस काल में उसके चारो ओर सम्बन्धी लोग बैठकर कहते हैं मुझको जानते हो, मुझको जानते हो, जबतक इस शरीर से जीव नहीं निकलता तब तक वह जानता है ॥

अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते। स ओमिति वा होद्वा मीयते। स यावत् क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छत्येतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम् ॥५॥

अर्थ-जिसकाल में यह जीव इस शरीर से निकलता है तब इन्हीं रश्मियों द्वारा ऊपर को जाता है, यह साधारण पुरुषों की गति है, और विद्वान् पुरुष निश्चयकरके "ओ३म्"=ब्रह्म का ध्यान करता हुआ ऊपर को जाता है, जबतक मन का क्षय नहीं होता तबतक वह आदित्य को प्राप्त होता है, क्योंकि निश्चयकरके यही ब्रह्म-लोक का द्वार विद्वानों के लिये खुला हुआ है और अविद्वानों के लिये बंद है॥

सं०-अब उक्त विषय में प्रमाण कथन करते हैं:—

तदेषश्लोकः शतञ्चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति ॥ ६ ॥

अर्थ-उक्त विषय में यह श्लोक प्रमाण है, हृदय की एकसोएक नाड़ियें हैं, उन नाड़ियों में से एक नाड़ी मूर्धा की ओर निकली हुई है उस नाड़ी द्वारा ऊपर को जाता हुआ अमृत को प्राप्त होता है, और जो अन्य विविधप्रकार की नाडिये हैं वह केवल उत्क्रमण के लिये हैं॥

भाष्य-" उत्क्रमणे भवन्ति" पाठ दोवार खण्ड की समाप्ति के लिये आया है, हृदय की एकसौएक नाड़ियें हैं उन नाड़ियों में से एक " सुषुम्णा " नाडी है जो ऊपर मूर्द्धा की ओर निकली हुई है, मुक्त पुरुष का आत्मा उसी नाड़ी द्वारा उत्क्रमण करता है और जो अन्य नाड़ियें हैं वह केवल साधारण पुरुषों के उत्क्रमण के लिये हैं, " प्रश्नोपनिषद् " में शरीरवर्त्ती कुल बहत्तर करोड़ बहत्तर लाख दश हजार दो सौ एक नाड़ियें गिनी हैं जिनका वर्णन वहां विस्तारपूर्वक किया गया है॥

इति षष्ठःखण्डः समाप्तः

अथ सप्तमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से पृथक् ब्रह्म का स्वस्वरूप वर्णन करने के लिये प्रजापति का उपदेश कथन करते हैं:—

य आत्माऽपहतपाप्माविजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽ

पिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वा ँश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच ॥ १ ॥

अर्थ–प्रजापति आचार्य्य बोले कि हे शिष्यो! जो परमात्मा पापरहित है; फिर कैसा है जरावस्था रहित, मृत्यु से रहित, शोक से रहित, क्षुधा रहित, पिपासा रहित, सत्य की कामना वाला तथा सत्यसङ्कल्प है, वही खोजने योग्य और वही जिज्ञासा योग्य है, जो उस परमात्मा को खोजकर जानते हैं वह सब लोकों और सब कामनाओं को प्राप्त होते हैं ॥

सं॰–अब उक्त उपदेश श्रवण कर देवता और असुरों का ब्रह्मप्राप्त्यर्थ परस्पर विचार कथन करते हैं:—

तद्धोभये देवासुरा अनुबुबुधिरे ते होचुर्हन्त तमात्मानमन्विच्छामो यमात्मानमन्विष्य सर्वा ँश्च लोकानाप्नोति सर्वा ँश्च कामानितीन्द्रो हैव देवानामभिप्रवव्राज विरोचनोऽसुराणां तौ हासंविदानावेव समित्पाणी प्रजापतिसकाशमाजग्मतुः ॥२॥

अर्थ–उपर्युक्त प्रजापति के उपदेश को देव और असुर दोनों ने जाना, उन दोनों ने कथन किया कि यदि सबकी सम्मति हो तो उस परमात्मा का अन्वेषण करें जिसको खोजकर पुरुष सब लोकों और सब कामनाओं को प्राप्त होता है, देवों में से प्रसिद्ध इन्द्र और असुरों में से विरोचन प्रजापति के निकट गये, वह दोनों परस्पर विवाद न करते हुए हाथ में समिधा लेकर प्रजापति के समीप आये ॥

तौ ह द्वात्रिंशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्य्यमूषतुस्तौह प्रजापतिरुवाच किमिच्छन्ताववास्तमिति तौ होचतुर्य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वा ँश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति भगवतो वचो वेदयन्ते तमिच्छन्तावावास्तमिति ॥ ३ ॥

अर्थ–उन दोनों ने बत्तीसवर्ष ब्रह्मचर्य्यपूर्वक प्रजापति के समीप वास

किया तब उन दोनों से प्रजापति बोले कि किस इच्छा से आपने मेरे निकट वास किया है, वह दोनों बोले कि जो परमात्मा पाप रहित, जरावस्था रहित, मृत्यु से रहित, शोक से रहित, क्षुधा रहित, पिपासा रहित, सत्य की कामना वाला और सत्यसङ्कल्प है वही खोजने योग्य और वही जिज्ञासा योग्य है, जो उस आत्मा को खोजकर जानते हैं वह सब लोकों और सब कामनाओं को प्राप्त होते हैं, आपके इस उपदेश को विद्वान् लोग कथन करते हैं, इसी परमात्मा के जानने की इच्छा से हम दोनों ने यहां आपके समीप निवास किया है ॥

सं०-अब आचार्य्य कथन करते हैं:—

तौ ह प्रजापतिरुवाच—य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेत्यथ योऽयं भगवोऽप्सुपरिख्यायते यश्चायमादर्शे कतम एष इत्येष उ एवैषु सर्वेष्वेतेषु परिख्यायत इति होवाच ॥४॥

अर्थ—उन दोनों से प्रजापति बोले कि जो यह पुरुष अक्षि में दीखता है यही परमात्मा है, यही अमृत, अभय तथा ब्रह्म है, इसके अनन्तर वह प्रसिद्ध दोनों बोले कि हे भगवन्! जो यह जलों में और जो यह दर्पण में दृष्टिगत होता है वह कौन आत्मा है? तब प्रजापति बोले कि इन सब पदार्थों में परमात्मा भले-प्रकार देख पड़ता है, निश्चयकरके वही आत्मा अपहतपाप्मादि गुणविशिष्ट है ॥

इति सप्तमःखण्डः समाप्तः

अथ अष्टमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब प्रजापति प्रकारान्तर से कथन करते हैं :—

उदशराव आत्मानमवेक्ष्य यदात्मनो न विजानीथस्तन्मे प्रब्रूतमिति तौ होदशरावेऽवेक्षाञ्चक्राते। तौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथ इति तौ होचतुः सर्वमेवेदमावां भगव आत्मानं पश्याव आलोमभ्य आनखेभ्यः प्रतिरूपमिति ॥ १ ॥

अर्थ-प्रजापति पुनः बोले कि जलपात्र में आत्मा को देखो, जो उसमें आत्मा को न जानसको तो मुझसे आकर कहो, वह दोनों जलपात्र में आत्मा को देखने लगे, फिर उन दोनों से प्रजापति बोले कि इसमें क्या देखते हो? वह दोनों बोले

हे भगवन् ! हम दोनों शिर से लेकर पैर तक यह सब ही आत्मा का प्रतिरूप देखते हैं ॥

तौ ह प्रजापतिरुवाच–साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षेथामिति तौ ह साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षाञ्चक्राते । तौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथ इति ॥२॥

अर्थ–उन दोनों से प्रजापति बोले कि तुम विमल वस्त्रों से भलेप्रकार अलंकृत होकर जलपात्र में आत्मा को देखो, वह दोनों विमल उत्तम वस्त्रों से अलंकृत होकर जलपात्र में देखने लगे, उन दोनों से प्रजापति बोले क्या देखते हो ? ॥

सं०–अब इन्द्र तथा विरोचन कथन करते हैं :—

तौ होचुर्यथैवेदमावां भगवः साध्वलङ्कृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ स्व एवमेवेमौ भगवः साध्वलङ्कृतौ सुवसनौ परिष्कृतावित्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तौ ह शान्तहृदयौ प्रवव्रजतुः ॥३॥

अर्थ–इन्द्र और विरोचन बोले कि जैसे यह शरीर साफ सुथरा प्रथम था वैसा ही अब देखते हैं, हे भगवन् ! जैसे हम दोनों विमल उत्तम वस्त्रों से भलेप्रकार अलंकृत हैं इसी प्रकार हम दोनों दर्पण में विमल उत्तम वस्त्रों से अलंकृत देख पड़ते हैं, तब वह प्रजापति बोले यही आत्मा है, यही अमृत, यही अभय और यही ब्रह्म है, यह सुनकर वह दोनों शान्तहृदय वहां से चले आये ॥

सं०–अब विरोचन अपना निश्चय असुरों के प्रति कथन करते हैं :—

तौ हान्वीक्ष्य प्रजापतिरुवाचाऽनुपलभ्यात्मानमननुविद्य व्रजतो यतर एतदुपनिषदो भविष्यन्ति । देवा वाऽसुरा वा ते पराभविष्यन्तीति स ह शान्तहृदय एव विरोचनोऽसुरान् जगाम । तेभ्यो हैतामुपनिषदं प्रोवाचात्मैवेह महय्य आत्मा परिचर्य्य आत्मानमेवेह महयन्नात्मानं परिचरन्नुभौ लोकाव वाप्नोतीमञ्चामुञ्चेति ॥ ४ ॥

अर्थ-प्रजापति उन दोनों को जाता हुआ देख बोले कि आत्माको न पाकर न जानकर जाते हैं, जो देवता अथवा असुर इस ज्ञान वाले होंगे वह नष्ट होवेंगे, वह प्रसिद्ध शान्त हृदय विरोचन असुरों के निकट पहुंचा और उन असुरों से इस ज्ञान को कहा कि इस लोक में शरीर ही पूजनीय और शरीर ही सेवनीय है, यहां शरीर को ही पूजता हुआ, शरीर का ही सेवन करता हुआ, इस लोक और परलोक को प्राप्त होता है ॥

तस्मादप्यद्येहाददानमश्रद्दधानमयजमानमाहुरासुरो वतेत्यसुराणां ह्येषोपनिषत्प्रेतस्य शरीरं भिक्षया वसनेनालंकारेणेति संस्कुर्वन्त्येतेन ह्यमुं लोकं जेष्यन्तो मन्यन्त इति ॥ ५ ॥

अर्थ-इसी कारण आजकल भी यहां असुरों का सम्प्रदाय चला आरहा है जो दान न देते हुए, परलोक विषयक श्रद्धा न करते हुए, यज्ञ न करते हुए को खेद से शिष्ट पुरुष कहते हैं कि यह असुर हैं, क्योंकि यह ज्ञान असुरों का है, ऐसे लोग ही उक्त उक्त कर्म नहीं करते, वह मृत शरीर को ही गन्धमाला, वस्त्रों और भूषणों से अलंकृत करते हैं, निश्चयकरके इससे ही इस लोक को जीत लेवेंगे, ऐसा मानते हैं ॥

इति अष्टमःखण्डः समाप्तः

अथ नवमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब विचार करते हुए इन्द्र का पुनः प्रजापति के पास जाना कथन करते हैं :—

अथ हैन्द्रोऽप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श यथैव खल्वयमस्मिञ्छरीरे साध्वलंकृते साध्वलंकृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्रामे स्रामः परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति नाऽहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ १ ॥

अर्थ-इसके अनन्तर प्रसिद्ध इन्द्र ने विचार करते हुए देवों को प्राप्त न होकर

इस भय को देखा कि जैसे इस शरीर के भलेप्रकार अलंकृत होने पर यह छाया पुरुष भी सुअलंकृत होता है, उत्तम वस्त्रधारी होने से छाया भी सुभूषित होता है, इस शरीर का परिष्कार होने से छाया भी परिष्कृत होता है. वैसे ही काना होने से यह छायापुरुष भी काना होता है, इस शरीर के अन्धे होने पर यह भी अन्धा होता है, इस शरीर के छिन्न भिन्न होने पर छायापुरुष भी छिन्न भिन्न होता है, इस शरीर के नष्ट होने पर यह भी नाश होजाता है, इस कारण यहां पर मैं कल्याण नहीं देखता हूं ॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय । तꣳह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः सार्द्धं विरोचनेन किमिच्छन् पुनरागम इति स होवाच यथैव खल्वयं भगवोऽस्मिञ्छरीरे साध्वलंकृते साध्वलंकृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्रामे स्रामः परिवृक्णेपरिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति नाऽहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥२॥

अर्थ—वह इन्द्र हाथ में समिधा लेकर फिर प्रजापति के समीप आये, इस प्रसिद्ध इन्द्र को देख प्रजापति बोले कि हे इन्द्र ! विरोचन के साथ शान्त हृदय होकर आप जो चलेगये थे फिर किस इच्छा से आये हैं, वह प्रसिद्ध इन्द्र बोला कि हे भगवन् ! निश्चयकरके जैसे इस शरीर के सुअलंकृत होने पर यह छायापुरुष भी सुअलंकृत होता, शुद्ध वस्त्रों के धारण करने से छाया भी सुभूषित होता, परिष्कृत होने से छाया भी परिष्कृत होता है, वैसे ही इस शरीर के अन्धे होने पर यह छायापुरुष भी अन्ध होता है, काना होने पर छाया पुरुष भी काना होता है, इसके छिन्न भिन्न होने पर छायापुरुष भी छिन्न भिन्न होता है, इस शरीर के नाश होने पर यह छायापुरुष भी नाश होजाता है, इस कारण यहां पर मैं कल्याण नहीं देखता हूं ॥

सं०—अब प्रजापति कथन करते हैं:—

एवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि । वसाऽपराणि द्वात्रिंशतं वर्षाणीति । स हापराणि द्वात्रिंशतं वर्षाण्युवास । तस्मै होवाच ॥ ३ ॥

अर्थ—हे इन्द्र ! यह आत्मा ऐसा ही है जैसा आप कथन करते हैं, फिर प्रजापति बोले इसी आत्मा का तो आपसे फिर व्याख्यान करूंगा, हे इन्द्र ! बत्तीसवर्ष मेरे निकट और वास कर, वह प्रसिद्ध इन्द्र बत्तीस वर्ष फिर प्रजापति के निकट वास करने लगा, उस इन्द्र से वह प्रसिद्ध प्रजापति बोले कि:-

इति नवमःखण्डः समाप्तः

अथ दशमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब प्रजापति उस आत्मा का कथन करते हैं:—

य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेति हो-
वाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति । स ह शान्त-
हृदयः प्रवव्राज । सहाप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श
तद्यद्यपीदꣳ शरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति यदि
स्राममस्रामो न वैषोऽस्य दोषेण दुष्यति ॥ १ ॥

अर्थ-यह जो स्वप्न में अपनी महिमा का अनुभव करता हुआ विचरता है यही आत्मा है, इतना कथन करके फिर बोले कि यही अमृत है, यही अभय है, और यही ब्रह्म है, वह प्रसिद्ध इन्द्र शान्तहृदय होकर चला आया, उस प्रसिद्ध इन्द्र ने देवों को प्राप्त न होकर ही इस भय को देखा कि यद्यपि उस स्वप्नावस्था में यह शरीर अन्ध होता है तथापि वह आत्मा अनन्ध होता है, यदि यह शरीर काना होता है तो आत्मा काना नहीं होता, इस शरीर के बाह्य दोष से यह आत्मा कदापि दूषित नहीं होता ॥

न बधेनास्य हन्यते नास्य स्राम्येण स्रामो घ्नन्ति
त्वेवैनं विच्छादयन्तीवाप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदि-
तीव । नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ २ ॥

अर्थ-इस शरीर के वध से वह आत्मा नहीं मरता, इसके काना होने से वह आत्मा काना नहीं होता, परन्तु इस आत्मा को मानो कोई मार रहे हैं, मानो कोई भगा रहे हैं, यह मानो अप्रिय देखता और रोता हुआ सा भी प्रतीत होता है, मैं इस विषय में कल्याण को नहीं देखता हूं ॥

सं०—अब इन्द्र का पुनः प्रजापति के पास जाना कथन करते हैंः—

स समित्पाणिः पुनरेयाय। तँ ह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्तहृदय प्राव्राजीः किमिच्छन् पुनरागम इति। सहोवाच—तद्यद्यपीदं भगवः शरीरमन्धं भवत्यनन्धः। स भवति। यदि स्राममस्रामोनैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति ॥ ३ ॥

अर्थ—वह इन्द्र हाथ में समिधा लेकर फिर प्रजापति के निकट आये, उस इन्द्रको प्रजापति बोले कि हे इन्द्र! जो आप शान्तहृदय होकर चले गये थे अब फिर किस इच्छा से आये हो? वह इन्द्र बोला हे भगवन्! यद्यपि यह शरीर अन्ध होता है परन्तु वह आत्मा अन्ध नहीं होता, यदि शरीर का कोई अंग भंग होजाता है पर वह आत्मा पूर्ण होता है, इस शरीर के दोष से यह आत्मा कदापि दूषित नहीं होता॥

न वधेनास्य हन्यते नाऽस्य स्राम्येण स्रामो घ्नन्ति त्वेवैनंविच्छादयन्तीवाऽप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव। नाऽहमत्र भोग्यं पश्यामीत्येवमेवैष मघवन्निति होवाचैतन्त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि। वसाऽपराणि द्वात्रिँ शतं वर्षाणीति। स हऽपराणि द्वात्रिँ शतं वर्षाण्युवास। तस्मै होवाच ॥ ४ ॥

अर्थ—इस शरीर के वध से उस आत्मा का हनन नहीं होता, इसके काना होने से वह आत्मा काना नहीं होता, परन्तु इस आत्मा को मानो कोई मार रहे हैं, मानो कोई भगा रहे हैं, यह मानो अप्रिय देखता और रोता हुआ सा भी प्रतीत होता है, इस विषय में मैं कोई फल नहीं देखता, तब प्रजापति बोले हे इन्द्र! यह आत्मा ऐसा ही है, फिर प्रजापति बोले हे इन्द्र! इसी आत्मा का तो तेरे प्रति फिर व्याख्यान करूंगा, आप ३२ वर्ष मेरे निकट और वास करें, वह इन्द्र ३२ वर्ष उनके समीप और वास करने लगे, उससे प्रजापति बोले किः—

इति दशमःखण्डः समाप्तः

अथ एकादशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब प्रजापति कथन करते हैं:—

तद्यत्रैतत् सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति। स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज। स हाप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श। नाह खल्वयमेवꣳसंप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि। विनाशमेवापीतो भवति। नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति॥ १॥

अर्थ—वह आत्मा जिस अवस्था में सोया हुआ अपने स्वरूप में स्थित भले-प्रकार आनन्द का अनुभव करता हुआ स्वप्न को नहीं जानता, यही आत्मा अपहतपाप्मादि धर्मों वाला है, फिर प्रजापति बोले यही अमृत, यही अभय और यही ब्रह्म है, वह प्रसिद्ध शान्तहृदय इन्द्र फिर चला आया, पर उसने देवताओं को प्राप्त होने से पूर्व ही इस भय को देखा कि निश्चय करके सुषुप्तात्मा यह मैं हूं, इस प्रकार सम्प्रति अपने को नहीं जानता, नाही इन भूतों को जानता है, विनाश को ही प्राप्त हुए की भांति होता है, इस सिद्धान्त में भी कोई अच्छा फल नहीं देखता, इस प्रकार सोचकर फिर लौट आया॥

सं०—अब इन्द्र का पुनः प्रजापति के समीप जाना कथन करते हैं:—

स समित्पाणिः पुनरेयाय। तꣳह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्तहृदय प्राव्राजीः किमिच्छन् पुनरागम इति सहोवाच—नाह खल्वयं भगव एवꣳ सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि। विनाशमेवापीतो भवति। नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति॥ २॥

अर्थ—वह इन्द्र हाथ में समिधा लेकर फिर प्रजापति के पास आये, उनको प्रजापति बोले कि हे इन्द्र! जो तुम शान्तहृदय होकर यहां से चले गये थे फिर किस इच्छा से पुनः आये हैं, वह इन्द्र बोले हे भगवन्! निश्चयकरके यह आत्मा

" यह मैं हूं " इस प्रकार सम्प्रति अपने को नहीं जानता, नाही इन भूतों को जानता है, विनाश को ही प्राप्त होता है यह देखता हूं, इस सिद्धान्त में भी कोई अच्छा फल नहीं देखता, इस प्रकार सोचकर फिर लौट आया हूं।

सं०—अब प्रजापति कथन करते हैं:—

एवमेवैष मघवन्निति होवाचैतंत्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि। नो एवान्यत्रैतस्माद्वसाऽपराणि पञ्चवर्षाणीति। स हापराणि पञ्च वर्षाण्युवास। तान्येकशत ँ सम्पेदुरेतत्तद्यदाहुरेकशत ँ ह वै वर्षाणि मघवन्प्रजापतौ ब्रह्मचर्य्यमुवास। तस्मै होवाच ॥ ३ ॥

अर्थ—हे इन्द्र! यह आत्मा ऐसा ही है, फिर प्रजापति बोले आपके प्रति इसका ही फिर व्याख्यान करुंगा, क्योंकि इस आत्मज्ञान से भिन्न और कोई पुरुषार्थ नहीं है, पांच वर्ष मेरे समीप और वास कर, वह इन्द्र पांचवर्ष और वास करता रहा, यह सब मिलकर एकसौ वर्ष हुए, वह सब जो शिष्ट पुरुष हैं ऐसा ही कहते हैं कि निश्चयकरके एकसौ वर्ष इन्द्र ने प्रजापति के निकट ब्रह्मचर्य्यपूर्वक निवास किया तब उस इन्द्र को प्रजापति बोले कि:—

इति एकादशःखण्डः समाप्तः

अथ द्वादशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब प्रजापति इन्द्र को विशेषरूप से उपदेश करते हैं:—

मघवन् मर्त्यं वा इद ँ शरीरमात्तं मृत्युना। तदस्य मृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानमात्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यां न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वावसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ॥१॥

अर्थ—हे इन्द्र! यह शरीर निश्चय करके मरणधर्मा मृत्यु से ग्रसा हुआ है, वह शरीर इस अविनाशी अशरीरी जीवात्मा का अधिष्ठान है, सशरीर आत्मा प्रिय और अप्रिय से ग्रसित है, निश्चयकरके जबतक यह शरीर है तब तक इसके प्रिय और अप्रिय का नाश नहीं होता, अशरीरी आत्मा को प्रिय और

अप्रिय निश्चयकरके स्पर्श नहीं करसकते ॥

सं०—अब उक्त भाव को दृष्टान्तों द्वारा स्पष्ट करते हैं :—

अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत्स्तनयित्नुरशरीराण्ये-
तानि। तद्यथैतान्यमुष्मादाकाशात्समुत्थाय परं-
ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते ॥२॥

अर्थ—वायु अशरीर है, मेघ, बिजुली तथा गर्जन यह सब अशरीरी=शरीर रहित हैं, वह जैसे उस आकाश से उठकर परज्योति=स्वकारण को प्राप्त होकर निज२ रूप से अपने कारण में स्थित होते हैं ॥

एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं
ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स
उत्तमः पुरुषः। स तत्र पर्य्येति जक्षन् क्रीडन्
रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनं
स्मरन्निदं शरीरं स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त
एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्तः ॥ ३ ॥

अर्थ—वैसेही यह आत्मा इस शरीर से उठ परज्योति ब्रह्म को प्राप्त होकर अपने रूप से स्थित होता है, वह उत्तम पुरुष उस अवस्था में यह शरीर जिस में वह जन्मा था उसको स्मरण न करता हुआ प्रसन्न होकर स्त्रियों अथवा विविध यानों अथवा निज बान्धव इष्ट मित्रादिकों के साथ क्रीड़ा तथा रमण करता हुआ सर्वत्र विचरता है, हे इन्द्र! जैसे रथ में घोड़ा जुड़ा हुआ होता है वैसे ही यह जीव इस शरीर में युक्त=जुड़ा हुआ है ॥

अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः
पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स
आत्मा। गन्धाय घ्राणमथ यो वेदेदमभिव्या-
हराणीति स आत्माऽभिव्याहाराय वागथ यो वेदे-
दं शृणवानीति स आत्मा। श्रवणाय श्रोत्रम् ॥४॥

अर्थ—और जहां यह चक्षु आकाश में अनुगत है वह चाक्षुष पुरुष है, उस आत्मा के दर्शन के लिये चक्षु और जो इसको सूंघूं यह जानता है वह जीवात्मा

है, उस गन्ध के ग्रहणार्थ घ्राणेन्द्रिय है और जो इसको बोलूं यह जानता है वह जीवात्मा है, उस आत्मा के भाषणार्थ वागिन्द्रिय होता है, और जो इसको श्रवण करूं, यह जानता है वह आत्मा है, उस जीवात्मा के श्रवणार्थ श्रोत्र है ॥

अथ यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा । मनोऽस्य दैवं चक्षुः स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते ॥ ५ ॥

अर्थ-और जो इसका मनन करूं, यह जानता है वह आत्मा है, इस आत्मा का मन ही दिव्य चक्षु है, यह आत्मा इस दिव्य चक्षुरूप मन से ही इन कामनाओं को देखता हुआ रमण करता है ॥

य एते ब्रह्मलोके, तं वा एतं, देवा आत्मानमुपासते । तस्मात्तेषा ँ सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः । स सर्वा ँश्च लोकानाप्नोति सर्वा ँ श्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच ॥ ६ ॥

अर्थ-वह प्रसिद्ध प्रजापति बोले कि जो यह विद्वान् निश्चयकरके उस ब्रह्मलोक में परमात्मा की उपासना करते हैं इसी कारण उन विद्वानों को सब लोक और सब कामनायें प्राप्त होती हैं, वह मुक्त पुरुष सब लोकलोकान्तरों और सब कामनाओं को प्राप्त होता है जो उस आत्मा को खोजकर जानता है, यह प्रजापति ने उपदेश किया ॥

इति द्वादशःखण्डः समाप्तः

अथ त्रयोदशःखण्डः प्रारभ्यते

:o:

सं०-अब आत्मज्ञानी प्रसन्नचित्त होकर कथन करता है:—

श्यामाच्छबलं प्रपद्यते शबलाच्छ्यामं प्रपद्येऽश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य

धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामी-
त्यभिसम्भवामीति ॥ १ ॥

अर्थ-हार्दब्रह्म से विराट् ब्रह्म को प्राप्त होता हूं, और विराट् ब्रह्म से हार्द ब्रह्म को प्राप्त होता हूं, जैसे घोड़ा अपने लोमों को कम्पाकर निर्मल होजाता है, और जैसे राहु के मुखसे मुक्त होकर चन्द्रमा निर्मल होजाता है, इसी प्रकार पापों से पृथक् होकर कृतार्थ हुआ शरीर को त्यागकर नित्य ब्रह्मलोक को प्राप्त होता हूं "अभिसम्भवामीति" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है ॥

इति त्रयोदशःखण्डः समाप्तः

अथ चतुर्दशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब ब्रह्म का महत्व वर्णन करते हुए उसके प्रति जीव की प्रार्थना कथन करते हैं:—

आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता । ते यदन्तरा तद्ब्रह्म
तदमृतꣳ स आत्मा । प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये यशोऽ-
हं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशो विशाम्। यशोऽ
हमनुप्रापत्सि।स हाहं यशसां यशः श्येतमदत्कमदत्कꣳ
श्येतं लिन्दुमाभिगां लिन्दुमाभिगाम् ॥ १ ॥

अर्थ-निश्चयकरके ब्रह्म ही नाम और रूप का निर्वाहक=प्रकाशक है, वह नाम रूप जिसके मध्य में वर्त्तमान हैं वह ब्रह्म है, वह अमृत है, वही सब जगत् का आत्मा=ब्रह्म सर्वव्यापक है, मैं उस सम्पूर्ण प्रजा के स्वामी सर्वपालक ब्रह्म की शरण को प्राप्त होऊं, मैं यशस्वी होऊं, ब्राह्मणों के मध्य यश को, क्षत्रियों में यश को और वैश्यों के मध्य यश को प्राप्त होऊं, वह मैं यशस्वियों के बीच यशस्वी होऊं, हे भगवन् ! श्वेत=रक्त दन्तरहित अर्थात् यश, बल, वीर्य्य का नाश करनेवाली रक्त योनि को प्राप्त न होऊं, "लिन्दुमाभिगाम्" पाठ दो वार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है ॥

इति चतुर्दशःखण्डः समाप्तः

अथ पञ्चदशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब अन्त में मुक्ति के साधन कथन करते हुए इस उपनिषदर्थ का उपसंहार करते हैं:—

तद्धैतद्ब्रह्मा प्रजापतय उवाच । प्रजापतिर्मनवे।मनुः प्रजाभ्यः । आचार्य्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौदेशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्याहिंसन्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते। नच पुनरावर्त्तते नच पुनरावर्त्तते ॥ १ ॥

अर्थ-इस उपनिषद् सम्बन्धी ब्रह्मज्ञान का उपदेश ब्रह्मा नामक ऋषि ने प्रजापति=कश्यप को कथन किया, प्रजापति ने मनु को और मनु ने प्रजाओं को उपदेश किया कि आचार्य्यकुल से विधिपूर्वक वेद का अध्ययन, गुरु की शुश्रूषा आदि कर्म करके समावर्त्तन संस्कार कर अपने कुटुम्ब में रहता हुआ, पवित्र देश में स्वाध्याय करता हुआ, अन्य मनुष्यों को धार्मिक बनाता हुआ, आत्मा में सब इन्द्रियों को स्थिर करके तीर्थों से अन्यत्र भी सब प्राणियों की हिंसा न करता हुआ जो विचरता है वह निश्चयकरके उक्त प्रकार से यावदायुष वर्त्तता हुआ ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है, फिर उसकी पुनरावृत्ति नहीं होती अर्थात् नियत काल तक मुक्ति में रहता है ॥

भाष्य-सप्तम खण्ड से लेकर यहां समाप्ति पर्य्यन्त महर्षि प्रजापति और इन्द्र तथा विरोचन की आख्यायिका द्वारा ब्रह्म का स्वरूप निरूपण करते हुए यह वर्णन किया है कि जो पुरुष ब्रह्मचर्य्यादि व्रतों तथा यज्ञादि कर्मों द्वारा उसको भलेप्रकार खोजकर साक्षात्कार करते हैं वह सब कामनाओं को प्राप्त होकर मुक्त होते हैं, यह गाथा इस प्रकार है कि एक समय प्रजापति आचार्य्य अपने शिष्यों को यह शिक्षा देरहे थे कि वह परमपिता परमात्मा जिसको जानकर पुरुष सब दुःखों से छूट परमपद को प्राप्त होता है वह पाप से रहित, जरावस्था रहित, मृत्यु से रहित, शोक से रहित, क्षुधारहित और पिपासा से रहित अमृतस्वरूप है, फिर कैसा है सत्य की कामना वाला और सत्यसङ्कल्प है,

उसी को जानकर पुरुष अमृत होता है, इस उपदेश को देवता और असुर दोनों ने श्रवण किया और यह विचार करने लगे कि यदि सबकी सम्मति हो तो उस परमात्मा का अन्वेषण करें जिसको खोजकर पुरुष अमृत होता है, विचारानन्तर देवों में से " इन्द्र " और असुरों में से " विरोचन " हाथ में समिधा लेकर जिज्ञासुभाव से प्रजापति आचार्य्य के निकट आये और उनके समीप ३२ वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्यपूर्वक सम्पूर्ण विद्याओं का अध्ययन किया, अध्ययनानन्तर आचार्य्य बोले कि आप समावर्त्तन कराके अपने २ गृह को जायं परन्तु यह दोनों समावर्त्तन कराने में कुछ संकोच करने लगे तब प्रजापति ने उनके मानसिक भाव को जानने के लिये पुनः जिज्ञासा कर उनके प्रति बोले कि आपने किस इच्छा से मेरे निकट वास किया है ? वह दोनों बोले कि जो परमात्मा पापरहित, मृत्यु से रहित इत्यादि विशेषणों वाला है उसको जानकर ही पुरुष सब कामनाओं को प्राप्त होते हैं आपके इस उपदेश को विद्वान् लोग कथन करते हैं, उसी अमृतस्वरूप ब्रह्म के जानने की इच्छा से हम दोनों ने यहां आपके समीप निवास किया है सो कृपाकरके हम लोगों को ब्रह्मविषयक उपदेश करें, यह हमारी प्रार्थना है तब उन दोनों को उपदेश करते हुए प्रजापति बोले कि अक्षि में जो दीखता है वह परमात्मा है, यहां अक्षिगत कथन करना उपलक्षण है जिसका भाव यह है कि वह पूर्ण परमात्मा शरीरगत सब इन्द्रियों, सब अङ्गों और रोम२ में व्यापक होरहा है, वही अमृत और वही अभयआदि गुणविशिष्ट ब्रह्म है, इतना सुनकर यह दोनों बोले कि हे भगवन् ! यह जो जलों और दर्पण में दृष्टिगत होता है वह कौन है ? प्रजापति ने उत्तर दिया कि संसार के सम्पूर्ण पदार्थों में परमात्मा व्यापक है जो अजर, अमर, अभय तथा अपहतपाप्मादि गुणविशिष्ट है, फिर प्रजापति बोले कि जलपात्र में आत्मा को देखो, जो उसमें आत्मा को न जान सको तो फिर मुझसे आकर पूछो, वह दोनों जलपात्र में आत्मा को देखने लगे तो प्रजापति बोले कि इसमें क्या देखते हो ? तब उन दोनों ने कहा कि नख से लेकर शिखा पर्य्यन्त यह आत्मा का प्रतिरूप देखते हैं, फिर प्रजापति ने कहा कि उत्तम वस्त्र और आभूषण पहनकर दर्पण में आत्मा को देखो, वह दोनों अलंकृत होकर देखने लगे तब उनसे प्रजापति बोले क्या देखते हो ? उन्होंने कहा कि जैसा यह शरीर अलंकृत है वैसा ही दर्पण में देखते हैं, फिर प्रजापति ने कहा कि यही आत्मा है और यही अजर, अमर, अमृत तथा अभय है, यह सुनकर दोनों शान्तहृदय वहां से चले आये, प्रजापति के उक्त कथन का तात्पर्य्य यह है कि यह प्राकृतिक शरीर जिसको तुम जलपात्र वा दर्पण में देखते हो यह परिवर्त्तनशील होने से विनाशी है जैसी शरीर की आकृति होती है वैसा ही छाया पुरुष दृष्टिगत होता है और वह आत्मा अपरिवर्तनशील होने से सदा एकरस रहता है वह बाहर की बनावट से सुशोभित नहीं होता और नाही शरीरगत व्याधि से उसमें कोई विकार उत्पन्न होता है, वह शरीर में व्यापक होने पर भी इससे भिन्न है और वही अमृत तथा अभय है, इस प्रकार दृष्टान्तों द्वारा बार २ सम-

झाने पर भी वह दोनों इस भाव को न समझकर उलटा यह समझे कि यह शरीर ही आत्मा है, इस प्रकार आत्मविषयक अन्यथा समझकर वहां से चले आये, उन दोनों को जाता हुआ देख प्रजापति अपने मन में विचारने लगे कि यह दोनों आत्मविषयक यथार्थज्ञान सम्पादन न कर निज २ गृह को जाते हैं, या यों कहो कि आत्मा को न जानकर विना प्राप्त किये हुए ही जाते हैं, इनके उपदेश से जो देवता और असुर इस अन्यथा ज्ञान वाले होंगे वह नष्ट होंगे, अस्तु, वह शान्तहृदय विरोचन असुरों के निकट पहुंचा और उन असुरों से इस ज्ञान को कहा कि इस लोक में शरीर ही पूजनीय तथा सेवनीय है, यहां शरीर को ही पूजता हुआ, शरीर का ही सेवन करता हुआ इस लोक और परलोक को प्राप्त होता है, इसी निश्चय वाले असुरों का सम्प्रदाय आजकल भी यहां दृष्टिगत होता है जो न दान देते न परमात्मा तथा वेदों पर श्रद्धा रखते, न परलोक को मानते और न यज्ञ करते हैं, यह लोग गन्धमाला, वस्त्रों तथा आभूषणों से शरीर को ही अलंकृत रखते हुए संसार में विचरते हैं और इसी कर्तव्य से इस लोक को जीत लेवेंगे ऐसा मानते हैं।

इन्द्र देवों को न प्राप्त होकर स्वयं ही विचारने लगा कि इस शरीर के अलंकृत होने से यह छाया पुरुष भी सुअलंकृत होता है, इस शरीर का परिष्कार होने से छाया भी परिष्कृत होता है वैसेही काना होने से छाया पुरुष भी काना होता और अन्धा होने से अन्ध होता है, इस शरीर के छिन्नभिन्न होने पर छायापुरुष भी छिन्नभिन्न होता और इस शरीर के नष्ट होने से नष्ट होजाता है, इस कारण यह छाया पुरुष आत्मा नहीं. यह विचार करता हुआ हाथ में समिधा लेकर पुनः प्रजापति के समीप आया. इन्द्र को आता हुआ देखकर प्रजापति बोले कि हे इन्द्र! तुम तो विरोचन के साथ शान्तहृदय होकर चलेगये थे फिर किस इच्छा से आये हो? इन्द्र ने अपना उक्त विचार प्रजापति के सन्मुख प्रकट किया तब प्रजापति बोले कि स्वप्न का साक्षी जो जीवात्मा है वही ब्रह्म है और वही अजर, अमर, अभय तथा अमृत है, यह निश्चयकर शान्तहृदय इन्द्र फिर चला आया और देवताओं को न प्राप्त होकर स्वयं ही विचारने लगा कि उस स्वप्नावस्था में यह शरीर अन्ध होता है तो आत्मा अनन्ध ही होता है, यदि शरीर काना होता है तो आत्मा काना नहीं होता अर्थात् इस शरीर के बाह्यदोष से यह आत्मा दूषित नहीं होता और न इस शरीर के बध से वह आत्मा मरता है परन्तु इस आत्मा को मानो कोई मार रहे हैं, कोई भगा रहे हैं, यह मानो अप्रिय देखता और रोता हुआ सा भी प्रतीत होता है, अतएव यह सिद्धान्त भी ठीक नहीं।

भाव यह है कि इस द्वितीयवार इन्द्र ने स्वप्नावस्था के तैजस जीवात्मा को ब्रह्म समझा और उसमें भी उक्त दोष देखता हुआ फिर प्रजापति के निकट आकर कहा कि हे भगवन्! मैं ब्रह्म को पूर्ण प्रकार से नहीं समझा, प्रजापति बोले कि तुम ३२ वर्ष मेरे समीप और वास करो, वह इन्द्र फिर वास करने लगा, उसके पश्चात्

प्रजापति बोले कि जिस अवस्था में सोया हुआ अपने स्वरूप में स्थित भलेप्रकार आनन्द का अनुभव करता हुआ स्वप्न को नहीं जानता वही आत्मा अपहतपाप्मादि धर्मों वाला है, वही अमृत, अभय और वही ब्रह्म है. ऐसा निश्चय कर वह इन्द्र चला आया और देवताओं को प्राप्त होने से पूर्व ही विचार करते हुए इस भय को देखा कि सुषुप्तात्मा "यह मैं हूं" इस प्रकार अपने को नहीं जानता और नाही इन भूतों को जानता है, यह भी विनाश को ही प्राप्त हुए की भांति होता है, अतः यह भी ब्रह्म नहीं, यह विचार कर फिर प्रजापति के पास लौट आया और हाथ में समिधा लेकर प्रजापति को प्राप्त हो बोला कि हे भगवन्! सुषुप्तात्मा ब्रह्म नहीं, क्योंकि उसमें पूर्वोक्त दोष आते हैं, इसलिये फिर लौट आया हूं, प्रजापति बोले कि हे इन्द्र! आपके प्रति इसका ही फिर व्याख्यान करूंगा, क्योंकि इस आत्मज्ञान से भिन्न और कोई पुरुषार्थ नहीं, पांच वर्ष मेरे समीप और वास कर, फिर वह पांच वर्ष वास करने लगा, यह सब मिलकर १०० वर्ष इन्द्र ने प्रजापति के निकट ब्रह्मचर्य्यपूर्वक निवास किया तब उस इन्द्र को प्रजापति बोले कि हे इन्द्र! यह शरीर निश्चयकरके मरणधर्मा, मृत्यु से ग्रसा हुआ जीवात्मा का अधिष्ठान है और यह सशरीर आत्मा प्रिय और अप्रिय से ग्रसित है परन्तु अशरीरी आत्मा को प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं करसके, जैसाकि वायु अशरीरी है उसको सुख दुःख स्पर्श नहीं कर सकते, वैसे ही मेघ, बिजुली और गर्जन यह सब शरीररहित हैं, वह जैसे उस आकाश से उठकर स्वकारण को प्राप्त हो अपने २ रूप से स्व २ कारण में स्थित होते हैं वैसे ही यह जीवात्मा इस शरीर से उठ परंज्योति ब्रह्म को प्राप्त होकर अपने रूप से स्थित होता है और उस समय वह उत्तम पुरुष कहलाता है, उस अवस्था में वह उत्तम पुरुष यह शरीर जिसमें वह जन्मा था उसको स्मरण नहीं करता और वह प्रसन्न होकर अनेक प्रकार के आनन्द भोगता है, जैसाकि मुक्त पुरुष का ऐश्वर्य्य पीछे इसी प्रपाठक में वर्णन कर आये हैं, हे इन्द्र! जैसे रथ में घोडा जुड़ा हुआ होता है वैसे ही यह जीव इस शरीर में जुड़ा हुआ रहता है और जहां यह चक्षु आकाश में अनुगत है वह चाक्षुष पुरुष है उस आत्मा के दर्शनार्थ चक्षु है अर्थात् इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में जो व्यापक पुरुष परमात्मा है उसके सूर्य्य और चन्द्रमा नेत्र स्थानीय हैं, जैसाकि "चन्द्र सूर्य्यौ च नेत्रे"= उस परमात्मा के चन्द्र और सूर्य्य नेत्र हैं, या यों कहो कि चन्द्र सूर्य्य, पृथिवी तथा आकाशादि सम्पूर्ण पदार्थ उस परमात्मा की महिमा को सब लोगों पर प्रकट करते हुए स्थिर हैं इन्हीं के द्वारा उस सर्वरक्षक परमपिता परमात्मा का साक्षात्कार होता है, और जो इसको सूंघूं, इसको देखूं, इत्यादि ज्ञानवाला है वह जीवात्मा है और उस गन्ध के ग्रहणार्थ घ्राणेन्द्रिय, भाषणार्थ वागिन्द्रिय और श्रवणार्थ श्रोत्रेन्द्रिय है और जो इसका मनन करूं यह जानता है वह आत्मा है, इस आत्मा का मन ही दिव्यचक्षु है, यह जीवात्मा इस दिव्य-

चक्षुरूप मन से ही इन कामनाओं को देखता हुआ उनमें रमण करता है, फिर प्रजापति बोले कि जो विद्वान् ब्रह्मलोक में परमात्मा की उपासना करते हैं उन्हीं को सब कामनायें प्राप्त होती हैं अर्थात् मुक्त पुरुष ही सब कामनाओं को प्राप्त होता है जो परमात्मा को खोजकर जानता है, मुक्त पुरुष का यह महत्व है कि वह ब्रह्म को प्राप्त होकर स्वेच्छाचारी होजाता है और ब्रह्म को सर्वव्यापक जानकर इस निश्चय वाला होता है कि जो पूर्ण परमात्मा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्यापक है वही मेरे हृदय में विराजमान है, इस भाव को पूर्ण रीति से जानता हुआ पवित्रान्तःकरण पापवासनाओं को सर्वथा त्यागकर शुद्ध होजाता है अर्थात् जिसप्रकार घोड़ा अपने लोमों को कम्पाकर निर्मल होजाता है और जैसे चन्द्रमा राहु के मुख से निकलकर निर्मल होजाता है इसी प्रकार मुक्त पुरुष पापों से छूटकर कृतार्थ हुआ यह अनुभव करता है कि ब्रह्म ही नाम रूप का प्रकाशक है और वह नाम रूप जिसके मध्य में वर्त्तमान हैं वह ब्रह्म है, वही अमृत और वही सम्पूर्ण जगत् में व्यापक सबका आत्मा ब्रह्म है, हे परमात्मन् ! मैं आपकी कृपा से ही मुक्त पुरुषों की सभा को प्राप्त होऊं, यशस्वी होऊं, ब्राह्मणों के मध्य यश को प्राप्त होऊं, क्षत्रियों के मध्य यश को प्राप्त होऊं वैश्यों के मध्य यश को प्राप्त होऊं और यशस्वियों के बीच यशस्वी होऊं, हे मुक्ति दाता परम पिता परमात्मन् ! आप ऐसी कृपा करें कि मैं बारम्बार जन्म मरण को प्राप्त न होकर एकमात्र आपही की शरण का अवलम्बन करूं यह मेरी आपसे प्रार्थना है।

अब अन्त में इस सम्पूर्ण उपनिषद् का उपसंहार करते हुए महर्षि कथन करते हैं कि जो पुरुष इस संसार के दुःखों से छूटकर उस परमशान्ति को प्राप्त होना चाहे उसका यह कर्तव्य है कि वह नियमानुकूल नियत आयु में आचार्य्यकुल को प्राप्त होकर गुरु की शुश्रूषापूर्वक यथाविधि साङ्गोपाङ्ग वेदों का अध्ययन करके समावर्त्तन संस्कार कर अपने कुटुम्ब में आवे, और गृह में रहता हुआ किसी एकान्त पवित्रदेश में अग्निहोत्रादि कर्मों का नियमपूर्वक पालन करे, क्योंकि इन कर्मों का नियमपूर्वक पालन करने वाला ही पवित्र होता है, जैसाकि गी० १८।५ में भी वर्णन किया है कि:—

यज्ञ दान तपः कर्म न त्याज्यं कार्य्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥

अर्थ–स्वाध्याय तथा सन्ध्या अग्निहोत्रादि यज्ञ, दान और तप=तितिक्षा, इन कर्मों का कदापि त्याग नहीं करना चाहिये, क्योंकि इन कर्मों के करने से पुरुष पवित्र होता है, इसी निश्चय वाला पुरुष धार्मिक होता और उसी की सद्गति होती है, इस प्रकार वैदिककर्म करता हुआ अपनी सन्तति तथा अन्य कुटुम्बियों और इष्ट मित्रादिकों में भी उक्त कर्मों का प्रचार करके उनको भी

धार्मिक बनावे, अपने आत्मा में सब इन्द्रियों को स्थिर कर उनका भलेप्रकार निरोध करे अर्थात् किसी देश काल में भी हिंसा न करता हुआ सब प्राणियों को अभय दान दे, यहां "हिंसा" शब्द सब पापों का उपलक्षण है जिसका आशय यह है कि कोई पाप न करता हुआ अपने को पवित्र करे, या यों कहो कि सदा ही वैदिककर्म करता हुआ अपनी आयु को बितावे, इस प्रकार यावदायुष कर्म करने वाला पुरुष ब्रह्मलोक को प्राप्तहोता है और फिर उसको आवृत्ति=बारंबार श्रवणादि नहीं करने पड़ते अर्थात् ऐसा पुरुष नियतकाल तक मुक्ति का आनन्द भोगता हुआ महाकल्प के पश्चात् फिर संसार में आता है।

यह पूर्वोक्त ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी उपदेश प्रथम ब्रह्मा नामक ऋषि ने महर्षि कश्यप को किया, कश्यप ने मनु को और मनु ने सब प्रजाओं को उक्त ज्ञान का उपदेश किया, जो मनु भगवान् के कथनानुसार अपने जीवन को व्यतीत करते हैं वह संसार में सब प्रकार के ऐश्वर्य्य भोगते हुए अन्ततः उस परमपद को प्राप्त होकर अमृत होजाते हैं, **"नच पुनरावर्त्तते"** पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है अर्थात् उक्त नियमानुसार कर्म करने वाले अवश्य मुक्ति को प्राप्त होते हैं॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे
छान्दोग्योपनिषदार्य्यभाष्ये
अष्टमः प्रपाठकः समाप्तः

समाप्तश्चायं ग्रन्थः

